प्रथमबार, २०००
सन् उन्नीस सौ बत्तीस
मूल्य एक रुपया

मुद्रक
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य-प्रेस,
अजमेर।

विषय सूची

अपनी ओर से—

बुद्ध, महावीर, ईसा, शंकर, मुहम्मद, रामदास, दयानन्द आदि जितने भी मनुष्य जाति के पथ-प्रदर्शक हुए हैं, उन सबने ऐसा ही प्रयत्न किया जिससे मनुष्य-जाति सुखी हो सके। जितने धर्मग्रन्थ हैं, जितने नीतिग्रन्थ हैं, जितने भी ईश्वर-प्रोक्त या ऋषि-प्रोक्त ग्रन्थ हैं, उन सबमें ऐसे-ऐसे उपदेश और आदेश हैं कि यदि मनुष्य-समाज उनपर चले तो वह अवश्य सुखी हो जाय। फिर भी मनुष्य-समाज क्यों दुःखी है? धर्म का इतना उपदेश होते हुए भी, संसार में अधर्म इतना क्यों है? नीति का इतना उपदेश होते हुए भी जगत् में इतनी अनीति क्यों है? जब सारे महापुरुष और सारे धर्म यही कहते रहे हैं कि, दूसरों की आत्मा को अपने समान समझो, पड़ोसी से प्रेम करो, विश्व को कुटुम्ब-वत् समझो, तो क्यों सदा ही मनुष्य-समाज इसके विपरीत आचरण करता रहा है, एक-दूसरे पर अत्याचार करता रहा है, पड़ोसियों को लूटता रहा है, और विश्व में मानव-जाति के संहार के लिए सेना और शस्त्रास्त्र में वृद्धि करता रहा है। जब सारे धर्मों, नीतियों और दर्शनों का यही सार है कि, निर्लोभ निःस्वार्थ, अहिंसक, सत्याचारी दयालु, परोपकारी, सर्वस्व-त्यागी, निरभिमानी, पाषण्ड रहित रहो, तो क्या कारण है कि मनुष्य आज इतने लोभी, हिंसक, स्वार्थी, असत्याचारी, निर्दय, परस्वापहारी, सर्वसंचयी, दुरभिमानी, पाषण्डपूर्ण हैं। जब सारे समाज-सुधारक यही कहते रहे हैं कि संसार में चोरी, डकैती,

धोखेबाज़ी, जालसाज़ी क़तल रिश्वतखोरी मिट जाय, तो क्यों निरन्तर इनकी संख्या बढ़ती जा रही हैं, और हमारे क़ानून, न्याय, अदालत, जेल सब व्यर्थ हो रहे हैं ?

हमें मानना पड़ेगा कि हमारे समाज में ही कोई मौलिक दोष आ गया है, जिससे यह उलटा परिणाम हुआ है—सुख के स्थान पर दुःख, नीति के स्थान पर अनीति, प्रेम के स्थान पर स्वार्थ। समाजवादी कहते हैं कि वह मौलिक दोष है, प्रकृति-प्रदत्त सम्पत्ति, और भूत-वर्तमान के सारे मनुष्य-समाज की श्रमार्जित सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का होना। इस पुस्तक में यही बताया गया है कि जो जो सम्पत्ति आज व्यक्ति की मानी जाती है, वह वास्तव में उसकी नहीं, वह सबकी सम्मिलित है। समाजवादियों का कथन है कि इस एक सिद्धान्त के परिवर्तन से ही मनुष्य-समाज की कायापलट हो जायगी। वर्तमान के स्वार्थ और लोभ, निर्दयता और धोखेबाज़ी न रहेंगी। सब भावनायें और मनोवृत्तियाँ ही बदल जायँगी।

भारतीय रामराज्य और सुराज्य की कल्पना क्या है ? यही, कि उस व्यवस्था में, कोई चोरी न करेगा, कोई डकैती न करेगा, कोई असत्य न बोलेगा, कोई मद्यपान न करेगा, कोई किसीका घात न करेगा। कोई किसीको कटु वचन न कहेग, सब एक-दूसरे से प्रेम करेंगे। अतिथियों का सदा स्वागत होगा, जिससे जो चीज माँगी जायगी वह प्रसन्नता से देगा, कोई निर्धन और भूखा, नंगा बे घर न होगा, घरों में ताले तक न लगेंगे, किसी की पड़ी हुई या भूली हुई चीज़ कोई न उठायेगा। सब विद्वान होंगे, नाना कला-कुशल होंगे। कोई रोग से पीड़ित न होगा, सब

स्वस्थ और सुन्दर होंगे। ईतिभीति, दुष्काल न होंगे। सब ब्रह्मचारी या संयमाचारी होंगे। प्रत्येक व्यक्ति धर्मात्मा होगा। उस समय का मानसिक विकास इतना ऊँचा होगा कि अधिकांश लोग ऋषि या ऋषि-तुल्य विचारक होंगे। मनुष्य प्रकृति का पूर्ण आनन्द लेंगे। सब स्वतन्त्र और सुखी होंगे। कला, विद्या, विज्ञान और अध्यात्म की पूर्ण उन्नति होगी। धर्मग्रन्थों का यही रामराज्य है, पौराणिकों का यही सतयुग और स्वर्ग है, नीतिग्रन्थों का यही सुराज्य है, समाज सुधारकों का यही आदर्श समाज है, और समाजवाद के तत्त्व-वेत्ताओं का यही भावी मनुष्य-समाज है। इसी आदर्श का प्रतिपादन इस पुस्तक में किया गया है। इस पर जो शंकायें और आशङ्कायें हैं उनके निवारण का प्रयत्न भी पुस्तक में किया गया है।

समाजवादियों के अनुसार, समाजवाद एक बड़ा ऊँचा आदर्श है। अभी तक तो वह कल्पना में ही है। रूस का साम्यवादी राज्य भी समाजवाद नहीं है। समाजवादियों का कहना है कि जबतक महान्-महान् साम्राज्य और पूँजीवाद क़ायम हैं, जबतक अधिकाँश भूमण्डल पूँजीवाद और सेनावाद के अत्याचारों से पीड़ित है, तबतक पूर्ण समाजवाद कहीं व्यवहार में नहीं आ सकता। रूस के साम्यवाद को तो अधिक-से-अधिक राजकीय साम्यवाद (State-socialism) ही कह सकते हैं। फिर भी समाजवादी यह विश्वासपूर्वक कहते हैं कि समाजवाद केवल कल्पना नहीं है, पूर्णत. व्यवहार-योग्य भी है। वह समय आनेवाला है जब संसार भर में व्यक्तिगत पूँजीवाद और उसके साथी सेनावाद और साम्राज्यवाद न रहेंगे, सर्वत्र समाजवाद ही होगा।

क्रोपाटकिन ने इस पुस्तक को यूरोप में, यूरोपवादियों के लिए ही

लिखा था, इसलिए इस ग्रन्थ में यूरोप की ही रीति-नीतियों और यूरोप की अवस्था के ही उदाहरण हैं। फिर भी, उसके तत्व-तत्त्व तो हमारे देश में भी उपयोगी हो सकते हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ का यह अनुवाद प्रकाशित किया जाता है। जो अंश ऐसे थे जिनमें केवल यूरोप की अवस्था का ही वर्णन था और उनसे भारतीय जनता को अधिक लाभ न था, वे अनुवाद करते समय छोड़ दिये गये हैं। परन्तु उपयोगी अंश कोई नहीं छोड़ा गया है।

इस पुस्तक में यूरोप की सर्दी का, वहाँ के मकानों में नकली गरमी पहुँचाने का, वहाँ की ऋतु विशेषों में विशेष विशेष फ़सलों का, और कृषी में नकली गरमी पहुँचाने के प्रयोगों आदि का वर्णन है। कहीं-कहीं मांसाहार का भी वर्णन है। उनको पढ़ते समय पाठक यूरोप की अवस्था का अवश्य ध्यान रक्खें। इसमें दिये हुए अंक भी सन् १९१२ के पहले के हैं।

लेखक की एक बात से हमें मतभेद है। उसे हम प्रकट भी कर देना चाहते हैं। वह है उद्योगवाद (Industrialism)। समाजवादियों में भी कई विचारकों का ख़याल है कि समाजवाद की अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज का-सा न रहेगा। इसलिए, वर्तमान के बड़े-बड़े कारख़ाने न रहेंगे। हाँ सामाजिक या व्यक्तिगत उपयोग के छोटे-छोटे व्यवसाय या छोटे छोटे यन्त्र रहेंगे। आजकल के युद्ध और व्यापार-सम्बन्धी बड़े-बड़े जहाज़, हवाई जहाज़, रेल और कारख़ाने न रहेंगे। परन्तु क्रोपाटकिन ने प्रत्येक कार्य के लिए, यहाँ तक कि घरेलू कार्यों तक के लिए, यन्त्रों के उपयोग का वर्णन किया है। जब मनुष्य-श्रम का व्यर्थ नाश न होगा; जब उत्पादकों अर्थात् श्रमकर्ताओं की संख्या बढ़ जायगी और लोगों के पास

समय काफ़ी रहेगा, तो हाथ से दस्तकारी करने में ही अधिक आनन्द आयगा। बड़ी मशीनों से काम न लिया जायगा। हाँ, जनसंख्या की वृद्धि का सवाल हो सकता है। परन्तु वह तो समाजवाद के स्थापित होने के कई पीढ़ियों बाद का सवाल होगा। अभी पृथ्वी पर निवास-योग्य भूमि बहुत पड़ी हुई है। क्रोपाटकिन जैसे महान् विचारकों के मत से भेद प्रकट करना है तो दुःसाहस; परन्तु बड़े विचारकों के सारे ही अनुमान सदा ही सही नहीं होते, और छोटे विचारकों का अनुमान भी सही निकल सकता है, इस दृष्टि से हमने अपना विनम्र मतभेद प्रकट कर दिया है। और, हम अपने विचार के अकेले ही नहीं हैं। महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति भी यही सम्मति रखते हैं। समाजवादियों में भी ऐसे विचारक हैं।

इसके अतिरिक्त कई बातें, जो आजकल के समाजवादियों के विषय में कही जाती हैं, परन्तु इस पुस्तक में उनका वर्णन नहीं है, वह हैं— निरीश्वरवाद, हिंसावाद और विवाह-विरोध। आजकल के समाजवाद के प्रचार में ये प्रमुख हैं; परन्तु इस पुस्तक में क्रोपाटकिन ने इनका समर्थन नहीं किया है, इसलिए इनके विषय में हमें कुछ कहना नहीं है। हमारा कथन इतना ही है, कि समाजवाद का भारतीय अवतार भारतीय परिस्थिति के अनुकूल, भारतीय आदर्शों के अनुकूल, और भारतीय वेश में ही होना चाहिए।

परन्तु मतभेद के होते हुए भी हम क्रोपाटकिन के प्रशंसक हैं। पुस्तकान्तर्गत उसके विचार सारे जीवन के निरीक्षण अध्ययन और मनन के फल हैं।

क्रोपाटकिन रूस के सरदारों में से थे। वह अपने विचारों के कारण

पहले-पहल, तो यह आक्षेप बहुत गंभीर प्रतीत होता है। किन्तु मानव-इतिहास पर ज़रा अधिक ध्यान से विचार करने पर इसमें कुछ तथ्य मालूम नहीं होता। प्रथम तो हम देखते हैं कि करोड़ों मनुष्यों ने ग्राम-पंचायतों के रूप में सैकड़ों वर्ष से समाजवाद के एक प्रधान तत्त्व की सफलता-पूर्वक रक्षा की है। वह इस प्रकार, कि उत्पत्ति का मुख्य साधन अर्थात् जमीन सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मानी जाती है, और भिन्न भिन्न कुटुम्बों का जितना परिश्रम करने का सामर्थ्य होता है ज़मीन के उतने ही भाग उन्हें सौंप दिये जाते हैं। हम यह भी देखते हैं कि पश्चिमी यूरोप में भूमि के सार्वजनिक स्वामित्व का नाश किसी भीतरी दोष के कारण नहीं हुआ है, प्रत्युत बाहर के आक्रमण से हुआ है। वहाँ शासकों ने उमरावों और मध्यम श्रेणी के लोगों का ज़मीन पर एकाधिकार कर दिया। दूसरी बात यह विदित होती है। कि मध्यकालीन नगर अपने यहाँ लगातार कई शताब्दियों तक उत्पत्ति और व्यापार पर एक प्रकार से समाजवादी संगठन बनाये रहे। इस काल में बौद्धिक, औद्योगिक और कला-सम्बन्धी उन्नति भी शीघ्र गति से हुई। और इन साम्यवादी संस्थाओं का ह्रास कैसे हुआ? इसीसे कि लोगों में शहर और गाँव, किसान और नागरिक की शक्तियों का इस प्रकार संयोग करने की योग्यता नहीं थी कि वे मिलकर सेनावादी राज्यों की वृद्धि का सामान कर सकते। इन राज्यों ने ही उन स्वाधीन नगरों को नष्ट किया।

तो इस तरह समझने पर मानव-इतिहास से साम्यवाद के विरुद्ध दलील नहीं मिलती। प्रत्युत यह दिखाई देता है कि किसी न किसी प्रकार का साम्यवादी संगठन स्थापित करने का प्रयत्न बराबर होता रहा है। इस प्रयत्न को यत्र-तत्र थोड़ी-बहुत सफलता भी कुछ समय तक मिली है। इससे हमें अधिक-से-अधिक यही नतीजा निकालने का अधिकार है कि मनुष्य को अभी तक साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर कृषि का द्रुत-गति से बढ़ते हुए उद्योग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ योग करने की

विधि मालूम नहीं हुई है। इस प्रकार के व्यापार से तो उलटी गड़बड़ होती है, क्योंकि अब दूरवर्ती व्यापार और निर्यात से केवल व्यक्ति ही धनवान नहीं बनते, बल्कि राष्ट्र के-राष्ट्र अनुचित लाभ उठाते हैं। खराबी बेचारे उन देशों की है जो औद्योगिक विकास में पीछे रह जाते हैं।

यह हालत अठारहवीं सदी के अखीर से शुरू हुई। किन्तु इसका पूरा विकास हुआ नेपोलियन की लड़ाइयाँ खतम हो जाने पर उन्नीसवें शतक में ही। आधुनिक साम्यवाद को इस स्थिति पर विचार करना ही पड़ता है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि फ्रान्सीसी विप्लव का राजनीतिक अभिप्राय तो था ही, साथ ही उसमें लोगों ने सन् १७९२ और १७९४ में समाजवाद से थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती तीन भिन्न-भिन्न दिशाओं में भी प्रयत्न किया था। प्रथम तो था धन का समान बटवारा करने का। इसके लिए क्रमश बढ़नेवाले आय-कर और उत्तराधिकार कर लगाये गये, ज़मीन को थोड़ी-थोड़ी बाँट देने के लिए प्रत्यक्ष रूप में ज़ब्ती की गई और सिर्फ धनिकों पर भारी-भारी युद्ध-कर लगाये गये। दूसरा प्रयत्न एक तरह का नागरिक साम्यवाद था। उसके द्वारा सबसे ज़्यादा ज़रूरत की वस्तुयें म्युनिसिपैलिटियाँ खरीद लेतीं और उन्हें लागत के दामों पर बेच देतीं। तीसरा प्रयत्न था सब पदार्थों के वाजिब भाव मुक़र्रिर कर देने की विस्तृत राष्ट्रीय प्रणाली जारी कर देना। इन भावों में उत्पत्ति की असली लागत और व्यापार का उचित मुनाफ़ा शामिल करना पड़ता था। कन्वेंशन सरकार ने इस योजना के लिए बड़ी कोशिश की थी, वह उसको पूरा करने में सफल भी हो गई थी, परन्तु शीघ्र ही प्रतिक्रिया प्रबल हो गई।

इस विलक्षण आन्दोलन का अभी तक उचित रूप से अध्ययन नहीं किया गया। इसी आन्दोलन के बीच में आधुनिक साम्यवाद का जन्म हुआ है। लॉयन्स में तो ला'एञ्ज और उसका फ़ोरियर मत उत्पन्न हुआ और

वोनारोटी बेव्यूफ़ और उनके साथियों का सत्तावादी सामाजवाद उत्पन्न हुआ। महान् राज्यविप्लव के तत्काल पश्चात् ही आधुनिक साम्यवाद के सिद्धान्तो के तीन महान् जन्म दाता फोरियर, सेन्ट सायमन और रॉवर्ट ओवेन, तथा गॉडविन (अराजक साम्यवाद) भी प्रकट हुए। और वोनारोटी और बेव्यूफ की समितियों से निकलने वाली गुप्त समाजवादी समितियों ने आगामी पचास वर्ष के लिए तीव्र सत्तात्मक समाजवाद पर अपनी मुहर लगा दी।

तो, हम कह सकते हैं कि आधुनिक साम्यवाद सौ वर्ष का भी नहीं है, और इस सौ वर्ष में से आधे समय तक तो, इसके विकास में केवल दो राष्ट्र, ब्रिटेन और फ्रांस ही, भाग लेते रहे, क्योंकि यही उद्योग-धन्धों में बढे हुए थे। उस समय ये दोनों ही देश नेपोलियन के पंद्रह वर्ष के युद्धों से बुरी तरह ज़ख्मी थे और दोनों ही पूर्व से आनेवाली यूरोपियन प्रतिक्रिया में फँसे हुए थे।

वास्तव में, जब और १८३० की फ्रान्स की क्रान्ति ने, १८३०-३२ के इंग्लैण्ड के सुधार आन्दोलन ने इस भयंकर प्रतिक्रिया को हटाना शुरू कर दिया, तभी सन् १८४८ की क्रान्ति के कुछ वर्ष पहले साम्यवाद पर चर्चा होना सम्भव हुआ। उन्हीं वर्षों में फोरियर, सेन्ट सायमन और रॉबर्ट ओवेन के अनुयायियों ने अपने नेताओं के आदर्शों को कार्यान्वित किया, और तभी आजकल पाये जाने वाले विविध साम्यवादी मतों का रूप निर्धारित हुआ और उनकी परिभाषायें हुईं।

ब्रिटेन में राबर्ट ओवेन और उनके अनुयायियों ने अपनी योजनानुसार ऐसे समाजवादी ग्राम कायम किये जिनमें कृषि और उद्योग साथ-साथ ही हों। बड़े-बड़े सहयोगी संघ इसलिए चालू किये गये कि उनके मुनाफ़े से और भी समाजवादी बस्तियाँ बसाई जायँ। ग्रेट कॉन्सालिडेटेड ट्रेड्स यूनियन (महान् सम्मिलित व्यवसाय-संघ) क़ायम की गई। इसीसे

आगे चल कर आजकल की लेबर पार्टियाँ तथा इन्टरनेशनल वर्किंग-मेन्स-एसोसिएशन, दोनों निकले।

फ्रान्स में फ़ोरियर मत वादी कॉन्सीडरेन्ट ने अपनी प्रसिद्ध विज्ञप्ति प्रकाशित की। उसमे बड़ी सुन्दरता से पूँजीवाद की वृद्धि के वे सब सैद्धान्तिक विवेचन दिये हुए थे, जो आजकल "वैज्ञानिक साम्यवाद" के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राउडन ने अपने राज्य संस्था रहित अराजकवाद और परस्परवाद के विचारों को विकसित कर बताया। लुई ब्लैंक ने अपनी "आरगेनीजेशन आव लेबर" नामक योजना प्रकाशित की, जो बाद में लैसेल का कार्यक्रम ही बन गया। फ्रान्स में वाइडल ने और जर्मनी में लारेञ्ज स्टीन ने क्रमशः १८४६ और १८४७ में दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये, और उनमें कान्सीडरेन्ट के सिद्धान्तों का और भी विकास हुआ। अन्त में वाइडल ने और विशेषकर पेकर ने समष्टिवाद (Collectivism) प्रणाली को ब्यौरेवार विकसित किया। वाइडल की इच्छा थी कि १८४८ की "नेशनल एसेम्बली" (राष्ट्रीयपरिषद्) उस प्रणाली को क़ानून बनाकर स्वीकार कर ले।

परन्तु उस समय की साम्यवादी योजनाओं में एक विशेषता थी, और वह ध्यान में रख लेनी चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में साम्यवाद के जिन तीन जन्मदाताओं ने लेख या ग्रन्थ लिखे, वे उज्ज्वल भविष्य की कल्पना से इतने प्रभावित हुए थे कि उसे नया ईश्वरीय ज्ञान हो समझने लगे, और अपनेको एक नये धर्म के प्रवर्तक मानने लगे। वे साम्यवाद को नया धर्म बनाने लगे और अपने नये मत के सरपरस्त होकर उसकी प्रगति का संचालन करने का विचार करने लगे। इसके अलावा जब फ्रान्स की क्रान्ति के बाद प्रतिक्रिया हुई और क्रान्ति में सफलता की अपेक्षा असफलता अधिक हुई, तो उस समय लेख लिखते हुए उनका साधारण जनता पर विश्वास न था। जिन परिवर्तनों को करना वे आवश्यक मानते थे उनके विषय में वे जनता से कोई अपील

नहीं करते थे। बल्कि, उनका विश्वास था कि एक साम्यवादी नेपोलियन, एक महान् शासक की ज़रूरत है। वह नवीन ईश्वरीय ज्ञान को समझेगा। जब वह उनके सिद्धान्तानुसार चलनेवाले आश्रमों या संघों के सफल प्रयोगों को देखेगा, तो उसे विश्वास हो जायगा कि नवीन ज्ञान अच्छा है; और वह अपनी सत्ता से मनुष्य-जाति को सुख और आनन्द प्राप्त करानेवाली क्रान्ति को शान्ति और सफलतापूर्वक पूर्ण कर देगा। सेनावादी महापुरुष नेपोलियन यूरोप पर राज्य कर ही चुका था, तो ऐसे साम्यवादी महापुरुष की कल्पना भी क्यों न की जाती, जो सारे यूरोप का नेता बनकर नये ज्ञान को वास्तविक जीवन में कार्यान्वित करदे ? ऐसा विश्वास बड़ा गहरा हो गया था और उसने बहुत समय तक साम्यवाद का रास्ता रोका। उसके चिन्ह तो हममें आजकल तक पाये जाते हैं।

१८४०-४८ में जब सब लोगों को मालूम होने लगा कि क्रान्ति समीप ही है, और जब श्रमिक दल वाले मोर्चों (Barricades) पर ही साम्यवादी झण्डा उड़ाने लगे, तब साम्यवादी योजनायें बनानेवालों के दिलों में जनता का विश्वास फिर होने लगा। एक ओर तो उन्हें रिपब्लिकन प्रजातन्त्र में विश्वास होने लगा, और दूसरी ओर स्वेच्छा-संघों में, अर्थात् श्रमजीवियों के अपने-आप अपना संगठन कर लेने की शक्ति में विश्वास होने लगा।

परन्तु इसके बाद फरवरी सन् १८४८ की क्रान्ति आई, मध्यमवर्ग का रिपब्लिक प्रजातन्त्र कायम हुआ और उसके साथ भग्न आशायें भी आईं। रिपब्लिक सरकार की घोषणा के चार मास बाद ही जून में पेरिस के मज़दूरों का विद्रोह खड़ा हुआ, और वह रक्तपात के बाद दबा दिया गया। उसके बाद मज़दूरों का क़तलेआम और बहुत-सी जनता का निर्वासन हुआ, और राज्य की ओर से अचानक जबर्दस्त प्रहार हुआ। साम्यवादियों का भयंकर दमन किया गया, और उनको इस प्रकार छाँट दिया गया कि फिर दस-पन्द्रह वर्ष तक लोग साम्यवाद का नाम ही भूल गये।

साम्यवाद का साहित्य इतना लुप्त हो गया कि जो नाम १८४८ से पहले सुपरिचित थे वे बिलकुल भुला दिये गये। १८४८ से पहले के जितने भी प्रचलित समग्र साम्यवादी विचार थे, उनका नामोनिशान तक इस प्रकार मिट गया कि बाद में जब वे प्रकट हुए तो नये अन्वेषण के समान मालूम हुए।

परन्तु १८६६ के लगभग, जब नवीन जागृति हुई और समाजवाद और समष्टिवाद फिर मैदान में आये, तो मालूम हुआ कि इन दोनों के साधनों के विषय में बड़ा विचार परिवर्तन हो गया है। राजनैतिक प्रजातन्त्रवाद का विश्वास तो हटता जाता था, और जब लन्दन में १८६२ और १८६४ में पेरिस के मज़दूरों और ब्रिटिश-ट्रेड-यूनियनवालों और ओवेन-मत-वादियों की परिषद् हुई, तो जिस मूल-सिद्धान्त पर वे एकमत हुए वह यह था कि "श्रमिकों की स्वतन्त्रता श्रमिक लोगों द्वारा ही प्राप्त की जानी चाहिए।" एक और बात पर भी वे एकमत हुए। वह यह थी कि, स्वयं मजदूर संघों को उत्पत्ति-साधनों पर क़ब्ज़ा करना पड़ेगा, और उत्पत्ति का प्रबन्ध करना पड़ेगा। इस समय फोरियर मत-वादी और परस्पर-वादी 'एसोसिएशन' की फ्रान्स की कल्पना, और राबर्ट ओवेन की 'दि ग्रेट कान्सालिडेटेड ट्रेड्स यूनियन की कल्पना मिलगई। अब वह बढ़ा कर एक 'इन्टरनेशनल वर्किंगमेन्स एसोसिएशन' बना दी गई।

साम्यवाद का यह नवीन जीवन भी थोड़े समय के लिए ही टिका। शीघ्र ही १८७०-७१ का जर्मन-फ्रान्स युद्ध छिड़ गया, और पेरिस के कम्यून-संगठन का विप्लव हुआ। इससे फ्रान्स में साम्यवाद की स्वतन्त्र वृद्धि फिर असम्भव हो गई। परन्तु, इधर तो जर्मनी ने १८४८ के फ्रान्सीसी साम्यवादियों का साम्यवाद, अर्थात् कान्सीडरेण्ट और लुई ब्लैंक के विचार तथा पेकर के सम्मिलित समष्टिवाद के विचार, अपने जर्मन गुरुओं मार्क्स और एन्जेल्स से ग्रहण किये; और उधर फ्रान्स एक क़दम और भी आगे बढ़ा।

मार्च १८७१ में पेरिस ने यह घोषणा करदी कि वह अब फ्रान्स के पिछड़नेवाले भागों के लिए न ठहरेगा, और उसका विचार है कि वह अपने कम्यून में ही अपना साम्यवादी विकास प्रारम्भ कर देगा।

वह आन्दोलन इतने थोडे दिन टिका कि उससे कोई भी निर्णयात्मक परिणाम न हो सका। वह तो पंचायती बनकर ही रह गया। वह कम्यून (पंचायत) की पूर्ण स्वाधीनता के अधिकारों का आग्रह करके ही रह गया। परन्तु पुराने 'इन्टरनेशनल' के मजदूरों ने उसके ऐतिहासिक महत्व को समझ लिया। उन्होंने समझ लिया कि स्वतन्त्र कम्यून (पंचायत) ही एक ऐसा माध्यम होगा, जिसके द्वारा आगे आधुनिक साम्यवाद के विचार कार्यान्वित हो सकेंगे। यह ज़रूरी नहीं समझा गया कि १८४८ से पहले इंग्लैण्ड और फ्रान्स में जिन स्वतन्त्र उद्योग और कृषि के सम्मिलित पंचायती ग्रामों की इतनी चर्चा थी, वे छोटे-छोटे आश्रम या २००० आदमियों के समुदाय ही हों। वे पेरिस की तरह से बड़े-बड़े समुदाय या छोटे छोटे प्रदेश होने चाहिएँ। कहीं कहीं इन्हीं पंचायतों के संगठन मिलकर राष्ट्र बन सकेंगे और यह आवश्यक नहीं कि वे राष्ट्र आजकल की राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर ही रहें (जैसे कि सिंक बन्दरगाह या हंसा नगर थे)। इसके साथ ही पंचायतों के रेल बन्दरगाह आदि परस्पर-सम्बन्धों के लिए श्रमिकों के बडे-बड़े संगठन खड़े हो जायँगे।

इसी प्रकार के कुछ-कुछ विचार १८७१ के बाद विचारशील श्रमिकों में घूमने लगे, विशेषकर लैटिन देशों में। श्रमिक लोगों ने समझा कि, राज्य सारी औद्योगिक सम्पत्ति पर कब्ज़ा करे और राज्य ही कृषि और उद्योग का अपनी ओर से प्रबन्ध करें, इसकी अपेक्षा तो उनके विचारानुकूल किसी संगठन से ही साम्यवाद अधिक सरलता से कार्यान्वित हो सकेगा, हाँ, उसकी सारी तफसीलें उन सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर ही निर्धारित होंगी।

इस पुस्तक में मैंने इन्हीं विचारों को निश्चित रूप में प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

इसे लिखे हुए कई वर्ष गुज़र गये हैं। उनका सिंहावलोकन करने पर मैं अन्तःकरण पूर्वक कह सकता हूँ कि इसके प्रधान विचार सही थे। राजकीय साम्यवाद के प्रचार की सचमुच काफ़ी प्रगति हुई है। राज्य की रेलें' राज्य के बैङ्क,और राज्य का मादक-पदार्थ व्यवसाय यत्र-तत्र स्थापित हो गये हैं। किन्तु स दशा में प्रत्येक कदम पर, चाहे उससे वस्तु विशेष सस्ती हुई हो, मजदूरों के अपने उद्धार के मार्ग में नई बाधा उपस्थित हुए बिना नहीं रही। यही कारण है कि आज मज़दूरों में, विशेषतः पश्चिमी यूरोप में यह विचार दृढ़ होता पाया जाता है कि रेलों जैसी विशाल राष्ट्रीय सम्पत्ति का कार्य संचालन भी राज्य-संस्था की अपेक्षा रेलवे मज़दूरों के सम्मिलित-संघ द्वारा अच्छे ढंग से हो सकता है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि यूरोप और अमेरिका भर में ऐसे असंख्य उद्योग हुए हैं जिनका मुख्य हेतु एक तरफ़ तो यह है कि उत्पत्ति के बड़े-बड़े विभाग स्वयं मज़दूरों के हाथों में आजायँ, और दूसरी तरफ़ यह कि नगर-वासियों के हित के जितने कार्य नगर द्वारा किये जाते हैं उनका क्षेत्र सदा अधिकाधिक विस्तीर्ण होता चला जाय। एक तो, श्रमजीवी संघों की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों का संगठन अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से किया जाय, और उनको केवल मज़दूरों की दशा सुधारने के साधन ही न बनाये जायँ, प्रत्युत उन्हें ऐसे संगठन का रूप दिया जाय जो समय आने पर अपने हाथों में उत्पत्ति की व्यवस्था भी ले सकें। दूसरे, सहयोग उत्पत्ति और विभाजन में और उद्योग और कृषि में, दोनों, दिशाओं में ही सहयोग बढ़ रहा है और आज़मायशी बस्तियों में दोनों प्रकार के सहयोगों को मिलाकर दिखाने की कोशिश की जारही है। तीसरे, नागरिक समाजवाद का अनेक विभिन्नताओं से

परिपूर्ण क्षेत्र भी खुला है। इन दिनों इन्हीं तीन दिशाओं में उत्पादक शक्ति का अधिक-से-अधिक विकास हुआ है।

अलबत्ता, इनमें से किसी एक को किसी अंश में भी समाजवाद या साम्यवाद का स्थान नहीं दिया जा सकता। इन दोनों का सामान्य अर्थ ही है उत्पत्ति के साधनों पर सम्मिलित अधिकार। किन्तु इन प्रयत्नों को हमें ऐसे परीक्षण-प्रयोग—अवश्य समझना चाहिए, जिनसे मानवीय विचार-शक्ति साम्यवादी समाज के कुछ व्यावहारिक स्वरूपों की कल्पना करने को तैयार होती है। इन्हीं सब आंशिक प्रयोगों से एक-न-एक दिन सभ्य राष्ट्रों में से किसी की रचनात्मक बुद्धि द्वारा होकर रहेगा। किन्तु जिन ईंटों से यह महान् भवन निर्माण होगा उनके नमूने, बल्कि उसके कुछ कमरों के नमूने भी, मनुष्य की उत्पादक प्रतिभा के विपुल प्रयत्न से तैयार हो ही रहे हैं!

ब्राइटन (इंग्लैण्ड)
जनवरी १९१३

क्रोपाटकिन

रोटी का सवाल

[१]

हमारा धन

१

एक समय ऐसा था जब मनुष्य (चक़मक़) पत्थर के भद्दे औज़ार बनाते थे और शिकार पर गुज़ारा करते थे। वह कभी मिलता, कभी न मिलता। उस समय वे अपनी सन्तान के लिए विरासत में सिर्फ़ चट्टान के नीचे का झोंपड़ा और कुछ टूटे-फूटे बरतन छोड़ जाते थे। प्रकृति उस समय एक विशाल, अज्ञात, और डरावनी वस्तु थी। उससे उन्हें अपने दुखी जीवन के लिए घोर संग्राम करना पड़ता था। परन्तु ये बहुत पुराने ज़माने की बातें हैं। मानव-जाति तब से बहुत आगे बढ़ गई है।

उस अतीत काल के पश्चात अशान्ति के अनेक युगों का जो क्रम बीता है, उसमें मनुष्य-समाज ने अवर्णनीय सम्पत्ति सम्पादन करली है। जमीन साफ़ कर ली गई है। दलदल सुखा लिये गये हैं। जंगल कट गये हैं। सड़कें बन गई हैं। पहाड़ों के बीच में मार्ग निकाल लिये गये हैं। विविध प्रकार की पेचीदा मशीनें (कलें) तैयार होगई हैं। प्रकृति के रहस्य खोज निकाले गये हैं। भाफ और बिजली को वश में करके सेवक बना लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि आज सभ्य मानव-समाज को जन्म लेते ही अपने उपयोग के लिए पूर्वजों की अतुल संचित पूंजी उपलब्ध हो जाती है। यह पूंजी इतनी अधिक है कि मनुष्य यदि

अपने परिश्रम के साथ दूसरों के परिश्रम का सहयोग लेकर इससे काम ले तो उसे इतना धन प्राप्त हो जाता है, जिसकी अलिफ़-लैला के किस्सों में कल्पना तक नहीं की गई है।

भूमि दूर-दूर तक साफ कर ली गई है। उसमें उत्तम-से-उत्तम बीज बोया जा सकता है। वह अपने पर व्यय किये गये कौशल और परिश्रम का विपुल पुरस्कार देने को प्रस्तुत रहती है। इस पुरस्कार से मानव-समाज की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। विवेक-पूर्ण कृषि की विधियाँ मालूम हो चुकी हैं।

अमेरिका के विशाल मैदानों में शक्तिशाली मशीनों की सहायता से सौ आदमी कुछ मास में इतने गेहूँ पैदा कर सकते हैं जिसे दस हजार मनुष्य एक वर्ष तक खाते रहें। जहाँ मनुष्य अपनी पैदावार को दुगुना, तिगुना या चौगुना भी बढाना चाहता है, तो वह जमीन को वैसी ही तैयार कर लेता है, प्रत्येक पौधे पर उतना ही ध्यान देता है, और इस प्रकार खूब माल पैदा कर लेता है। पुराने जमाने का शिकारी जब कहीं पचास साठ मील भटकता था, तब कहीं उसके कुटुम्ब को भोजन मिलता था। आधुनिक मनुष्य के घर का गुज़ारा उसके सहस्रांश स्थान में, बहुत कम मेहनत करके, और कहीं अधिक निश्चिन्तता के साथ, हो जाता है। जल-वायु की बाधा तो रही ही नहीं। यदि सूर्यदेव रूठ जाँय तो कृत्रिम गरमी से काम ले लिया जाता है। इतना ही नहीं, अब तो ऐसा समय आता दिखाई दे रहा है, जब खेती के प्रयोजन के लिए कृत्रिम प्रकाश का उपयोग किया जायगा। इतना तो अब भी होता है कि काँच और गरम पानी के नलों के प्रयोग से निश्चित स्थान में नैसर्गिक तौर पर जितनी पैदावार होती है, उससे दसगुनी और पचास-गुनी पैदावार तक कर ली जाती है।

उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में जो बड़ी-बडी सफलतायें प्राप्त हो चुकी हैं वे और भी विलक्षण हैं। आधुनिक मशीनों को ही लीजिए जो अधिकांश में अज्ञात आविष्कारकों की तीन-चार पीढ़ियों के परिश्रम का फल हैं। वे

तो बुद्धिमान सविवेक प्राणी की भाँति काम करती है। उनके सहयोग से आजकल सौ आदमी दस हज़ार मनुष्यों के दो वर्ष तक पहनने योग्य कपड़ा तय्यार कर लेते हैं। कोयले की सुव्यवस्थित खानों में सौ खनिकों की मेहनत से हर साल इतना कोयला निकल आता है कि दस हज़ार कुटुम्बों को सरदी के दिनों में गरम रक्खा जा सके। हाल ही में, एक और अजीब दृश्य देखने में आने लगा है। वह यह कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनियों के अवसर पर कुछ मास में ही शहर के शहर बस जाते हैं। उनसे राष्ट्रों के नियमित कार्य में जरा-सी बाधा भी नहीं पड़ती।

भले ही उद्योग-धन्धों में या कृषि में—नहीं, नहीं, हमारी सारी सामाजिक व्यवस्था में—हमारे पूर्वजों के परिश्रम और आविष्कारों का लाभ मुख्यतः मुट्ठी भर लोगों को ही मिलता हो, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि फ़ौलाद और लोहे के प्रस्तुत जीवों की मदद से साधारण मानव-जाति के प्रत्येक अंग के लिए सुख और वैभव की प्रचुर सामग्री उत्पन्न हो चुकी है।

वस्तुतः हम सम्पन्न हो गये हैं। हमारी सम्पत्ति,हम जो समझते हैं उससे कहीं ज़्यादा है। जितनी सम्पत्ति हमारे अधिकार में आचुकी वह भी कम नहीं है। उससे अधिक वह धन है जो हम मशीनों-द्वारा पैदा कर सकते हैं। सबसे अधिक धन वह है जो हम अपनी भूमि से, विज्ञान से और कला-कौशल के ज्ञान से उपार्जन कर सकते हैं, बशर्ते कि इन सब साधनों का उपयोग सबके सुख के लिए किया जाय।

२

हमारा सभ्य समाज धनवान है। फिर अधिकांश लोग ग़रीब क्यों हैं? सर्वसाधारण के लिए वही असह्य यन्त्रणायें क्यों? जब चारों ओर पूर्वजों की कमाई हुई सम्पत्ति के ढेर लगे हुए हैं, और जब उत्पत्ति के इतने ज़बरदस्त साधन मौजूद हैं, कि कुछ घण्टे रोज़ मेहनत करने से ही सबको निश्चित-रूप से सुख-सुविधा प्राप्त हो सकती है, तो फिर अच्छी-से-

अच्छी मज़दूरी पानेवाले श्रमजीवी को भी कल की चिन्ता क्यों बनी रहती है ?

समाजवादियों ने इस बात को कहा और बिना थके बार बार दोहराया है। आज भी इसी तरह पुकार-पुकार कह रहे है और तमाम शास्त्रों के प्रमाण दे-देकर इसे सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि यह दारिद्रय और चिन्ता इस कारण है कि उत्पत्ति के सब साधन—ज़मीन, खानें, सड़कें, मशीनें,खाने-पीने की चीजें, मकान, शिक्षा और ज्ञान-सब थोडे-से आदमियों ने हस्तगत कर लिये हैं। इसकी बड़ी लम्बी दास्तान है। वह लूट, देश निर्वासन, लडाई, अज्ञान, और अत्याचार की घटनाओं से परिपूर्ण है। मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की, उससे पहले उसका जीवन-क्रम यही तो था। दूसरा कारण यह भी है कि प्राचीन स्वत्वों की दुहाई देकर ये थोडे-से आदमी मानवीय परिश्रम के दो-तृतीयांश फल पर कब्ज़ा जमाये बैठे है, और उसे अत्यन्त मूर्खता एवं लज्जापूर्ण ढग से बरबाद करते है। इस सर्वव्यापी दु ख का तीसरा कारण यह है, कि इन मुट्ठीभर लोगों ने सर्वसाधारण की ऐसी दुर्दशा कर दी है कि उन बेचारों के पास एक महीने क्या, एक सप्ताह भर के, गुज़ारे का सामान भी नहीं रहता, इसलिए ये लोग उन्हें काम भी इसी शर्त पर दे सकते हैं कि जिससे आय का बडा हिस्सा इन्हीं को मिले। चौथा कारण यह है कि ये थोडे-से मनुष्य बाकी लोगों को उनकी आवश्यकता के पदार्थ भी नहीं बनाने देते, और उन्हें ऐसी चीजें तैयार करने को बाध्य करते है जो सब के जीवन के लिए जरूरी न हों, बल्कि जिनसे एकाधिकार-धारियों को अधिक-से-अधिक लाभ हो। बस इसी में समाजवाद का सार-सर्वस्व है।

किसी सभ्य देश को लीजिए। इसमें जहाँ पहले जंगल और दलदल भरे पड़े थे, वहाँ अब साफ़-सुथरे मैदान और स्वच्छ जल-वायु है। वह देश रहने लायक़ बन गया है। जहाँ पहले भूमि पर छोटे-मोटे वनस्पति-मात्र पैदा होते थे, वहाँ अब बहुमूल्य फ़सलें होती हैं। पहाड़ों की घाटियों

में चट्टानों की दीवारें काट-काट कर चबूतरे बना लिये गये हैं और उनपर अंगूर की बेलें लगा दी गई हैं। जिन जंगली पौधों पर पहले खट्टे बेरों और अखाद्य कन्दमूल के सिवाय कुछ नहीं लगता था, उनकी वर्षों संस्कार करके क़ायापलट कर दी गई है। आज वे ताज़ी तरकारियों और स्वादिष्ट फलों से लदे रहते हैं। हज़ारों सड़कों और रेलवे लाइनों की पृथ्वी-तल पर धारियाँ-सी पड गई हैं, और पर्वतों के आरपार सुरङ्गें बन गई हैं। आल्पस, काफ़ और हिमालय पर्वतों की निर्जन घाटियों में एंजिन का चीत्कार सुनाई पडने लगा है। नदियों पर जहाज चलने लगे हैं। समुद्र-तटों की भलीभाँति पैमाइश होकर उन्हें सुगम बना लिया गया है। जहाँ ज़रूरत हुई खोदखाद कर उसपर कृत्रिम बन्दरगाह तैयार कर लिये गये हैं, जहाँ जहाज़ों को आश्रय मिलता है और समुद्र का कोप-तूफ़ान भी उनका कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। चट्टानों में गहरी खानें खोद ली गई हैं, और भूगर्भ में ऐसी बारहदरियाँ निर्माण कर ली गई हैं जहाँ से कोयला आदि खनिज पदार्थ निकाले जा सकें। राजमार्गों के चौराहों पर बड़े-बड़े शहर बस गये हैं, जिनके अन्दर उद्योग, विज्ञान और कला की सब न्यामतें एकत्र कर ली गई हैं।

हमको इस सदी में जो महान् वैभव उत्तराधिकार में मिला है, वह उन लोगों का संचित किया हुआ है, जो पीढियों तक दुःख में ही जिये और दुःख में ही मरे, जिन पर उनके स्वामियों ने अत्याचार और दुर्व्यवहार किये, और जो घोर परिश्रम से ही जर्जरित होकर चल बसे।

सहस्रों वर्षों तक करोडों आदमियों ने जंगलों को साफ़ करने, दलदलों को सुखाने, और जल और स्थल-मार्ग बनाने के लिए घोर परिश्रम किया है। जिस ज़मीन पर हम आज खेती करते हैं, उसके चप्पे-चप्पे को मानव-संतान की कई नसलों ने अपने पसीने से सींचा है। प्रत्येक एकड़ पर बेगार, असहनीय मेहनत और सर्वसाधारण के कष्टों की कहानी

लिखी हुई है। रेल-मार्ग के प्रत्येक मील पर, बोगदों (टनेल) के प्रत्येक गज पर मानव-रुधिर की बलि लगी है।

खानों की दीवारों पर आज भी खुदैयों की कुदाली के चिन्ह बाकी हैं! वहाँ के खम्भों के बीच में जो स्थान हैं, वहाँ न जाने कितने मज़दूरों की कब्रें बनी हैं। और, यह कौन कह सकता है कि ऐसी प्रत्येक कब्र में कितने आँसू, कितने उपवास, और कितने अकथनीय दुःख छिपे हुए हैं। ऐसे कितने अभागे परिवार हुए होंगे, जिनका आधार एक मजदूर की थोड़ी-सी मजदूरी पर रहा, और वही भरी जवानी के दिनों खान में आग लगने, चट्टान टूट पड़ने या बाढ़ आजाने से चल बसा हो?

शहरों की बात भी ऐसी ही है। उनका एक-दूसरे से रेल और जल-मार्गों के द्वारा सम्बन्ध बना हुआ है। उन्हें खोद कर देखिए। उनकी तह में एक पर-एक बाज़ारों, घरों नाट्य-शालाओं और सार्वजनिक इमारतों की बुनियादें मिलेंगी। उनके इतिहास खोजिए, आपको विदित होगा किस प्रकार नगर की सभ्यता, उसके उद्योग, और उसके विशेष स्वरूप का क्रमशः विकास हुआ है, और किस प्रकार नागरिकों की पीढ़ियों के सहयोग से उसे आधुनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है। प्रत्येक मकान, कारखाने और गोदाम का मूल्य, जिस प्रकार लाखों भूतपूर्व मज़दूरों की सम्मिलित मेहनत से क़ायम हुआ था, उसी प्रकार आज भी वहां बसनेवाले बहु-संख्यक श्रमजीवियों की उपस्थिति और श्रम से उस मूल्य की रक्षा हो रही है। जो राष्ट्रों की सम्पत्ति कही जाती है, उसके प्रत्येक परमाणु का महत्व इसी में तो है कि वह एक महान् वस्तु का अंश है। यदि लन्दन का एक जहाजी अड्डा या पेरिस का एक बड़ा माल-गोदाम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इन महान् केन्द्रों में न हो, तो उसका महत्व ही क्या होगा? यदि जल और स्थल-मार्ग से नित्य लाखों-करोड़ों रुपये का माल एक स्थान से दूसरे स्थान को न भेजा जाय; तो खानों, कारखानों, और रेलों की क्या दशा हो?

जिस संस्कृति पर हमें आज गर्व है उसके निर्माण में करोड़ों मानव-

प्राणियों का हाथ रहा है और करोड़ों मनुष्य पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में इसे बनाये रखने के लिए परिश्रम कर रहे हैं। उनके बिना पचास वर्ष में ही खंडहर के सिवाय कुछ भी बाक़ी नहीं रह सकता।

एक भी विचार, एक भी आविष्कार, जिसका उदय अतीत काल में हुआ हो या वर्तमान में, ऐसा नहीं है जिसे सबकी सम्पत्ति न कहा जा सके। ऐसे हज़ारों ज्ञात और अज्ञात आविष्कारक हुए हैं, जो बेचारे दरिद्रता में ही मर गये, किन्तु उन्हीं के सहयोग से ये मशीनें निकली हैं जिन्हें आज मानवीय प्रतिभा की मूर्ति कहा जाता है।

सहस्रों लेखकों, कवियों एवं विद्वानों ने परिश्रम करके ज्ञान की वृद्धि, दोष-निवारण और वैज्ञानिक विचार के वातावरण की रचना की है, जिसके बिना इस शताब्दी की अद्भुततायें असम्भव थीं। और स्वयं इन हज़ारों तत्त्ववेत्ताओं, कवियों, विद्वानों, एवं आविष्कारकों को पिछली सदियों के परिश्रम का सहारा मिला है। क्या भौतिक और क्या मानसिक, इनके जीवन का आधार और पोषण तो सब प्रकार के बहु-संख्यक श्रमजीवियों और कारीगरों से ही प्राप्त हुआ है। उन्हें प्रेरणा तो आसपास की परिस्थिति से ही हुई है।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार के सारे पूंजीपतियों की अपेक्षा नवीन दिशाओं में उद्योगों का विस्तार वैज्ञानिकों की प्रतिभा के कारण अधिक हुआ है। किन्तु प्रतिभाशाली पुरुष भी तो उद्योग और विज्ञान की ही सन्तान हैं। जबतक हज़ारों भाप के एंजिन सबकी आँखों के सामने वर्षों तक चल न चुके थे, और उनके द्वारा ताप संचालक-शक्ति में, और संचालक-शक्ति, शब्द, प्रकाश और विद्युत में, बराबर परिणत नहीं होने लगी थी, तबतक प्रतिभा यन्त्र-शक्ति के उद्गम-स्थान की और भौतिक शक्तियों की एकता की घोषणा ही कहां कर सकी थी? और, यदि उन्नीसवीं सदी के हम लोगों की समझ में यह विचार आगया है और इसका करना भी जान गये हैं, तो इसका कारण भी यही है कि रोज़मर्रा के तजुर्बे ने हमारा रास्ता साफ़ कर दिया था। यह विचार तो अठारहवीं शताब्दि के विचारकों की

समझ में भी आगया था, और उन्होंने इसे प्रकट भी कर दिया था। परन्तु इसका विकास इसलिए नहीं हो पाया था कि हमारे युग की भांति उस समय वाष्प-यन्त्र की इतनी प्रगति नहीं हुई थी। यदि बाष्प-यन्त्र के आविष्कारक वॉट को ऐसे चतुर कारीगर न मिलते जो उसकी कल्पनाओं को धातु में ढाल सकते थे, यदि वे उसके एंजिन के सब पुरज़ों को सम्पूर्णता का रूप न दे सकते तो क्या आज भाप को यन्त्रजाल में बन्द करके उसे घोड़े से भी अधिक आज्ञाकारी और पानी से भी ज़्यादा सरल बनाया जा सकता था? क्या आधुनिक उद्योग-धन्धों में यह क्रान्ति हो सकती थी?

प्रत्येक यन्त्र का यही इतिहास है—वही रातों जागना, वही दरिद्रता, वही निराशाएं, वही हर्ष और वही अज्ञात मज़दूरों की कई पीढ़ियों द्वारा किये गये आंशिक सुधार, जिनके बिना अधिक-से-अधिक उर्वरा कल्पना-शक्ति बेकार ही सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। प्रत्येक नया आविष्कार एक योग है—ऐसे असंख्य आविष्कारों का परिणाम है, जो यन्त्र शास्त्र और उद्योग-धन्धों के विशाल-क्षेत्र में उससे पहले हो चुके हैं।

विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, आविष्कार और व्यावहारिक सफलता, मस्तिक और हाथ का कौशल, मन और स्नायु का परिश्रम, ये सब साथ-साथ काम करते हैं। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रगति और मानव-सम्पत्ति मे प्रत्येक वृद्धि भूत और वर्तमान काल के सम्मिलित शारीरिक और मानसिक श्रम का फल होती है।

फिर किसी को क्या अधिकार है कि वह इस सम्पूर्ण वस्तु का एक कड़ा भी छीन कर यह कह सके, कि यह तो मेरा है, तुम्हारा नहीं?

(३)

परन्तु मानव-इतिहास में जो अनेक युग बीते हैं, उनमें बात यह हो गई है कि जिन साधनों से मनुष्य सम्पत्ति बढाता है और अपनी उत्पादक शक्ति बढ़ाता हैं, वे सब थोडे से लोगों ने छीन लिये हैं। आज यह

हाल है कि ज़मीन का असली मूल्य तो है बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं के कारण, परन्तु वह है ऐसे मुट्ठी भर आदमियो के अधिकार में, जो उस पर जन साधारण को या तो खेती करने ही नहीं देते, और करने भी देते है तो आधुनिक ढंग से नहीं करने देते। खानों की भी ऐसी ही बात है। वे बनी तो हैं कई पीढियो के परिश्रम से और उनका सारा महत्व भी राष्ट्र-विशेष की औद्योगिक आवश्यकताओं और जनसख्या की अधिकता से ही है, परन्तु उनपर आधिपत्य है थोड़े-से व्यक्तियों का। और यदि इन व्यक्तियों को अपनी पूंजी लगाने के लिये दूसरे अधिक लाभदायक क्षेत्र मिल जाते हैं, तो या तो ये कोयला निकालना ही बन्द कर देते हैं या थोड़ा निकालने लगते हैं। मशीने भी इन अल्प संख्यक आदमियों के एकाधिकार में आ गई है। यद्यपि किसी भी मशीन के प्रारम्भिक भद्दे स्वरूप में क्रमश: जितने सुधार हुए है, वे सब तीन-चार पीढियों से काम करने वाले मज़दूरों के किये हुए हैं, तो भी उसके मशीन के एकमात्र स्वामी ये थोड़े-से लोग ही रहते हैं। बात यहाँ तक बढ़ गई है कि जिस आविष्कारक ने एक शताब्दि पूर्व गोटा बनाने की पहली मशीन बनाई थी, आज यदि उसी की सन्तान गोटे के कारखाने में जाकर अपने स्वत्व का दावा करे, तो उन्हें भी कह दिया जायगा "दूर रहोजी, यह मशीन तुम्हारी नहीं है"। वे यदि उस मशीन को लेने का प्रयत्न करेंगे तो उन्हें गोली से उड़ा देने में संकोच नहीं किया जायगा।

इसी प्रकार यदि लाखों की आबादी, उद्योग, व्यापार और मण्डियाँ न हों तो रेलवे भी पुराने लोहे की भाँति पड़ी पड़ी सड़ा करें। परन्तु इन पर भी इने-गिने हिस्सेदारों का ही अधिकार है। इन हिस्सेदारों को शायद यह भी मालूम नहीं होता, कि जिन रेलवे लाइनों से उन्हें मध्यकाल के राजाओं से भी ज़्यादा आमदनी होती है, वे है कहाँ-कहाँ? इन रेल-मार्गों को पर्वतों के बीच में होकर खोदते समय हज़ारों मजदूर मृत्यु के शिकार

हुए हैं। अगर किसी दिन इन महानुभावों के सामने उन्हीं मज़दूरों के बच्चे चिथड़े पहने और भूखों मरते हाजिर होकर रोटी का सवाल कर बैठें, तो उन्हें संगीनों और छुरों से जवाब मिलेगा, और 'स्थापित हितों' (Vested ınteıests) की रक्षा के लिए उन्हें तितर बितर कर दिया जायगा।

यह इसी दानवी-पद्धति का तुफैल है कि जब श्रमजीवी-सन्तान जीवन-पथ पर अग्रसर होती है तो जबतक वह अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा मालिक को देना स्वीकार नहीं करती, तबतक न तो उसे खेती करने को खेत मिलता है, न चलाने को मशीन, और न खोदने को खाना उसे अपनी मेहनत थोड़ी-सी और वह भी सन्दिग्ध—मज़दूरी पर बेचनी पड़ती है। उसके बाप दादा ने इस खेत को साफ़ करने, इस कार-खाने को निर्माण करने, और इस यन्त्र को सम्पूर्ण बनाने में अपना लहू-पसीना एक किया था। इस काम में उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगादी थी। इससे अधिक उनके पास और देने को था भी क्या ? परन्तु उन्हीं का उत्तराधिकारी जब संसार में प्रवेश करता है, तो वह अपने आपको जंगली-से-जंगली आदमियों से भी निर्धन पाता है। यदि उसे ज़मीन जोतने की मंजूरी मिलती भी है, तो इस शर्त पर कि पैदावार का एक चतुर्थांश तो वह मालिक के अर्पण करे, और दूसरा चतुर्थांश सरकार और साहूकार के। और सरकार, पूंजीपति, जागीरदार और बीचवाले व्यापारी का लगाया हुआ यह कर सदा बढ़ता ही रहता है। इसके मारे उसके पास अपनी खेती सुधारने की शक्ति क्वचित ही बच रहती है।* यदि वह उद्योग की ओर नजर दौड़ाता है, तो उसे काम मिल जाता है—वह भी सदा नहीं—परन्तु इस शर्त पर कि उत्पत्ति का आधा या दो-तृतीयांश वह ऐसे व्यक्ति को देदे, जिसे दुनिया ने मशीन का मालिक मान रक्खा है।

---

* भारत में तो वह पेट भी नहीं भर सकता।

हम पिछले ज़माने के भूस्वामियों पर तो "शर्म ! शर्म !" पुकारते हैं कि वे किसान से चौथ वसूल किये बिना जमीन पर फावड़ा तक नहीं चलाने देते थे। उस समय को कहा भी जाता है ववंरता का युग। परन्तु रूप भले ही बदला हो, किसान और जमींदार के बीच सम्बन्ध तो वैसा-का-वैसा ही है ! नाम तो है स्वतन्त्र शर्तनामे का, किन्तु उसकी आड़ में मज़दूरों पर भार वही जागीरदारों की सी शर्तों का डाला जाता है। वह कहीं भी चला जाय, उसे तो हर जगह एक-सी स्थिति मिलती है। सब चीजें व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई हैं। या तो इसको स्वीकार करो या भूखों मरो।

इसका परिणाम भी बुरा हुआ। हम चीजें पैदा करते हैं, मगर ग़लत ढंग से, उल्टी दिशा में। उद्योग-धन्धों में समाज की आवश्यकता का ख़याल नहीं किया जाता। उसका एकमात्र उद्देश्य सट्टेबाजों के मुनाफ़े में वृद्धि करना रह गया है। यही कारण है कि व्यापार में सदा उतार-चढ़ाव और समय-समय पर हड़तालें होती रहती हैं। इनमें से एक-एक अवसर पर बीसों हजार मज़दूर बेकार होकर दर-दर भीख माँगने लगते हैं।

बेचारे मज़दूरों को तो इतनी मज़दूरी भी नहीं मिलती कि वे अपनी बनाई हुई चीजें खुद ख़रीद लें। इसीलिए दूसरे राष्ट्रों के धनिक-वर्ग में माल बेचने की कोशिश की जाती है। यूरोप-वासियों को इस तरह विवश होकर पूर्वीय देशों में, अफ़्रीका में, मिश्र में, टांकिङ्ग में या काँगों में, सर्वत्र दासत्व की वृद्धि करनी पड़ती है। यही वे करते हैं किन्तु उन्हें शीघ्र ही पता लग जाता है कि सब जगह एक से ही प्रतिस्पर्धी होते हैं। सब राष्ट्रों का विकास एक ही ढग से होता है। फलत. बाज़ार पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये आये दिन संग्राम लड़ने पड़ते हैं। पूर्व पर अधिकार जमाने के लिए लड़ाई, समुद्र पर साम्राज्य स्थापित करने की ख़ातिर लड़ाई, आयात पर कर लगाने के हेतु लड़ाई, पड़ोसी राष्ट्रों को शर्तों के पाश में बाँधने के निमित्त लड़ाई, विद्रोही 'काली' जातियों को सीधा

करने के लिए लड़ाई, बात-बात में लड़ाई मोल ली जाती है। संसार में तोपों की गर्जना कभी बन्द ही नहीं हो पाती। जातियों की जातियाँ वध कर दी जाती हैं। यूरोप के राष्ट्र अपनी आय का तृतीयांश केवल अस्त्र-शस्त्र पर खर्च कर डालते हैं। और हम जानते हैं कि यह भारी कर-भार सारा-का सारा बेचारे मज़दूरों के सिर पर पड़ता है।

शिक्षा का लाभ भी मुख्यतः मुट्ठी-भर लोगों को ही मिलता है। जब मज़दूरों के बच्चों को दस-बारह वर्ष की आयु से ही खान में उतर कर या खेत पर जाकर अपनी मिहनत से माता-पिता की मदद करनी पड़ती हो, तब उनके लिए शिक्षा की सुविधा कहाँ? जो मज़दूर घोर परिश्रम और उसके पाशविक वायुमण्डल से थक कर शाम को घर लौटता हो, उसके लिए अध्ययन कैसा? इस प्रकार समाज को दो विरोधी दलों में विभक्त रहना पड़ता है। ऐसी हालत में स्वतन्त्रता तो सिर्फ़ कहने की ही वस्तु रह जाती है। सुधारक पहले तो राजनैतिक अधिकारों की वृद्धि की माँग करता है, किन्तु उसे जल्दी ही मालूम हो जाता है कि स्वाधीनता की हवा से ग़रीब लोगों में जान आने लगती है। तब वह पीछे हटता है, अपना मत बदल लेता है और दमनकारी क़ानून और तलवार के शासन का आश्रय लेता है।

फिर इन विशेष अधिकारों की रक्षा के लिए अदालतों, न्यायाधीशों, जल्लादों, पुलिस वालों और जेलरों के बड़े भारी दल की आवश्यकता होती है। इस दल के परिणाम-स्वरूप गुप्तचर-प्रथा, झूठी गवाही, धमकी, और दुराचार (घूसखोरी) आदि की पद्धति का जन्म होता है।

जिस पद्धति के अधीन हम रहते हैं, वह हममें सामाजिक भावना को नहीं पनपने देती। हम सब जानते हैं कि ईमानदारी, स्वाभिमान, सहानुभूति और सहयोग के बिना मानव-जाति भी इसी तरह नष्ट हो जायगी, जिस प्रकार आततायी-पन पर गुज़र करने वाली कुछ पशु-जातियाँ, अथवा दास बनाने वाली चींटियाँ नष्ट हो जाती हैं। किन्तु ऐसे विचार

शासक-वर्ग को अच्छे नहीं लगते। उन्होंने इनके विरुद्ध पाठ पढ़ाने के लिए झूठे शास्त्र के शास्त्र रच डाले हैं।

'जिनके पास कुछ है, उन्हें ऐसे लोगों को हिस्सा देना चाहिए जिनके पास कुछ नहीं है,' इस सूत्र पर व्याख्यान तो बड़े सुन्दर-सुन्दर दिये जाते हैं किन्तु कोई इस सिद्धान्त का अनुसरण करने लगे, तो उसे तुरन्त सूचना दे दी जायगी कि ये मनोहर भाव काव्य के लिए अच्छे हैं, व्यवहार में लाने योग्य नहीं हैं। कहा तो यह जाता है कि 'झूठ बोलना अपने-आपको गिराना और दाग़ लगाना है।' फिर भी सारा सभ्य जीवन एक महान असत्य हो गया है। हम अपने-आपको और अपनी सन्तान को धोखेबाज़ी और दुमुंही नीति के अभ्यस्त बना लेते हैं। किन्तु चूंकि झूठ-ही-झूठ से चित्त अशान्त रहता है, इस कारण हम आत्मवंचना का सहारा लेते हैं। इस प्रकार छल और आत्म-वंचना सभ्य मनुष्य का स्वभाव-सा हो जाता है। परन्तु समाज इस तरह से जीवित नहीं रह सकता। उसे सत्य की ओर जाना पड़ेगा। अन्यथा उसका नाश अनिवार्य है।

इस प्रकार एकाधिकार की मौलिक दुहाई से पैदा हुए परिणाम सारे सामाजिक जीवन में व्याप्त हो जाते हैं। जब मृत्यु सामने दीखने लगती है तब मानव-समाज मूल-सिद्धान्तों का आश्रय लेने को विवश होता है। जब उत्पत्ति का साधन मनुष्यों का सम्मिलित परिश्रम है तो पैदावार भी सब की संयुक्त-सपत्ति ही होना चाहिए। व्यक्तिगत अधिकार न न्याय्य है, न उपयोगी। सब वस्तुएं सबकी हैं। सब चीज़ें सब मनुष्यों के लिए हैं, क्योंकि सभी को उनकी ज़रूरत है, सभी ने उन्हें बनाने में अपनी-अपनी शक्ति-भर परिश्रम किया है और जगत की सम्पत्ति के निर्माण में किसने कितना योग दिया है, इसका हिसाब लगाना असम्भव है।

बस, सब पदार्थ सब लोगों के लिए हैं। औज़ारों का विशाल भण्डार विद्यमान है। जिन्हें हम यन्त्र या मशीन कहते हैं, वे लोहे के ग़ुलाम हमारी नौकरी में हाज़िर हैं। वे हमारे लिए चीरने और रन्दा करने, कातने

और बुनने, बिगाड़ने और बनाने, और कच्चे माल की अद्भुत् वस्तुएं बना-कर देने के लिए, हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। किन्तु किसी को इनमें से एक भी अपने क़ब्ज़े में करके यह कहने का हक़ नहीं है कि "यह मेरी है, तुम्हें इससे काम में लेना हो तो अपनी पैदावार पर मुझे कर चुकाना होगा"। इसी प्रकार मध्यकालीन भूस्वामियों को भी किसानों से कहने का हक़ नही था कि "यह पहाड़ी, यह गोचर भूमि मेरी है, इस पर से जो एक-एक पूला धान काटो, और जो एक-एक घास की गंजी बनाओ, उसका लगान मेरे हवाले करना होगा।"

सारा धन सबका है। यदि स्त्री और पुरुष सब अपने-अपने वाजिब हिस्से का काम कर दें, तो सब की बनाई हुई चीजों में से उन्हें योग्य भाग पाने का अधिकार है। वह भाग उनके सुख के लिए काफ़ी भी है। अब ये थोथे मन्त्र नही चलेंगे कि 'सब को काम करने का अधिकार है', अथवा 'सबको अपनी अपनी मेहनत का सारा फल मिलना चाहिए'। हम तो यह घोषित करते हैं कि 'सुख पाने का सब को हक़ है, और वह सबको मिलना चाहिए'।

[२]

सब का सुख

१

सबको सुख मिले, यह कोई स्वप्न नहीं है। यह संभव है और मिल सकता है, क्योंकि हमारे पूर्वजों ने उत्पादक-शक्ति को बहुत बढ़ा दिया है।

वस्तुतः, हम जानते हैं कि यद्यपि उत्पत्ति के काम में लगे हुए लोगों की संख्या मुश्किल से सभ्य संसार के निवासियों का एक-तृतीयांश होगी, तथापि वे आज भी इतना माल पैदा कर लेते हैं, जिस से प्रत्येक घर खास हद तक सुखी हो सकता है। हमें यह विदित है कि जो दूसरों की खरी कमाई बर्बाद करने में ही लगे हुए हैं, यदि उन सबको उपयोगी कार्य में अपना अवकाश व्यतीत करने को विवश किया जा सके, तो हमारी उत्पत्ति का परिमाण बहुत बढ़ जाय। इसी प्रकार यह भी मालूम हो चुका है कि मानव-जाति की सन्तति-जनन-शक्ति से माल पैदा करने की शक्ति तेज है। भूमि पर मनुष्यों की जितनी घनी बस्ती होगी, उतनी ही उनकी सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति बढ़ेगी।

इंग्लैण्ड में सन् १८४४ से १८९० तक आबादी सिर्फ़ ६२ फ़ी सदी बढ़ी, परन्तु वहाँ की उत्पत्ति कम से कम उससे दुगुनी बढ़ी है, अर्थात् १३० फ़ी सदी। फ्रान्स में आबादी और भी धीरे-धीरे बढ़ी है, परन्तु उत्पत्ति की वृद्धि तो वहां भी बहुत तेज़ ही हुई है। भले वहाँ कृषि को बारबार आप-

त्तिकाल में से गुजरना पड़ा, भले ही वहां राजसत्ता का दखल है, रक्तकर (सेना की अनिवार्य सेवा का नियम) और सट्टेबाज़ी का व्यापार और लेन-देन है, फिर भी पिछले अस्सी वर्षों में गेहूं की उत्पत्ति चौगुनी और औद्योगिक उत्पत्ति दस गुनी बढ़ गई है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) में प्रगति इससे भी अधिक हुई है। यद्यपि विदेशों के लोग वहाँ आ-आ कर बस गये, या ठीक बात तो यह है कि यूरोप के फालतू श्रमिक वहाँ आकर भर गये, फिर भी संपत्ति दस गुनी बढ़ी है।

परन्तु इन आकड़ों से तो केवल इतना-सा अनुमान हो जाता है कि यदि परिस्थिति अच्छी हो जाय तो हमारी सम्पत्ति बहुत अधिक बढ़ सकती है। क्योंकि आजकल तो जहाँ हमारी सम्पत्ति-उत्पादन की शक्ति शीघ्रता से बढ़ी है, वहाँ साथ-ही साथ निठल्ले और बीचवाले लोगों की संख्या भी बहुत अधिक बढ़ी है। समाजवादियों का ख्याल था कि पूँजी धीरे-धीरे थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में ही केन्द्रीभूत हो जायगी और फिर समाज को अपना न्याय्य उत्तराधिकार पाने के लिए केवल उन थोड़े से करोडपतियों की सम्पत्ति ले लेनी पडेगी, परन्तु वास्तव में बात उलटी ही हो रही है। मुफ्त-खोरों का दल निरन्तर बढ़ रहा है।

फ़्रान्स में तीस निवासियों के पीछे दस भी वास्तविक उत्पत्ति-कर्ता नहीं हैं। देश की सारी कृषि-सम्पत्ति ७० लाख से भी कम आदमियों की कमाई है, और खानों और कपड़े के दोनों प्रधान उद्योगों में २५ लाख से भी कम मज़दूर हैं। परन्तु मज़दूरों को लूट-लूटकर खाने वाले कितने हैं। इंग्लैण्ड के संयुक्त राज्य में कुल दस लाख से कुछ ही अधिक स्त्री,पुरुष और बालक मज़दूर कपडों में लगे हैं; नौ लाख से कुछ कम मज़दूर खानों में काम करते हैं; भूमि जोतने में भी बीस लाख से बहुत कम मज़दूर काम करते हैं, और पिछली औद्योगिक गणना के समय सारे उद्योग-धंधों में ४० लाख से कुछ ही अधिक स्त्री पुरुष और बालक लगे थे। फलतः गणना विभाग वालों को अपने गणनाङ्क बढ़ाने पड़े, इसलिए कि साठ

करोड़ जन-संख्या पर अस्सी लाख उत्पादकों की संख्या दिखाई जासके। सच पूछो तो, जो माल ब्रिटेन से दुनिया के सब कोनों पर भेजा जाता है उसका निर्माण करने वाले साठ सत्तर लाख मज़दूर ही हैं और, इसके मुक़ाबले में, जो लोग मज़दूरों की मेहनत का बड़ा से बड़ा लाभ स्वयं उठा लेते हैं, और उत्पादक और ख़रीदार के बीच में पड़ कर बिना श्रम किये सम्पत्ति सचित कर लेते हैं, उनकी संख्या कितनी है?

किन्तु इस शक्ति के शीघ्रगामी विकास के साथ-साथ निठल्ले और बीच वाले दलालों की संख्या में भी भारी वृद्धि हो रही है। यदि पूंजी धीरे-धीरे थोड़े से आदमियों के हाथ में ही एकत्र होती जाय, तो समाज को केवल इतना ही करना पड़े कि मुट्ठीभर करोड़पतियों से छीनकर उसे जिनकी है उन्हें दे दी जाय। परन्तु बात समाजवादियों की इस कल्पना के सर्वथा विपरीत हो रही है। मुफ्तख़ोरों का दल बुरी तरह बढता जा रहा है।

इतना ही नहीं, पूंजीपति लोग माल की पैदावार भी बराबर कम करते रहते हैं। कहना नहीं होगा, कि आयस्टर (घोंघों) की गाड़ियाँ-की-गाड़ियाँ समुद्र में सिर्फ इसलिए फेंक दी जाती हैं, कि जो चीज़ आज तक केवल धनवानों का एक ख़ास व्यञ्जन समझी जाती थी, वह कहीं ग़रीबों के खाने का पदार्थ न बन जाय। और भी कितनी ही विलास की सामग्री का यही हाल किया जाता है। उन्हें कहांतक गिनाया जाय? केवल यह स्मरण रख लेना काफ़ी है कि किस प्रकार अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं की पैदावार सीमित की जाती है। लाखों खुदैये रोज़ कोयला खोदने को तैयार हैं, ताकि वह कोयला ठंड से ठिठुरते हुए लोगों को गरमी पहुँचाने के लिए भेजा जा सके। किन्तु बहुधा उनमें से एक-तिहाई या आधे तक को सप्ताह में तीन दिन से अधिक काम नहीं करने दिया जाता, क्यों? इसीलिए कि कोयले का भाव ऊँचा रखना है। हज़ारों जुलाहों को करघे नहीं चलाने दिये जाते, भले ही उनके स्त्री-बच्चों के शरीर पर पूरे चिथड़े भी न हों, और बहु-जन-समाज को काफ़ी कपड़ा भी न मिले।

, सैकड़ों भट्टियाँ, हज़ारों कारख़ाने समय-समय पर बेकार रहते हैं। बहुतों में सिर्फ़ आधे समय काम होता है। प्रत्येक सभ्य देश में लगभग २० लाख मनुष्य तो ऐसे बने ही रहते हैं,* जिन्हें काम चाहिए पर दिया नहीं जाता।

यदि इन लाखों नर-नारियों को काम दिया जाय, तो वे कितने हर्ष से बंजर ज़मीन को साफ करके, या ख़राब ज़मीन को उपजाऊ बनाकर उमदा फसलें तैयार करने में लग जायँ! इनका एक ही वर्ष का सच्चे दिल से किया गया परिश्रम लाखों बीघा बेकार ज़मीन की पैदावार को पाँच गुना कर देने के लिए काफ़ी है। किन्तु दुर्भाग्य तो देखिए कि जो लोग धनोपार्जन की विविध दिशाओं में अग्रसर बनने में सुख मानते हों, उन्हीं को केवल इस कारण हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना पड़ता है कि भूमि, खानों और उद्योग-शालाओं के स्वामी समाज को चूस-चूस कर उस धन को तुर्की, मिश्र या अन्यत्र लगाना पसन्द करते हैं, और वहाँ के लोगों को भी गुलाम बनाते हैं।

यह तो बात हुई उत्पत्ति को जान-बूझकर और प्रत्यक्ष रूप से कम करने की। किन्तु इसका एक अप्रत्यक्ष ढंग भी है, जिसका कोई हेतु ही समझ में नहीं आता। वह ढंग यह है कि सर्वथा निरर्थक पदार्थों के बनाने में मानवीय परिश्रम खर्च किया जाता है, जिससे सिर्फ़ धनवानों के वृथा अभिमान की तुष्टि होती है।

यह हिसाब लगाना अशक्य है कि जिस शक्ति से उत्पादन का, और उससे भी अधिक उत्पादक-यन्त्र, तैयार करने का काम लिया जा सकता है, उस शक्ति का कितना अपव्यय किया जाता है, और सम्पत्ति का उपार्जन किस सीमा तक कम किया जाता है। इतना बता देना काफ़ी है कि बाजारों पर प्रभुत्व प्राप्त करने, पड़ोसी देशों पर बलात् अपना माल लादने, और

---

* भारत में तो यह संख्या करोड़ों तक पहुँचेगी।

घर के ग़रीबों का ख़ून आसानी से चूस सकने के एकमात्र उद्देश्य से यूरोप सेनाओं पर बेशुमार रुपया ख़र्च करता है। करोड़ों रुपया हर साल नाना प्रकार के कर्मचारियों के वेतन पर खर्च किया जाता है। और, इन कर्मचारियों का काम क्या है? यही कि वे अल्प-संख्यक लोगों अर्थात् मुट्ठीभर धनिकों के 'स्वत्वों' की रक्षा करें, और राष्ट्र की आर्थिक प्रगतियों को इनके स्वार्थ की अनुकूल दिशा में चलाते रहें। करोड़ों रुपया न्यायाधीशों, जेलखानों, पुलिसवालों और नाम-धारी न्याय के दूसरे लवाज़िमे पर व्यय किया जाता है। इनसे कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह अनुभव की बात है कि बड़े-बड़े नगरों में जब-जब जनता का थोड़ा-सा भी कष्ट-निवारण हुआ है, तभी अपराधों की संख्या और मात्रा बहुत कम हुई है। इसी प्रकार करोड़ों रुपया अमुक-दल, कोई ख़ास राजनीतिज्ञ अथवा अमुक सट्टेबाज़ों के किसी विशेष समूह के लाभ के लिए समाचार-पत्रों द्वारा हानिकर सिद्धान्तों और झूठी ख़बरों के फैलाने में लगाया जाता है।

किन्तु इस सबसे अधिक विचार से तो उस परिश्रम का करना है जो सर्वथा व्यर्थ जाता है। कहीं तो धनवानों के लिए अश्वशालाएँ, कुत्तेख़ाने, और नौकरों के दल-के-दल रक्खे जाते हैं। कहीं समाज की बेहूदगियों और फ़ैशन के भूत की कुरुचियों को सन्तुष्ट करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है। कहीं ग्राहकों को अनावश्यक वस्तुएँ ख़रीदने को विवश किया जाता है, या झूठे विज्ञापन देकर घटिया माल उनके चिपका दिया जाता है, अथवा कारखानेदारों के फ़ायदे के लिए सर्वथा हानिकारक चीज़ तैयार की जाती हैं। इस प्रकार जिस सम्पत्ति और शक्ति की हानि की जाती है, उससे उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति दुगुनी हो सकती है, या कारख़ाने इतने यन्त्रों से सुसज्जित किये जा सकते हैं कि थोड़े ही समय में दूकानें उस माल से भर जाँय, जिसके बिना अधिकांश जनता दुःख उठा रही है। वर्तमान व्यवस्था में तो प्रत्येक राष्ट्र के चतुर्थांश उत्पादक अङ्ग साल में तीन-चार मास बेकार रहने को बाध्य हैं, और आधे नहीं तो एक-चौथाई लोगों

की मेहनत का, सिवाय धनवानों के मनोरंजन अथवा जनता के रक्तशोषण के, कोई उपयोग नहीं होता।

इस प्रकार यदि हम एक ओर इस बात का विचार करें कि सभ्य-राष्ट्रों की उत्पादक शक्ति किस तेज़ी से बढ़ रही है, और दूसरी ओर इसका कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वर्तमान परिस्थिति के कारण उत्पादन कितना कम किया जाता है, तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि यदि हमारी आर्थिक पद्धति ज़रा और बुद्धि संगत हो जाय, तो कुछ ही वर्षों में इतने उपयोगी पदार्थों का ढेर लग जाय, कि हमें कहना पड़े 'बस बाबा! रोटी-कपड़ा और ईंधन काफ़ी है! अब तो हमें शान्तिपूर्वक विचार करने दो कि हम अपनी शक्ति और अवकाश का उत्तम उपयोग कैसे करें।'

हम फिर कहते हैं कि सबको विपुल सुख-सामग्री मिले, यह स्वप्न-मात्र नहीं है। हाँ, उस समय यह भले ही स्वप्न माना जाता हो, जब एकड़ भर ज़मीन से मर-पच कर भी थोड़े-से गेहूँ ही पल्ले पड़ते थे, और खेती और उद्योग के सारे औज़ार उसे हाथ से ही बनाने पड़ते थे। किन्तु अब यह कोरी कल्पना नहीं रही है, क्यो कि ऐसी सञ्चालन (मोटर) शक्ति खोज निकाली गई है, जो थोड़े-से लोहे और कुछ बोरी कोयले की सहायता से उसे घोड़े के समान बलवान आज्ञाकारी मशीनों और अत्यन्त पेचीदा यन्त्रजाल का स्वामी और सञ्चालक बना देती है।

परन्तु यह कल्पना सत्य तभी सिद्ध हो सकती है जब यह विपुल धन, ये नगर, भवन, गोचर-भूमि, खेती की ज़मीन, कारखाने, जल और स्थल-मार्ग, और शिक्षा—व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहें, और एकाधिकार प्राप्त लोग इसका स्वेच्छापूर्वक उपयोग न कर सकें। यह सब बहुमूल्य सम्पत्ति जिसे हमारे पूर्वजों ने बड़े कष्ट से प्राप्त किया, बनाया, सजाया, अथवा खोज निकाला है, सबकी सम्मिलित सम्पत्ति बन जानी चाहिए। जिससे मानव-जाति के संयुक्त हिताहित का ध्यान रखकर सबका अधिक-से-अधिक

भला किया जा सके। बस, निःसम्पत्तिकरण होना चाहिए। सबका सुख, यह ध्येय है। निःसम्पत्तिकरण यह उपाय है।

२

तो बस, निःसम्पत्ति-करण ही बीसवीं शताब्दि की एकमात्र समस्या है। साम्यवाद ही मनुष्यमात्र के सर्वाङ्ग-सुख का उपाय है।

परन्तु यह समस्या क़ानून के द्वारा हल नहीं की जा सकती। इसकी कोई कल्पना भी नहीं करता। क्या ग़रीब और अमीर, सभी समझते हैं कि न तो वर्त्तमान सरकार और न भावी राजनैतिक परिवर्त्तनों से उत्पन्न होनेवाला कोई शासन ही इस समस्या को क़ानून से हल करने में समर्थ होगा। सबको सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव होती है। निर्धन और धनवान दोनों मानते हैं कि यह क्रान्ति निकट आ पहुँची है, और कुछ ही वर्ष में होने वाली है।

उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में विचारों में बड़ा परिवर्तन हुआ है। इसे सम्पत्तिशाली वर्ग ने दबा रखने की और इसके स्वाभाविक विकास को कुण्ठित करने की बहुत कोशिश की है। किन्तु यह नवीन भावना अपने बन्धन तोड़ कर अब क्रान्ति के रूप में देह-धारण किये बिना नहीं रह सकती।

क्रान्ति आयेगी किधर से? इसके आगमन की घोषणा कैसे होगी? इन प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। भविष्य अभी गर्भ में है। परन्तु जिनके आँखें हैं और मस्तिष्क है वे उसके लक्षणों को समझने में ग़लती नहीं करते। मज़दूर और उनके रक्त-शोषक, क्रान्तिवादी और प्रतिगामी, विचारक और कर्ममार्गी, सभी को ऐसा मालूम हो रहा है कि क्रान्ति द्वार पर खड़ी है।

अच्छा, तो जब यह बिजली गिर चुकेगी, तब हम क्या करेंगे?

हम प्रायः क्रान्तियों के आश्चर्य-जनक दृश्यों का अध्ययन तो इतना अधिक करते हैं, और उनके व्यावहारिक हिस्से पर इतना कम ध्यान

देते हैं, कि सम्भव है हम इन महान् आन्दोलनों के तमाशे को ही, शुरू के दिनों की लड़ाई को ही—मोर्चाबन्दी को ही—देख कर रह जाँय। परन्तु यह प्रारम्भ की भिड़न्त जल्दी ही खत्म हो जाती है। क्रान्ति का सच्चा काम तो पुरानी रचना के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद ही शुरू होता है।

पुराने शासक अशक्त और जर्जर तो होते ही हैं, आक्रमण भी उन पर चारों ओर से होता है। बेचारे विद्रोह की फूँक लगते ही उड़ जाते हैं।

सर्वसाधारण की क्रान्ति के सामने तो पुरातन व्यवस्था के विधाता और भी तेज़ी के साथ ग़ायब हो जाते हैं। उसके समर्थक देश को छोड़ भगते हैं, और अन्यत्र सुरक्षित बैठकर षड्यन्त्रों की रचना और वापिस लौटने के उपाय सोचा करते हैं।

जब सरकार नहीं रहती, तो सेना भी लोकमत के ज्वार के सम्मुख खड़ी नहीं रहती। सेनानायक भी दूरदर्शिता-पूर्वक भाग जाते हैं, अन्यथा सिपाही उनका कहना भी नहीं मानते। सेना या तो निरपेक्ष खड़ी रहती है अथवा विद्रोहियों में मिल जाती है। पुलिस आराम से खड़ी खड़ी सोचती है कि भीड़ को मारें या साम्यवाद की जय पुकार उठें। कुछ पुलिसवाले ऐसे भी निकलते हैं जो अपने-अपने स्थान में पहुँच कर नई सरकार की आज्ञा का इन्तज़ार करने लगते हैं। धनवान् नागरिक अपनी-अपनी पेटियाँ भरकर सुरक्षित स्थनों को चलदेते हैं। साधारण लोग रह जाते हैं। क्रान्तिदेवी का अवतरण इसी प्रकार होता है।

कई बड़े बड़े शहरों में साम्यवाद की घोषणा कर दी जाती है। हज़ारों आदमी बाज़ारों में इधर-उधर घूमने लगते हैं, और शाम को सभास्थानों में जाकर पूछते हैं—"हम क्या करें"? इस प्रकार उत्साह-पूर्वक सार्वजनिक मामलों पर चर्चा होने लगती है। सब उनमें दिलचस्पी लेने लगते हैं। जो लोग कलतक उदासीन थे, वे ही शायद सबसे अधिक उत्साह दिखाने लगते हैं। सर्वत्र सद्भावना और विजय को निश्चित करने की उत्कट लालसा विपुल

परिमाण में पाई जाती है। ऐसे ही समय में अपूर्व देशभक्ति के कार्य होते हैं। सर्वसाधारण को आगे बढ़ने की पूरी अभिलाषा रहती है।

ये सब बातें शानदार होती हैं, ऊँचा उठानेवाली होती हैं। किन्तु ये भी क्रान्ति नहीं है। बात तो यह है कि क्रान्ति-कारियों का कार्य यहाँ से शुरू होता है। निःसन्देह परिशोध के कार्य होंगे। जनता के कोपभाजन व्यक्ति अपने किये की सज़ा पायंगे। किन्तु ये भी क्रान्ति नहीं है, केवल संग्राम की स्फुट घटनाएँ हैं।

समाजवादी राजनीतिज्ञ, कट्टर सुधारक, कल तक जिनकी पूछ नहीं होती थी ऐसे प्रतिभाशाली पत्रकार, और हाथ-पैर पीट कर भाषण देने वाले वक्ता, मध्यवर्गी और मजदूर लोग, सभी जल्दी-जल्दी नगर भवन में और सरकारी दफ्तरों में पहुँच कर रिक्त स्थानों पर अधिकार कर लेंगे। कुछ लोग जी-भरकर अपने शरीर को सोने-चांदी की किनारियों से सजा लेंगे, मंत्रियों के दर्पणों में देख देख कर अपनी सराहना करेंगे, और अपने पद के योग्य महत्व की मुद्रा धारण करके आज्ञा देना सीखेंगे। इन गौरव-चिन्हों के लगाये बिना वे अपने कारखाने या दफ़तर के साथियों पर रौब कैसे गांठ सकते हैं? दूसरे लोग सरकारी काग़ज़ात में गड़ जायंगे और सच्चे दिलसे उन्हें समझने की कोशिश करेंगे। ये कानून बनायंगे और बड़े-बड़े हुक्म निकालेंगे। हाँ, इनकी तामील करने का कष्ट कोई न उठायगा। क्रांति ही जो ठहरी!

इन्हें जो अधिकार मिला नहीं है, उसका ढोंग रचने के लिए ये पुराने शासन के स्वरूप का सहारा लेंगे। ये 'अस्थायी सरकार', 'सार्वजनिक रक्षा-समिति', 'नगर-शासक' इत्यादि अनेक नाम धारण करेंगे। निर्वाचित हों अथवा स्वयंभू, वे समितियों और परिषदों में जा बैठेंगे। वहाँ दस-बीस अलग-अलग विचार-सरणि के लोग एकत्र होंगे। इनके मस्तिष्क में क्रान्ति के क्षेत्र, प्रभाव और ध्येय की भिन्न भिन्न कल्पनाएं होंगी। वे वाग्युद्ध में अपना समय बर्बाद करेंगे। ईमानदार लोगों का एक ही स्थान में ऐसे

महत्वाकांक्षियों से पाला पड़ेगा, जिन्हें केवल सत्ता की चाह है, और जो उसके मिलने पर जिस जनता में से निकलते हैं उसी को ठोकर मारते हैं। ये परस्पर-विरोधी विचारों के लोग एकत्र होंगे। जिन्हें आपस में क्षण-भंगुर संधियां करनी पड़ेंगी, जिनका उद्देश्य सिर्फ़ बहुमत बनाना होगा। परन्तु यह बहुमत एक दिन से ज्यादा टिकने का नहीं। परिणाम यह होगा कि ये आपस में झगड़ेंगे, एक दूसरे को अनुदार, सत्तावादी और मूर्ख बतायेंगे, किसी गंभीर विषय पर एक मत न हो सकेंगे, ज़रा-ज़रा सी बातों पर वाद-विवाद करेंगे, और सिवाय लंबी-चौड़ी घोषणाएं निकालने के, और कुछ ठोस काम न कर सकेंगे। एक ओर तो ये लोग इस प्रकार अपना महत्व प्रदर्शित करते रहेंगे, और दूसरी ओर आन्दोलन की सच्ची शक्ति बाज़ारों में भटकती फिरती होगी।

इन बातों से तमाशा-पसन्द लोग भले ही खुश हो लें, किन्तु यह भी क्रान्ति नहीं है। अभी दिल्ली दूर है।

हाँ, इस बीच में जनता को तो कष्ट भोगने ही होते हैं। कारखाने बन्द रहते हैं। व्यापार चौपट होजाता है। मज़दूरों को जो थोड़ी-सी मज़दूरी पहले मिलती थी वह भी नहीं मिलती। खाद्य-पदार्थों का भाव बढ़ जाता है। वे फिर भी उस वीरोचित लगन के साथ, जो सदा उनका गुण रही है और जो महान् विपत्ति के अवसरों पर और भी उच्च हो जाती है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। सन् १८४८ में उन्होंने कहा था कि "हम रिपब्लिक सरकार से तीन महीने तक कुछ न माँगेंगे", परन्तु उनके 'प्रतिनिधि' और नई सरकार के सफ़ेद-पोश लोग और दफ़्तर के तुच्चे-से-तुच्चे पदाधिकारी तक नियम से तनख्वाहें लेते रहे थे।

जनता तो कष्ट उठाती है। बालोचित विश्वास और स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ लोग समझते हैं कि "नेताओं पर भरोसा रखना चाहिये। उस जगह', उस सभाभवन, नगरभवन या सार्वजनिक रक्षा-समिति में

हमारी भलाई सोच रहे हैं।" परन्तु 'उस जगह' तो नेतागण दुनिया भर की बातों पर विवाद करते रहते हैं, सिर्फ़ जनता के हित की चर्चा नहीं करते। १७९३ में जब फ्रान्स में दुष्काल हो गया और उसने क्रान्ति को लंगडा कर दिया और लोगों की बुरी दशा हो रही थी, (यद्यपि बाजार में शानदार बग्घियों की भीड़ लगी रहती थी और स्त्रियाँ अपने-अपने आपभूण और पोशाकें पहन-पहनकर निकलती रहती थीं), तब रोव्सपियर जेकोबिन दल वालों को प्रेरित कर रहा था कि वे इंगलैण्ड की राज्य-व्यवस्था पर लिखे हुए उसके ग्रन्थ पर बहस ही कर लें। १८४८ में मज़दूर लोग तो सार्वजनिक व्यापार बंद हो जाने के कारण पीड़ित हो रहे थे, पर अस्थायी सरकार और राष्ट्रीय परिपद् इसपर झगड़ रही थी कि सिपाहियों की पेन्शन क्या दी जाय और जेलखाने मे मशक्कत कैसी ली जाय? उन्हें उस बात की फिक्र नहीं थी कि जनता इस विपत्ति-काल में किस प्रकार दिन काट रही है। पेरिस की कम्यून सरकार प्रशिया की सेना के मुकाबिले में खड़ी हुई थी और केवल सत्तर दिन ही जीवित रह पाई। उसने भी यही ग़लती की। उसने नहीं समझा कि अपने योद्धाओ को पेट-भर खिलाये बिना क्रान्ति सफल कैसे होगी, और सिर्फ़ थोड़ा सा दैनिक वेतन मुकर्रर कर देने से ही कैसे तो आदमी युद्ध कर सकेगा और कैसे अपने परिवार का पोषण कर सकेगा?

इस प्रकार कष्ट भोगती हुई जनता पूछती है, "इन कठिनाइयों को पार करने का उपाय क्या है?"

३

इस प्रश्न का एक ही उत्तर दिखाई देता है। वह यह कि हमें यह बात मान लेनी चाहिए और उच्च स्वर से घोषणा कर देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का सर्वोपरि अधिकार है, फिर चाहे वह मनुष्य-समाज में किसी भी श्रेणी का हो, बलवान हो या निर्बल, योग्य हो

अथवा अयोग्य। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाज के हाथ में जीवन के जितने साधन हैं उनको सब में निरपवाद रूप से बाट देना उसका कर्तव्य है। हमें इस सिद्धान्त को मान कर उस पर चलना भी चाहिए।

क्रान्ति के प्रथम दिन से ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि श्रमजीवी यह जान जाय कि उसके लिए नवीन-युग का उदय हो गया। भविष्य में अब किसी को, पास में महल होते हुए, पुल के नीचे दुबक कर सोने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, इस बाहुल्य के रहते हुए किसी को भूखों मरना नही पडेगा। सब चीज़ें सब के लिए हैं। यह खाली कल्पना ही नहीं, व्यवहार में भी चरितार्थ होगा। क्रान्ति के प्रथम दिन से ही श्रमजीवी को यह मालूम पड़ना चाहिए कि इतिहास में पहली ही बार ऐसी क्रान्ति हुई है जिसमें जनता को उसके कर्तव्यों का उपदेश देने से पूर्व उसकी आवश्यकताओं का विचार किया गया है।

यह सब क़ानून से नहीं होगा। काम करने का एक-मात्र सच्चा और वैज्ञानिक ढंग अख्तियार करना होगा—ऐसा ढंग जिसे सर्वसाधारण समझ सकते और चाहते हों।—वह यह है कि सबके सुख सम्पादन के लिए आवश्यक साधनों पर तुरन्त और भलीप्रकार क़ब्जा कर लिया जाय। अन्नभण्डारों, कपडे की दुकानों और निवास-स्थानों पर जनता का अधिकार हो जाना चाहिए। कोई चीज़ बर्बाद नहीं होनी चाहिए। शीघ्र इस प्रकार का संगठन करना चाहिए कि भूखों को भोजन मिल जाय, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ, और उत्पत्ति इस प्रकार हो कि व्यक्ति या समूह-विशेष को ही लाभ न पहुँचे, प्रत्युत सारे समाज के जीवन और विकास को सहायता मिले।

१८४८ की क्रान्ति में 'काम करने का अधिकार' इस वाक्य से लोगों को बड़ा धोखा दिया गया। और अब भी ऐसे ही द्वयर्थक वाक्यों से धोखा देने की कोशिश होती है, परन्तु अब उनकी जरूरत नहीं है। हमें

साहस करके "सब के सुख" के सिद्धान्त को मंजूर करना चाहिए और उसकी संभावना को पूर्ण करना चाहिए।

१८४८ में जब श्रमजीवियों ने काम करने के अधिकार का दावा किया तो राष्ट्रीय और म्युनिसिपल कारखाने बनाये गये और वहाँ उन्हें मज़दूरी निश्चित करके काम कर-कर के मरने के लिए भेज दिया गया! जब उन्होंने कहा कि "श्रमिकों का संगठन" होना चाहिए तो जवाब दिया गया "मित्रो! धैर्य रक्खो। सरकार इसका इन्तजाम कर देगी। अभी तो तुम मज़दूरी लेते जाओ। वीर श्रमिको, जीवन-भर भोजन के लिए युद्ध किया है, अब ज़रा आराम तो ले लो!" इस बीच तोपें सुधार ली गईं, फौजें बुला ली गईं, और तरह-तरह की मध्यमवर्ग की जानी हुई तरकीबों से श्रमिकों को निःशस्त्र कर दिया। यहाँ तक कि, जून १८४८ के एक दिन, पिछली सरकार के पलट देने के चार मास बाद ही, उनसे कह दिया गया कि या तो अफ्रीका में जाकर बसो, नहीं तो गोलियों से मार दिये जाओगे।

परन्तु सुख-पूर्वक जीवित रहने के अधिकार पर आरूढ़ होने में जनता इससे भी अधिक महत्वपूर्ण दूसरे अधिकार की भी घोषणा करती है। वह यह कि इस बात का निर्णय भी वही करे कि उसको सुख किन चीज़ों से मिलेगा, उस सुख की प्राप्ति के लिये क्या-क्या माल पैदा करना चाहिए और क्या-क्या नहीं करना चाहिए। 'काम करने का अधिकार' और 'सब का सुख' इन दोनों सिद्धान्तों का भेद समझने योग्य है। पहले का अर्थ इतना ही है कि श्रमजीवी सदा थोड़ी-सी मज़दूरी का दास बना रहे, कठोर परिश्रम करने को विवश हो, और उस पर मध्यम-वर्ग के लोग शासन करते और उसका रक्त-शोषण करते रहें। दूसरे सिद्धान्त का अर्थ यह है कि श्रमजीवी मनुष्यों की भांति रह सकें, और उनकी सन्तान को वर्तमान से अच्छा समाज मिले। अब समय आगया है कि व्यापार-वाद की चक्की में न पिसते रह कर, सामाजिक क्रान्ति की जाय, और श्रमजीवियों को नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हों।

[३]

अराजक समाजवाद

१

हमारा विश्वास है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को मिटा देने के बाद प्रत्येक समाज को अपना संगठन अराजक समाजवाद के ढंग पर करना पडेगा। अराजकता का परिणाम समाजवाद और समाजवाद का परिणाम अराजकता होता ही है, क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य समानता की स्थापना है।

एक समय ऐसा था जब एक किसान-कुटुम्ब यह समझता था कि जो अनाज वह उत्पन्न करता है, या जो कपडे वह बुनता है, वह उसी की ज़मीन की पैदावार है। किन्तु यह विचार-सरणि सर्वथा निर्दोष नहीं थी। सड़कें, पुल, दलदलें और चरागाहें आदि ऐसी बहुत-सी चीज़ें थीं, जिनके बनाने, साफ़ करने और ठीक रखने में सब लोगों का परिश्रम खर्च होता था। यदि कोई एक व्यक्ति बुनाई या रंगाई में कोई सुधार करता था तो उसका लाभ सभी को मिलता था। कोई परिवार एकाकी होकर जीवित नहीं रह सकता था। उसे अनेक प्रकार से गाँव या जाति-भर पर निर्भर रहना पडता था।

आज तो यह दावा करने की सर्वथा गुंजायश नहीं है कि पैदावार व्यक्ति विशेष की मेहनत का फल है, क्योंकि आधुनिक उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में हर चीज़ एक-दूसरी पर निर्भर है, और उत्पत्ति के सारे विभाग परस्पर

गये हुए हैं। सभ्य देशों में कपड़े और खान के उद्योगों ने जो आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, उसका कारण यह है कि उनके साथ-साथ सैकड़ों छोटे-बडे दूसरे उद्योगों का विकास हुआ है, रेलमार्ग का विस्तार हुआ है, समुद्र-यात्रा के द्वार खुल गये हैं, हज़ारों मज़दूरों की हाथ की कारीगरी बढ़ गई है, और सारे श्रमजीवी-समाज की संस्कृति का परिमाण ऊँचा हो गया है। सार यह कि उन उद्योगों को संसार के सभी भागों में रहनेवाले मजदूरों के परिश्रम का लाभ मिला है।

तो, यह हिसाब कैसे लगाया जाय कि सब के परिश्रम से पैदा होने वाले धन में प्रत्येक व्यक्ति का कितना हिस्सा हो? इस सम्बन्ध में यह तो न कोई आदर्श व्यवस्था होगी, और न उचित कार्य ही, कि जिसने जितने घण्टे काम किया हो उसे उतनी ही मज़दूरी दे दी जाय। — — जब हम समाज की यह कल्पना रखकर चलते हैं कि उसमें परिश्रम के साधन समाज की सम्मिलित सम्पत्ति हैं, तो हमें मज़दूरी का सिद्धान्त तो छोड़ना ही पडेगा, चाहे वह किसी भी रूप में हो।

मजदूरी देने की प्रणाली का जन्म, भूमि और उत्पत्ति के अन्य साधनों पर व्यक्तियों के अधिकार होने के सिद्धान्त से हुआ है। पूँजीवाद के विकास के लिए यह आवश्यक थी। उसके नाश के साथ इसका नाश भी अनिवार्य है। जब हम परिश्रम के साधनों को सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मान लेंगे, तो सम्मिलित परिश्रम का फल भी सब मिल कर ही भोगेंगे।

दूसरा विश्वास हमारा यह है कि समाजवाद केवल वाछनीय ही नहीं है, प्रत्युत वर्तमान समाज, जिसकी बुनियाद व्यक्तिवाद पर है, बलात् समाजवाद की ओर ही जा रहा है। पिछले तीन सौ वर्ष में व्यक्तिवाद के इतना बढने का कारण यह है कि धन और सत्ता के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने में व्यक्तियों को बड़ी कोशिश करनी पडी है। कुछ समय तक व्यक्तिवादी यह समझते रहे कि व्यक्ति राज्य और समाज से बिलकुल आज़ाद हो सकता है। वे कहते थे कि रुपये से सब कुछ ख़रीदा जा

सकता है। परन्तु आधुनिक इतिहास ने उन्हें शीघ्र ही बता दिया कि यह खयाल ग़लत था। चाहे तिजोरियाँ सोने से भरी पड़ी हों, मनुष्य सब की मदद के बिना कुछ नहीं कर सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिवाद की लहर के साथ-साथ एक ओर तो प्राचीन आंशिक समाजवाद की रक्षा का, और दूसरी ओर आधुनिक जीवन के अनेक प्रकार के विकास में समाजवाद के सिद्धान्त को प्रविष्ट करने का, प्रयत्न होता रहा है। मध्यकालीन साम्यवादी जातियाँ ज्यों-ज्यों भूस्वामियों के चंगुल से निकलती गईं त्यों-त्यों सम्मिलित परिश्रम और सम्मिलित ख़र्च का विस्तार और विकास भी होता चला गया। व्यक्ति नहीं, नगर, सम्मिलित रूप से तैयार माल जहाज़ों में भर-भर कर बाहर भेजने लगे, और विदेशी व्यापार से जो मुनाफ़ा होता उसे सब मिलकर बांटने लगे। आरंभ में तो नगर संस्थाएं ही सारे नागरिकों के लिए खाद्य-पदार्थ भी खरीदती थीं। इन संस्थाओं के चिन्ह उन्नीसवीं शताब्दि तक पाये जाते थे। अब भी उनकी दन्तकथाएं प्रचलित हैं। पर अब वह सब विलीन हो गईं। किन्तु ग्राम्य संस्थाएं आज भी इस प्रकार के साम्यवाद का नाम बनाये रखने की चेष्टा कर रही हैं। हाँ, जब राज्य अपनी तलवार के ज़ोर से उन पर आक्रमण करता है, तो इन बेचारियों का कुछ वश नहीं चलता।

इस बीच अनेक भिन्न भिन्न रूपों में नये-नये संगठन बन रहे हैं। इनका आधार उसी सिद्धान्त पर है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिले। वस्तुतः समाजवाद के थोडे-बहुत सहारे के बिना तो आधुनिक समाज जीवित ही नहीं रह सकता। व्यापारिक प्रणाली के कारण भले ही लोगों में स्वार्थ की मात्रा बढ़ गई हो, किन्तु समाजवाद की रुचि और उसका प्रभाव अनेक प्रकार से बढ़ रहा है। पहले सड़कों और पुलों पर जो यात्रा-कर लिया जाता था वह अब नहीं* लिया जाता। बालकों के लिए निःशुल्क अजायबघर, पुस्तकालय, पाठशालाएं

* भारत में तो अब भी लिया जाता है।

और भोजन तक विद्यमान हैं। बाग-बगीचे सब के लिए खुले हैं। बाज़ारों में पक्की सड़कें और रोशनी सब के लिए मुफ़्त है। प्रत्येक घर में काफ़ी पानी पहुँचाया जाता है। इस सारी व्यवस्था का मूल यही सिद्धान्त तो है कि 'जितनी जरूरत हो, उतना ले लो।'

रेल और ट्राम-गाड़ियों में महीने महीने और वर्ष-वर्ष भर के टिकट मिलने लगे हैं। उनसे जितनी बार चाहो सफ़र कर लो। कई राष्ट्रों ने तो यह भी नियम कर दिया है कि रेल-मार्ग से चाहे कोई पांच सौ कोस जाय, या हजार कोस, किराया एक ही लगेगा। अब तो डाक-विभाग की तरह सब स्थानों के लिए एक ही दाम लेने के नियम में थोड़ी ही कसर रह गई है। इन अनेक नई नई बातों से, व्यक्तिगत खर्च का हिसाब लगाने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। कोई आदमी पाच सौ मील जाना चाहे, दूसरे को आठ-सौ मील जाना हो, यह अपनी-अपनी ज़रूरत की बात है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक को दूसरे से दुगना मूल्य देना चाहिए। इस प्रकार की मनोदशा इस व्यक्तिवादी समाज की भी है।

हल्की-सी ही सही, एक प्रवृत्ति यह भी है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं का लिहाज किया जाय, उसकी पिछली या भावी सेवाओं पर ख़याल न किया जाय। हम सारे समाज का विचार इस ढंग से करने लगे हैं कि उसके प्रत्येक भाग का दूसरे से इतना घनिष्ट संबन्ध है, कि एक की सेवा से सब की सेवा होती है। आप किसी पुस्तकालय में जाइए। आपको पुस्तक देने से पहले आपसे यह कोई न पूछेगा कि आपने समाज की क्या-क्या सेवाएँ की हैं। इतना ही नहीं, यदि आपको पुस्तक-सूची देखना नहीं आता हो तो पुस्तकाध्यक्ष स्वयं आकर आपकी सहायता करेगा। इसी प्रकार वैज्ञानिक संस्थाओं में प्रत्येक सदस्य को समान सुविधाएं मिलती हैं। विज्ञान-शालाओं में आविष्कार करने के हेतु जो लोग प्रयोग करना चाहते हैं, उन्हें भी समान सुविधाएं दी जाती हैं। तूफानी समुद्र में जब जहाज़ डूबता है तो रक्षा-नौका के खेवट अनजान यात्रियों की रक्षा भी

समान-भाव से अपनी जान जोखम में डाल कर करते हैं। वे केवल इतना ही जान लेते हैं कि ये मनुष्य हैं और इन्हें सहायता की ज़रूरत है। बस उसीसे प्राण-रक्षा पाने का उनका हक़ क़ायम हो जाता है।

इस प्रकार, कहने को व्यक्तिवादी होते हुए भी समाज के हृदय में समाजवाद की ओर जाने की प्रवृत्ति चारों तरफ़ अपने-आप पैदा हो रही है। हाँ, उसके रूप भिन्न भले ही हों। उदाहरणार्थ, मान लीजिए हमारे किसी बड़े शहर पर जो मामूली हालत में स्वार्थी रहता है कल ही कोई विपत्ति आपड़ी। मसलन्, शत्रु ने उसके चारों तरफ घेरा डाल दिया। परन्तु उस स्वार्थी शहर का ही निर्णय यह होगा कि सबसे पहले बच्चों और बूढ़ों की आवश्यकताएं पूरी की जायँ। यह कोई न पूछेगा कि इन लोगों ने समाज की क्या सेवा की है, और आगे क्या सेवा करेंगे। पहले उन्हें खाने-पीने को दिया जायगा। बाद में योद्धाओं की खबर-गीरी होगी। परन्तु उनमें भी इस बात का कोई भेद नहीं किया जायगा, कि किसने अधिक साहस अथवा बुद्धिमत्ता का सबूत दिया है। हज़ारों स्त्री-पुरुष बढ़-बढ़ कर घायलों की प्रेमपूर्वक सेवा करेंगे। यह प्रवृत्ति है तो सही, परन्तु दिखाई उसी समय देती है जब सबकी बड़ी-बड़ी ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं, और ज्यों-ज्यों समाज की उत्पादक शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों यह प्रवृत्ति बलवान् होती है। जब-जब कोई महान् विचार रात-दिन की पामर-कृतियों को दबा देने के लिए मैदान में आता है, तब-तब तो यह प्रवृत्ति क्रियात्मक शक्ति का रूप धारण कर लेती है।

त फिर यह सन्देह कैसे हो सकता है कि जब उत्पत्ति के साधन सब की सेवा के साधन बन जायंगे, व्यवसाय साम्यवाद के सिद्धान्तों पर चलने लगेगा, मजदूर फिर से समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर के सब की ज़रूरतों से भी ज़्यादा माल पैदा करने लगेंगे तो यह परोपकार की भावना और भी बृहद् रूप धारण नहीं कर लेगी, और अन्त में सामाजिक जीवन का मुख्य नियम न बन जायगी।

हम आगामी अध्यायों में निःसम्पत्ती-करण के व्यावहारिक रूप पर विचार करेंगे। इन लक्षणों से हमें यह विश्वास होता है कि जब क्रान्ति वर्तमान प्रणाली की आधारभूत शक्ति को नष्ट कर देगी तो हमारा प्रथम कर्तव्य यह होगा कि हम अविलम्ब समाजवाद को ग्रहण कर लें। परन्तु हमारा यह समाजवाद अराजक या बिना किसी राज्य-शासन के स्वतंत्र लोगों का समाजवाद होगा। हमारा समाजवाद मानवी-जाति के युग-युग में प्रचलित दो आदर्शों—आर्थिक और राजनैतिक स्वाधीनताका सम्मिश्रण होगा।

२

जब हम अपने राजनैतिक संगठन को अराजक रूप देते हैं तो हम मानवीय उन्नति की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते हैं। यूरोपीय समाजों ने जब कभी उन्नति की है तब उन्होंने राज-सत्ता के जुए को अपने कन्धों से उतार फेंका है, और उसके स्थान में वैयक्तिक सिद्धान्तों पर आधार रखनेवाली प्रणाली की स्थापना की है। इतिहास साक्षी है कि थोड़ी या बहुत जब कभी क्रान्ति हुई तब पुरानी सरकारें उखाड़ फेंकी गईं। उस समय आर्थिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार की उन्नति हुई। 'कम्यूनो' (संघों) के स्वतंत्र होने के पश्चात् भी ऐसा ही हुआ। उस समय व्यवसायी संघों ने जितनी उन्नति की उतनी पहले कभी न की थी। उस महान् किसान-विप्लव के पश्चात् भी ऐसा ही हुआ। रिफार्मेशन (सुधार) आया और 'पोप' की शक्ति नाममात्र को रह गई। अटलाण्टिक महासागर के उस पार पुरानी दुनिया के उस असंतुष्ट समाज में भी ऐसा ही हुआ, जो थोड़े समय के लिए स्वतंत्र हो गया था।

और यदि वर्तमान सभ्य जातियों के विकास को हम ध्यान से देखें तो हमें बिना सन्देह एक ऐसा आन्दोलन दिखाई देता है जो सरकारों के कार्यक्षेत्र को सीमित करने की ओर अधिकाधिक झुकता जाता है, और व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देता जाता है।

यह विकास हमारी आँखों के सामने हो रहा है। यद्यपि यह विकास

उन पुरानी संस्थाओं के कूड़े-करकट से तथा पुराने मिथ्या-विश्वासों से लदा हुआ है, तथापि अन्य दूसरे विकासों के समान उन प्राचीन विघ्न-बाधाओं को, जो कि रास्ते को रोकती हैं, उखाड़ फेंकने के लिए वह केवल एक क्रान्ति की प्रतीक्षा कर रहा है, ताकि फिर से निर्माण किये जाने वाले समाज में वह पूर्ण क्षेत्र पा सके।

मनुष्य बहुत समय तक एक असाध्य समस्या को हल करने का प्रयत्न करता रहा है। वह चाहता है कि एक ऐसी राज्य-संस्था या सरकार बन जाय जो व्यक्ति से बल-पूर्वक आज्ञापालन भी कराये, और साथ ही समाज की सेवक भी बनी रहे। परन्तु ऐसी सरकार बन नहीं सकती। अन्तत वह प्रत्येक प्रकार की सरकार से ही अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न करता है। वह समान उद्देश्य रखनेवाले व्यक्तियों और संघों के बीच स्वेच्छापूर्ण सहयोग और इक़रार क़ायम करके अपने संगठन की आवश्यकता को पूर्ण करने लगता है। प्रत्येक छोटे से-छोटे प्रदेश की स्वाधीनता आवश्यक हो जाती है। बहुधा वर्तमान राज्यों की सीमाओं का उल्लंघन करते हुए हुए सार्वजनिक हित के लिए आपसी समझौता क़ानून का स्थान ले लेता है।

पहले जो कुछ राज्य का कर्तव्य समझा जाता था, वह आज संदिग्ध है। राज्य के विना भी प्रबन्ध अधिक सरलता और संतोष पूर्वक हो जाता है। इस दिशा में अबतक जो उन्नति हुई है उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य जाति की प्रवृत्ति राज्य-संस्था को मिटा देने की ओर है। वास्तव में अन्याय, अत्याचार और एकाधिकार का मूल कारण राज्य ही है।

अब भी हमें ऐसे जगत् की झाँकी मिल सकती है जहाँ मनुष्य-मनुष्य में सम्बन्ध क़ायम रखने वाली चीज़ क़ानून नहीं, वल्कि सामाजिक रीति-रिवाज हैं। हम सबको इस बात की ज़रूरत महसूस होती है कि हम अपने पड़ोसियों का सहारा, उनकी मदद और उनकी सहानुभूति चाहें।

हाँ, यह ज़रूर है कि राज्य-हीन समाज की कल्पना पर उतनी ही आपत्ति की जायगी जितनी विना व्यक्तिगत पूंजीवाले समाज पर। बात यह है कि बचपन से हमें राज्य को एक तरह का ईश्वर समझना सिखाया जाता है। पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक यही शिक्षा दी जाती है कि राज्य में विश्वास रक्खो और उसे माई-बाप समझो।* इस भ्रम को बनाये रखने के लिए बड़े भारी तत्त्वज्ञान की रचना की जाती है। सारी राजनीति का आधार इस एक सिद्धान्त पर क़ायम किया जाता है। और हर-एक राजनीतिज्ञ जब रंग-मंच पर आता है तो उसके विचार चाहे कुछ भी हों वह जनता से यह कहे बिना तो नहीं रहता कि बस मेरे दल के हाथ में सत्ता दे दो, जिन दुःखों के मारे तुम मरे जाते हो, उन दुःखों को हम दूर कर देंगे।

ग़रज़ यह कि जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारे सारे काम इस एक विचार की प्रेरणा से होते हैं। आप किसी भी पुस्तक को, फिर चाहे वह समाज विज्ञान पर हो चाहे क़ानून पर हो, खोल लीजिए। आप देखेंगे कि उसमें राज्य के संगठन और उसकी कार्यवाहियों को इतना अधिक स्थान दे दिया जाता है कि लोग यह मानने लग जाते हैं कि संसार में सिवाय राज्य और राजनीतिज्ञों के और कुछ है ही नहीं।

अख़बार भी कई तरह से हमें यही पाठ पढ़ाते हैं। राज्यसभाओं के वादविवाद और राजनैतिक षडयन्त्रों पर तो कालम-के-कालम रंग दिये जाते हैं और राष्ट्र के विशाल दैनिक जीवन को इधर-उधर या तो आर्थिक विषयों वाले स्तम्भों में या मार-पीट और दुराचार के मुक़दमों के हाल-चाल में जगह दी जाती है। अख़बार पढ़ने से तो उन असंख्य नर-नारियों का कुछ ख़याल ही नहीं आता जो जीते हैं और मरते हैं, जिन्हें दुःख होता है,

* क्रोपाटकिन ने जब यह बात लिखी थी तबसे अवस्था बहुत ज़्यादा बदल गई है। अब तो विश्व-विद्यालयों में राजनीति के विद्यार्थियों के लिए स्वतंत्र गवेषणा का विस्तृत क्षेत्र खुला है।

जो काम करते हैं और ख़र्च करते हैं, और जो विचार करते हैं और पैदा करते हैं। मुट्ठीभर आदमियों को इतना महत्व दे दिया जाता है कि उनकी परछाईं के अन्धकार में और हमारे अज्ञान के अँधेरे में सारा मानव-समाज छिप जाता है।

परन्तु ज्यों ही हम छापेखाने से निकल कर जीवन के मैदान में पहुँचते हैं और समाज पर दृष्टिपात करते हैं तो यह देख कर हमें आश्चर्य होता है कि राज्य कितनी नगण्य वस्तु है। कौन नहीं जानता कि लाखों किसान जीवन-भर यह अनुभव नहीं कर पाते कि राज्य किस चिड़िया का नाम है, वह सिर्फ़ इतना जानता है कि हमको दबा कर कोई भारी कर वसूल करता है। रोज करोड़ों का लेन-देन सरकार के हस्तक्षेप के बिना होता है। व्यापार और विनिमय का काम होता ही इस ढंग से है कि यदि एक पक्ष समझौते को तोड़ने पर तुल जाय तो राज्य की सहायता माँगने से दूसरे पक्ष को कोई लाभ नहीं हो सकता। व्यवसाय को समझनेवाले किसी भी आदमी से बात कीजिए, तो आपको मालूम हो जायगा कि यदि परस्पर विश्वास न हो तो व्यापारियों का रोज़मर्रा का कारोबार सर्वथा असम्भव हो जायगा। अपना वचन पालन करने की आदत और अपनी साख बनाये रखने की चिन्ता से यह आपस की ईमानदारी क़ायम रहती है। जिस आदमी को बडे बडे नाम देकर दूषित दवाइयों से ग्राहकों को ज़हर खिलाने में जरा भी आत्म-ग्लानि नहीं होती उसे भी दूसरों को दिये हुए समय पर उनसे मिलकर अपनी प्रतिष्ठा क़ायम रखने का ख़याल रहता है। अब अगर इस गये-बीते जमाने में भी यह सदाचार इस दर्जे तक बढ़ पाया है तो इसमें तो शक ही क्या है कि जब सिर्फ़ रुपया कमाना ही काम करने की एकमात्र प्रेरणा और एकमात्र उद्देश न रहेगा और समाज का आधार दूसरों की कमाई का फल हड़प कर जाना ही न रह जायगा, तो उस समय इस सदाचार की तब प्रगति होगी।

एक और बात मार्के की है। लोग अपने-अपने बूते पर अधिकाधिक साहस के काम करते जा रहे हैं, और सब प्रकार के स्वतंत्र संगठनों का असाधारण विकास हो रहा है ये संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। इनका क्षेत्र विशाल होता जा रहा है। वे एक-दूसरे से बड़ी आसानी से मिल जाते हैं और वे सभ्य-समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के प्रमाण हैं। इनमें ख़ास बात यह है कि वे बड़े लाभदायक ढंग से राज्य के हस्तक्षेप की गुञ्जायश नहीं रहने देते। इस कारण उन्हें समाज के जीवन का महत्वपूर्ण अंग समझकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। अगर आज ये संगठन जीवन की सब दिशाओं में फैले हुए नहीं हैं तो इसका कारण यह है कि उनके रास्ते मे मज़दूरों की दरिद्रता, समाज की फूट, व्यक्तिगत पूँजी और राज्य जैसी ज़बरदस्त रुकावटें मौजूद हैं। इन रुकावटों को दूर कर दीजिए, फिर देखिए कि कितनी जल्दी सभ्य-समाज के महान् कार्य-क्षेत्र में इन संगठनों का जाल बिछ जाता है।

पिछले पचास वर्षों के इतिहास से इस बात का सजीव प्रमाण मिलता है कि प्रतिनिधि-शासन उसे सौंपे हुए सारे कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है। थोड़े दिन में यह कहा जायगा कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही प्रतिनिधि-शासन-वाद की क़ब्र खुद चुकी थी। प्रतिनिधि-सत्तावाद की यह असमर्थता, ये त्रुटियाँ और अन्दरूनी बुराइयाँ है भी सब पर प्रकट। असल में यह है भी बेहूदा-सी बात कि मुट्ठी-भर आदमियों को मुक़र्रर करके उनसे कह दिया जाय कि तुममें से किसी को कुछ आता-जाता तो नहीं है, फिर भी हमारे लिए क़ानून ऐसे बनादो जिनसे हमारे सब काम-काज ठीक-ठीक चलते रहें। अब तो हम देखने लगे हैं कि बहुमत पर चलनेवाले राज्य का अर्थ ही यह होता है कि सभाओं और निर्वाचन-समितियों में जिन मौक़ा-परस्त लोगों का बहुमत होता है उनके हाथों में देश का सब कारोबार सौंप दिया जाय, अर्थात् जिनकी अपनी कोई राय नहीं होती उनका बोल-बाला रहे।

मानव-समाज को अब नये-नये रास्ते मिलते जा रहे हैं। डाकियों के संगठन, रेलवे-मजदूर-संघ और पीडित-सभाओं के उदाहरणों से यह प्रतीत होने लगा है कि क़ानून के बजाय स्वेच्छापूर्वक समझौते से मामले ज़्यादा अच्छी तरह हल होते हैं। आज भी भिन्न भिन्न और दूर-दूर बिखरे हुए समुदाय किसी उद्देश्य से परस्पर संगठित होना चाहते हैं तो वे किसी अन्तर्राष्ट्रीय पार्लमेण्ट का चुनाव न करके दूसरे ही ढंग से काम लेते हैं। जहाँ प्रत्यक्ष मिलकर या पत्र-द्वारा समझौता संभव नही होता वहाँ विवाद-ग्रस्त विषय के जानकार प्रतिनिधि भेजकर उनसे कह दिया जाता है कि अमुक-अमुक मामले में समझौता करने की कोशिश करना। अपनी जेब में क़ानून धरकर लाने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि तस्फ़िये की कोई ऐसी सूरत होनी चाहिए जिसे मानना या न मानना हमारे हाथ में हो।

यूरोप और अमेरिका की बड़ी-बड़ी औद्योगिक कंपनियों और अन्य सभाओं का यही तरीक़ा है। स्वतन्त्र समाज का भी यही तरीक़ा होगा। निरंकुश शासन के साथ-साथ गुलामी का होना ज़रूरी था। मज़दूरी देकर ग़रीबों का रक्त चूसनेवाले पूंजीवाद के साथ प्रतिनिधि-शासन का ढकोसला ही शोभा देता है। परन्तु जब समाज बन्धन-मुक्त होकर अपना सम्मिलित उत्तराधिकार पुन प्राप्त करेगा तब भिन्न-भिन्न समूहों और समूह संघों का नया संगठन बनाकर उसे नये अर्थ शास्त्र के अनुकूल बनाना पडेगा।

असल बात तो यह है कि जैसी आर्थिक व्यवस्था हो वैसी ही राज-नैतिक संस्था बनती है। यदि राजनैतिक जीवन का कोई नया तरीक़ा साथ साथ जारी नहीं किया जायगा तो व्यक्तिगत सम्पत्ति पर हाथ डालना मुश्किल होगा।

[४]

निःसम्पत्तीकरण

१

राथ्सचाइल्ड के बारे में कहा जाता है कि जब उसने १८४८ की क्रान्ति के कारण अपने धन-दौलत को ख़तरे में देखा तो उसे एक चाल सूझी। उसने कहा—"मैं मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता हूँ कि मेरी सम्पत्ति दूसरों को ग़रीब बना कर इकट्ठी हुई है। यदि कल ही मैं उसे यूरोप के करोड़ों निवासियों में बाँट दूँ, तो हर एक के हिस्से में तीन रुपयों से अधिक नहीं आयँगे। ठीक है, अब जो कोई मुझसे माँगने आयेगा उसीको तीन रुपया दे दूँगा।" इस वचन को प्रकाशित करके वह धनपति सदा की भाँति चुपचाप बाज़ार में घूमने निकल पड़ा। तीन-चार राहगीरों ने अपना-अपना हिस्सा माँगा। उसने उलाहने की हँसी के साथ रुपये दे दिये। उसकी युक्ति चल निकली, और उस सेठ का धन सेठ के ही घर में रह गया।

ठीक यही दलील मध्यम श्रेणी के चंद लोग देते हैं। वे कहा करते हैं—"अच्छा, आप तो निःसम्पत्तीकरण चाहते हैं न? यानी, यह कि लोगों के लबादे छीन कर एक जगह ढेर लगा दिया जाय और फिर हरएक आदमी अपनी मर्ज़ी से उठा ले जाय और अच्छे-बुरे के लिए लड़ता रहे!"

परन्तु ऐसे मज़ाक जितने असंगत होते हैं उतने ही शरारत-भरे भी होते हैं। हम यह नहीं चाहते कि लबादों का नया बटवारा किया जाय

वैसे सरदी में ठिठुरनेवाले लोगों का तो इसमें फ़ायदा ही है। न हम धनिक व्यक्तियों की दौलत ही वाँट देना चाहते हैं। परन्तु हम इस प्रकार की व्यवस्था अवश्य कर देना चाहते हैं कि जिससे संसार में जन्म लेनेवाले प्रत्येक मनुष्य को कम-से-कम नीचे लिखी सुविधायें तो प्राप्त हो ही जायँ।

पहली यह कि वह कोई उपयोगी धन्धा सीख कर उसमें प्रवीण हो सके, और दूसरी यह कि वह विना किसी मालिक की इजाज़त के और विना किसी भूस्वामी को अपनी कमाई का अधिकांश भाग अर्पण किये स्वतन्त्रतापूर्वक अपना रोज़गार किया करे। रही बात उस सम्पत्ति की जो धनवान व्यक्तियों के कब्जे में है, सो वह सम्मिलित उत्पादन के संगठन में काम आयगी।

जिस दिन मजदूर खेती कर सकेगा, परन्तु उसे अपनी दावार का आधा हिस्सा किसी और को नहीं देना पड़ेगा, जिस दिन ज़मीन को उपजाऊ बनाने वाली कलों पर किसान की स्वतन्त्र-सत्ता होगी, और जिस दिन कारखाने का श्रमजीवी किसी पूँजीपति के लिए नहीं बल्कि समाज के लिए माल तैयार करेगा, उस दिन मज़दूरों के पेट में पूरी रोटी और शरीर पर पूरा कपड़ा होगा। उस दिन न ग़रीबों का रक्त शोषण करने वाले होंगे और न किसी को ज़रासी मज़दूरी पर अपनी सारी उत्पादक-शक्ति बेचनी पड़ेगी।

समालोचक कहेंगे—"यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु बाहर से आनेवाले पूँजीपतियों का क्या करोगे? किसी को चीन में जाकर दौलत जमा करने और फिर तुम्हारे यहाँ आकर बस जाने से कैसे रोकोगे? ऐसे आदमी बहुतसे नौकर-चाकर रक्खेंगे और उन्हें पैसे का गुलाम बनाकर उन्हींके सहारे मौज करते रहेंगे तो, तुम उन्हें कैसे रोकोगे? दुनिया-भर में एक ही साथ तो क्रान्ति होने से रही, तो फिर क्या अपने देश की सारी सीमाओं पर चौकियाँ बिठा कर सब भीतर आने वालों की तला-

शियाँ लोगे और उनके पास का रुपया-पैसा छीन लोगे ? अराजक सिपाही यात्रियों पर गोलियाँ बरसायगे, यह दृश्य तो वढ़िया रहेगा !"

परन्तु इस दलील की जड़ में ही बड़ी भूल है। ऐसा तर्क करने वाले यह पता लगाने का कष्ट नहीं उठाते कि आखिर धनवानों की दौलत आती कहाँ से है। परन्तु थोडे-से विचार से ही उन्हें मालूम हो सकता है कि इस दौलत की शुरुआत ग़रीबों की ग़रीबी से ही होती है। जव कोई दरिद्र ही नहीं रहेगा, तो उसका खून चूसने धनवान कहाँ से आयँगे ?

वड़ी-वड़ी सम्पति तो मध्यकाल में ही बनने लगी थी। ज़रा उस समय की अवस्था पर दृष्टिपात करें। उस समय एक सरदार साहव एक उर्वरा भूमि पर अधिकार जमा लेते हैं। परन्तु जवतक वहाँ आवादी नहीं होती तबतक सरदार 'साहव धनवान् नहीं वनते। जमीन से उन्हें कुछ भी नहीं मिलता, मानों उन्हें चन्द्रलोक में जागीर मिली हो। अव सरदार साहब मालदार होने की तरकीव सोचते हैं। ग़रीब किसानों की तलाश करते हैं। यदि हरएक किसान के पास जमीन होती, कर न देना पड़ता, और खेती के लिए औज़ार और दूसरा सामान भी होता, तो सरदार साहव की ज़मीन कौन जोतता ? हरएक अपनी-अपनी धरती सम्हालता। परन्तु वहाँ तो युद्ध, अकाल औ मरी के मारे हजारों ग़रीव ऐसे मौजूद थे, जिनके पास न बैल थे न हल। मध्य-युग में लोहा तो महँगा था ही, खेती के वैल और भी महँगे होते थे। इन सब ग़रीबों को अपनी हालत सुधारने की फ़िक्र होती थी। भाग्य से, एक दिन सरकार साहव की कोठी के बाहर सड़क पर एक सूचना टंगी हुई मिलती है, उससे मालूम होता है कि जो मज़दूर उस जागीर में वसना चाहते हों उन्हें अपनी कुटिया वनाने और खेती करने के लिए औज़ार और सामान, और कुछ वर्ष के लिए ज़मीन मुफ्त मिलेगी।

बस वे अभागे ग़रीब आकर सरदार साहब की ज़मीन पर बस जाते हैं। वे सड़कें बना लेते हैं, दलदल सुखा लेते हैं, और गाँव बसा लेते हैं।

नौ-दस वर्ष में सरदार साहब कर लगाना शुरू कर देते हैं। फिर पाँच वर्ष बाद लगान बढ़ा देते हैं और फिर दूना कर देते हैं। किसान को इससे अच्छी हालत और कहीं नसीब नहीं होती, इसलिए वह इन सब शर्तों को मंजूर कर लेता है। शनैः-शनैः सरदार साहब अपने ही बनाये क़ानूनों की मदद से किसान की दरिद्रता और उसीके द्वारा अपनी सम्पन्नता स्थायी बना लेते हैं। परन्तु किसान सिर्फ़ जागीरदार का ही शिकार नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसकी विपन्नता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों गाँवों पर टूट पडनेवाले सूदख़ोरों की संख्या भी बढती जाती है। यह तो हुई मध्य-युग की बात। पर आज कौनसी हालत सुधर गई है? अगर किसान के पास यथेच्छ खेती करने के लिए बिना लगान की ज़मीन हो तो क्या वह किसी उमराव बहादुर को पट्टा-नामधारी कागज़ के चिथड़े के बदले में दो ढाई सौ रुपया या पैदावार का आधा हिस्सा दे देगा? परन्तु बेचारा करे तो क्या करे? उसके पास कुछ भी तो नहीं। उसे तो अपना पेट पालना है। इस-लिए खुद घोर परिश्रम करना और भूस्वामी को मालामाल बनाना, यह भी उसे स्वीकार है। इस प्रकार चाहे वर्तमान समय को लीजिए चाहे मध्यकाल को, कृषक की दरिद्रता भूस्वामी के वैभव की जननी रही है।

२

पूंजीपति की पूँजी भी वहीं से आती है। मध्यम-श्रेणी के एक नाग-रिक का उदाहरण लीजिए। मान लीजिए उसके पास येन-केन-प्रकारेण दो-तीन लाख रुपया हो गया। यदि वह इस अन्धाधुन्ध भोग विलास के ज़माने में बीस-तीस हज़ार रुपया हर साल खर्च कर दे तो दस वर्ष के अन्त में उसके पास फूटी कौडी भी न बच रहे। परन्तु वह तो ठहरा व्यावहारिक बुद्धि का आदमी। वह अपनी पूँजी तो ज्यों-की-त्यों बनाये रखना पसंद करता है। ऊपर से एक खाली आराम की आमदनी भी निकाल लेना चाहता है।

वर्तमान समय में यह कुछ कठिन भी नहीं है। कारण स्पष्ट है।

शहरों और गाँवों में ऐसे असंख्य मज़दूर विद्यमान रहते हैं जिनके पास महीना-भर तो क्या एक पखवाड़े की जीविका का साधन भी नहीं होता। बस हमारे परोपकारी नागरिक महाशय एक कारखाना खोल देते हैं। अगर उनकी व्यावसायिक योग्यता की ख्याति भी हो तो कोठी (बैंक) वाले भी उन्हें झट दो-चार लाख रुपया उधार दे देंगे। इतनी पूँजी से वह महाशय आसानी से पाँचसौ स्त्री पुरुषों पर शासन कर सकते हैं। घता-हुए, अगर देहात के सब स्त्री-पुरुषों को भरपेट रोटी मिलती हो और उनकी रोज़मर्रा की आवश्यकतायें पूरी हो जाती हों, तो चार आनेका माल पैदा करके दो आने रोज़ की मज़दूरी लेकर सेठ साहब की गुलामी कौन करे?

परन्तु कौन नहीं जानता कि हमारे नगरों की गरीब बस्तियों में और पड़ौस के गाँवों में बेशुमार अभागे मोहताज भरे पड़े हैं, जिनके बच्चे रोटी के लिए बिलबिलाया करते हैं। इस कारण कारख़ाना खड़ा भी नहीं होने पाता कि मजदूरी के उम्मेदवारों की भीड़ लग जाती है। सौ की माँग होती है और तीन सौ दरवाजे पर आखड़े होते हैं। ऐसी दशा में यदि मालिक में मामूली योग्यता भी हो तो वह कारखाना जारी होने के समय से ही प्रत्येक मज़दूर के हाथ से छः सौ रुपया साल तो कमा ही लेता है।

इस प्रकार वह खासी दौलत जमा कर लेता है। वह यदि कोई अच्छी आमदनी का धन्धा ढूंढ ले और उसमें कुछ व्यवसाय-बुद्धि भी हो, तब तो वह मजदूरों की संख्या दुगनी करके शीघ्र ही मालामाल हो जायगा। इस प्रकार वह बड़ा आदमी बन जाता है। अब तो वह बड़े-बड़े हाकिमों वकीलों और सेठ साहूकारों को भोज दे सकता है। रुपये के पास रुपया आता ही है। धीरे-धीरे वह अपनी सन्तान के लिए भी जगह कर लेता है, और आगे चलकर सरकार से भी उसे पुलिस या फौज का ठेका मिल जाता है। और यदि कहीं लड़ाई छिड़ गई या लड़ाई की कहीं अफ़वाह ही उड़ गई या बाज़ार में सट्टे का ज़ोर हो गया तो उसके पौ-बारह हैं।

अमेरिका में अधिकांश क्रोड़पतियों की सम्पत्ति इस प्रकार राज्य की सहायता से बड़े पैमाने पर होने वाली बदमाशी का ही परिणाम है। यूरोप में भी दस में से नौ आदमी इन्हीं साधनों से धनवान बने हैं। असल में लखपती होने का दूसरा तरीका ही नहीं है।

बस धनवान होने का रहस्य संक्षेप में यह है कि भूखों और दरिद्रों को तलाश करके उन्हें दो आने रोज़ की मज़दूरी पर रख लो और कमालो उनके द्वारा तीन रुपये रोज़। इस तरह जब धन इकट्ठा हो जाय तो राज्य की सहायता से कोई अच्छा सट्टा करके पूँजी बढ़ा लो।

अब हम जान गये कि जबतक बचत के पैसे भूखों का खून चूसने के काम में न लगाये जायँ तबतक ख़ाली बचत से दौलत जमा नहीं हो सकती। ऐसी दशा में अर्थशास्त्रियों की इस दलील में कोई सार नहीं रहता कि, दूरन्देशी और किफ़ायत से ही छोटी-छोटी पूँजियाँ इकट्ठी होती।

उदाहरण के लिये एक मोची को लीजिए। मान लीजिए कि उसे मजदूरी अच्छी मिलती है। ग्राहक भी काफ़ी हैं। और अत्यन्त मितव्ययता के द्वारा वह ३०) रुपया मासिक तक बचा लेता है। यह भी मान लीजिए कि वह न कभी बीमार होता है न भूखा रहता है न शादी करता है न बच्चे होते हैं। उसे क्षय भी नहीं होता। ग़रज़, जो जी चाहे, मान लीजिए। फिर भी पचास वर्ष की अवस्था में उसके पास दस-बारह हजार रुपयों से अधिक जमा नहीं होते। इससे उसका बुढ़ापा नहीं कट सकता। निःसन्देह दौलत इस प्रकार जमा नहीं हुआ करती। परन्तु मानलो वही मोची अपनी बचत तो सैविंग्स-बैंक में जमा कराकर व्याज पैदा करता रहे और इधर किसी ग़रीब के छोकरे को जूता बनाना सिखाने के लिए नाममात्र की मज़दूरी पर नौकर रख ले। पाँच वर्ष में ग़रीब तो समझे मेरा लड़का रोज़गार सीख गया है और मोची को सोने की चिड़िया हाथ लग गई।

यदि धन्धा अच्छा चल गया तो मोची वैसे ही एक-दो लड़के और

नौकर रख लेगा। धीरे-धीरे कुछ मज़दूर उसके यहाँ आ रहेंगे। इन बेचारों को तीन रुपया रोज़ के बदले तीन आने भी मिल गये तो वे ग़नीमत समझेंगे। यदि मोचीराज के ग्रह अच्छे हुए अर्थात् उसमें चालाकी और कमीनापन काफ़ी हुआ, तो वह अपने परिश्रम के फल के सिवा, अपने आदमियों के द्वारा दस-बारह रुपये रोज़ और कमा सकता है। फिर वह अपना कार-बार बढ़ाकर धीरे-धीरे धनवान हो जाता है और फिर उसे जीवन-सामग्री के बारे में कंजूसी करने की आवश्यक्ता नहीं रहती। इतना ही नहीं, वह अपनी सन्तान के लिए भी ख़ासी दौलत छोड सकता है। इसी को लोग मितव्ययिता कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह और कुछ नहीं निरा ग़रीबों को पीसना है।

कहा जाता है कि व्यापार पर यह नियम लागू नहीं होता। यदि कोई आदमी चीन से चाय ख़रीदकर फ्रांस ले जाता है और वहाँ अपनी मूल पूँजी पर तीस रुपया सैकड़ा मुनाफ़ा पैदा कर लेता है, तो बताइये उसने किसका ख़ून चूसा?

परन्तु बात यहाँ भी ठीक वैसी ही है। अगर सेठ साहब माल की गाँठें अपनी पीठ पर लाद कर ले जाते तब तो बात ठीक थी। प्राचीनकाल में वैदेशिक व्यापार ठीक इसी प्रकार हुआ करता था और इसीलिए उस समय आज की भाँति किसी के पास अपरिमित सम्पत्ति भी इकट्ठी नहीं होती थी। उस समय सोने के सिक्के उन्हीं इने-गिने व्यापारियों के पास मिला करते थे जो भयानक जल-यात्राएँ करते और बहुत दिनों के बाद घर लौटते थे। इतनी जोखमें उठाने की प्रेरणा उन्हें अर्थ-लोभ की अपेक्षा यात्रा और साहस प्रेम के कारण अधिक होती थी।

आजकल तो मामला बिलकुल सीधा हो गया है। जिस व्यापारी के पास कुछ पूँजी है, उसे धनवान बनने के लिए अपनी गद्दी पर से हिलने की भी ज़रूरत नहीं है। वह अपने आढ़तियों को तार देकर दो-तीन हज़ार मन ग़ल्ला ख़रीद लेता है। तीन-चार महीने में माल जहाज़ में भरकर

उसके घर आ पहुँचता है। बीमा करा लेने के कारण माल और जहाज को कोई जोखम भी नहीं रहती। लाख रुपये पर बीस-पचीस हज़ार रुपया वह बड़ी आसानी से कमा लेता है। अब यह सवाल उठ सकता है कि सात समुद्र पार जाने, यात्रा की कठिनाइयाँ और घोर परिश्रम सहन करने, तथा थोड़े-से वेतन के लिए अपनी जान जोखम में डालनेवाले मनुष्य सेठ को कहाँ से मिल जाते हैं? और बन्दरगाह पर नाममात्र की मज़दूरी लेकर जहाज़ को भरने और ख़ाली करने के लिए क्यों राज़ी हो जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि मरता क्या नहीं करता? ज़रा बंदरगाहों, खानों की दूकानों और सरायों में जाकर देखिए। वहाँ आपको भीड़-की-भीड़ दिखाई देगी। ये बेचारे प्रातःकाल से घेरा लगाये इस आशा में खड़े रहते हैं कि उन्हें जहाज पर काम मिल जायगा। नाविकों को देखो तो उन्हें भी महीनों प्रतीक्षा करने पर जब दीर्घ जलयात्रा के लिए नौकरी मिल जाती है तब वे भी बड़े प्रसन्न होते हैं। उनका सारा जीवन समुद्र पर ही व्यतीत होता है। और अन्त में वहीं उनकी समाधि भी बनती है। उनके घरों में प्रवेश करके देखो तो उनके स्त्री-बच्चों के शरीर पर तो चिथड़े मिलेंगे और यह मालूम न हो सकेगा कि अन्नदाता के लौटने तक वे कैसे गुजर करते हैं। कहिए मिल गया अब तो आपके सवाल का जवाब? आप उदाहरण पर-उदाहरण लेते चले जाइए। कहीं से भी चुन लीजिए। छोटी-बड़ी किसी भी तरह की दौलत का मूल ढूँढिए। भले ही उस धन की उत्पत्ति व्यापार से हुई हो, भले ही उद्योग धन्धे या भूमि से हुई हो। सर्वत्र आप यही देखेंगे कि धनवानों का धन दरिद्रों की निर्धनता से पैदा होता है। यही कारण है कि राज्यहीन समाज में किसी करोड़पति के आकर बस जाने का भय नहीं है। यदि समाज के प्रत्येक मनुष्य को यह ज्ञात हो कि कुछ घण्टे उत्पादक परिश्रम करने से उसे सब सुख भोगने का अधिकार और कला तथा विज्ञान के आनन्द की सुविधा प्राप्त हो सकती है, तो फिर कौन भूखों मरकर मज़दूरी करने के लिए तैयार होगा?

कौन किसी करोड़पति को मालामाल करने के लिए राजी-खुशी से काम करेगा ? उस समय सेठ साहब की मुहरें केवल धातु के टुकड़े रह जायँगे। उनसे और काम निकल सकेंगे परन्तु रुपया पैदा नहीं हो सकेगा।

यहाँ नि:सम्पत्तीकरण की सीमा का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। हम किसी से उसका कोट छीनना नहीं चाहते। परन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि जिन चीज़ों के न होने से मजदूर अपना रक्तशोषण करने-वालों के शिकार आसानी से बन जाते हैं, वे चीजें उन्हें ज़रूर मिल जायँ। हम इस बात का भी भरसक प्रयत्न करेंगे कि किसीको किसी चीज़ की कमी न रहे और एक भी मनुष्य को अपनी और अपने बाल-बच्चों की आजीविका मात्र के लिए अपना बाहुबल बेचना न पडे। निःसम्पत्ती-करण से हमारा यही अर्थ है। क्रान्ति के समय ऐसा करना हमारा-फ़र्ज़ होगा। उस क्रान्ति की प्रतीक्षा सौ-दो सौ वर्ष नहीं करनी पड़ेगी। वह आनेवाली है और बहुत जल्द आनेवाली है।

३

स्वतंत्र स्वभाव के लोग और वे लोग, जिनका सर्वोपरि आदर्श केवल आलस्य नहीं है, अराजकता और विशेषतः निःसम्पत्तीकरण के विचारों की ओर बड़ी सहानुभूति रखते हैं। फिर भी वे यह चेतावनी देते रहते हैं कि इस बात का ध्यान रखना कि "तुम बहुत आगे न बढ़ जाओ। मनुष्य-जाति एक दिन में बदल नहीं सकती, इसलिए तुम अराजकता और नि:सम्पत्तीकरण की अपनी योजनाओं के विषय में बहुत जल्दी न करना, अन्यथा भय है कि तुम किसी भी स्थायी परिणाम को प्राप्त न कर सकोगे।"

परन्तु निःसम्पत्तीकरण के विषय में ख़तरा तो दूसरी ही बात का है। ख़तरा तो इस बात का है कि हम इस मामले में काफ़ी आगे न बढ़ सकेंगे, और बड़े पैमाने पर स्थायी नि:सम्पत्तीकरण न कर पायंगे। कहीं अधबीच में ही क्रान्ति का जोश रुक न जावे। कहीं क्रान्ति अर्धसफल होकर ही समाप्त न हो जावे। अर्धसफल क्रान्ति से कोई भी सन्तुष्ट न

हो सकेगा। समाज में भयंकर गड़बड़ी पैदा हो जायगी और उसका सब कामकाज बन्द हो जायगा। उस क्रान्ति में कुछ भी जीवन-शक्ति बाक़ी न रहेगी। सर्वत्र केवल असन्तोष फैल जायगा और प्रतिक्रिया की सफलता का मार्ग अनिवार्यरूप से तैयार हो जायगा।

वर्तमान राज्य-संस्था में कुछ ऐसे सम्बन्ध क़ायम हो गये हैं कि यदि उनपर केवल आंशिक प्रहार होगा तो उनका व्यावहारिक सुधार होना असम्भव है। हमारे आर्थिक संगठन में पुर्ज़ों में पुर्जा फँसा हुआ है। यह यंत्रजाल ऐसा पेचीदा और परस्पर सम्बद्ध है कि इसके किसी पुर्जे को सुधारने के लिए सारी मशीन को छेड़े बिना काम नहीं चलेगा। ज्योंही किसी जगह निःसम्पत्तीकरण का प्रयत्न किया जायगा त्योंही यह बात स्पष्ट होजायगी।

कल्पना कीजिए कि किसी देश में निःसम्पत्तीकरण थोड़े अंश में किया गया। उदाहरण के लिए, केवल बड़े भूस्वामियों की जायदाद सार्वजनिक बना दी गई और कारख़ानों को अछूता छोड़ दिया; या किसी नगर में सारे मकान साम्यवादी पंचायत ने अधिकार में ले लिये परन्तु शेष सब सम्पत्ति व्यक्तियों के पास छोड़ दी गई; या किसी औद्योगिक केन्द्र में कारख़ाने सार्वजनिक कर लिये गये और ज़मीन वैसी ही रहने दी गई।

इन सब अवस्थाओं में नतीजा एक ही होगा। नये ढग पर पुनः संगठन तो हो न सकेगा और औद्योगिक व्यवस्था का भयंकर नाश हो जायगा, उद्योग-धन्धे और लेनदेन बिलकुल रुक जायँगे। इतना होने पर भी न तो ऐसे समाज के दर्शन होंगे जिसका आधार न्याय के साधारण सिद्धान्त हों, और न उस समाज में इतना सामर्थ्य होगा कि वह अपने सब अंगों को शान्तिपूर्ण एकता के धागे में पिरो सके।

यदि कृषि बड़े भूस्वामियों के पंजे से छूट गई, और उद्योग-धन्धे पूँजीपति व्यापारी और बैंकर की ही गुलामी में रहे तो कुछ भी फ़ायदा न होगा। आजकल किसान को भमिपति का लगान देने का ही कष्ट नहीं

है, बल्कि वर्तमान परिस्थिति में वह सब के जुल्मों का शिकार बनता है। जो दूकानदार उससे पाँच आने की मेहनत से बने फावड़े का डेढ़ रुपया वसूल कर लेता है वह भी उसे लूटता है। जिस राज्य का काम बड़े दृढ़ और पवित्र अधिकारों के धारण करनेवाले पदाधिकारियों के बिना चल ही नहीं सकता और जो इसी वास्ते सेना रखता है कि बाजारों पर अधिकार करने या एशिया और अफ्रिका के किसी भाग को लूटने के लिए किसी-न-किसी समय युद्ध करना पड़ेगा वह भी उस किसान को करके भार से दबाना है।

इसके अतिरिक्त किसान को देहातों की आबादी घटने से भी नुक़सान उठाना पड़ता है। विलास-वस्तुओं के कारख़ानों में मिलने-वाली थोड़े दिन की ऊँची मज़दूरी के प्रलोभन से अथवा वहाँ की चहल पहल के आकर्षण से युवक लोग शहरों में चले जाते हैं। आजकल उद्योग धंधों की अस्वाभाविक रक्षा की जाती है, अन्य देशों की औद्योगिक लूट जारी है, शेयरों के व्यपार की प्रथा बढ़ रही है, और ज़मीन का तथा उत्पत्ति के साधनों का सुधारना मुश्किल हो रहा है। इन सारी बातों से कृषि की उन्नति नहीं हो पाती। ज़मीन पर न केवल लगान का ही बोझ लदा हुआ है किन्तु इस लुटेरे समाज की सारी जटिलताओं का भी भार है। इसलिए चाहे ज़मीन मालिकों के हाथ से छीनली जाय, चाहे हर एक आदमी को बिना लगान के ही अपनी पूरी शक्ति से ज़मीन जोतने और फ़सल पैदा करने की स्वतन्त्रता मिल जाय, और, चाहे कृषि थोड़े समय के लिए खूब उन्नति भी कर ले, फिर भी शीघ्र ही वह उसी दलदल में गिर जायगी जिसमें वह आज फँसी हुई है। कठिनाइयां अधिक बढ़ जायँगी और सारा काम फिर से प्रारम्भ करना पड़ेगा।

उद्योग धंधों की भी यही बात है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। यह कल्पना न कीजिए कि किसान ज़मीन के मालिक बन गये बल्कि यह कल्पना कीजिए कि कारख़ाने श्रमिकों के हाथ में आगये। कारख़ानों के

मालिक तो मिट गये, परन्तु भूमिपति के पास भूमि, साहूकार के पास उसका धन, और दूकानदार के पास उसकी दूकानदारी रह गई। श्रमिकों के श्रम पर जीवित रहनेवाले और निकम्मे बीच वाले सारे लोग रह गये। और, सारे अधिकारी वर्ग-सहित राज्यसंस्था भी बनी रही। इस अवस्था में भी उद्योग-धंधे एक दम बद हो जायंगे। किसान लोग तो दरिद्र होंगे। वे तैयार माल ख़रीद न सकेंगे। कच्चा माल कारखानेदारों के पास होगा नहीं। अंशतः व्यापार बंद हो जाने के कारण और प्राय' दुनिया के सब देशों में उद्योग-धंधों के फैल जाने के कारण कारख़ानेदार अपना माल बाहर न भेज सकेंगे। वे लोग परिस्थिति का सामना न कर सकेंगे और हजारों मजदूर बेकार हो जायँगे। इन भूखों मरने वाले लोगों को जो भी रक्त-शोषक व्यक्ति पहले मिल गया, वे उसीके गुलाम बनने को तैयार हो जायंगे। निश्चित काम दिये जाने के वादे पर तो ये लोग पुरानी दासता में भी पड़ने को राज़ी हो जायगे।

अथवा कल्पना कीजिए कि आप भूमिपतियों को निकाल देते हैं और मिलों और कारख़ानों को श्रमिकों के हाथ में दे देते हैं, परन्तु कारखानों की पैदावार को खींच ले जाने वाले और बड़ी-बड़ी मंडियों में ग़ल्ला आटा, गोश्त और किराने का सट्टा करनेवाले बीच के असंख्य लोगों को नहीं हटाते। ऐसी अवस्था में ज्योंही माल की बिक्री कम हो जायगी, ज्योंही बड़े नगरों में रोटी का अभाव हो जायगा, और बड़े औद्योगिक केन्द्रों को अपनी तैयार की हुई विलासिता की वस्तुओं के ख़रीददार नहीं मिलेंगे, त्योंही प्रतिक्रान्ति होकर ही रहेगी। वह लोगों का वध करती हुई, बन्दूकों और गोलियों के साथ क़सबों और गाँवों का सफ़ाया करती हुई, निषेध और निर्वासन का आंतक फैलाती हुई आयगी। फ्रांस में १८१५, १८४८ और १८७१ में यही तो हुआ था।

उन्नत समाज में सब बातें परस्पर-सम्बद्ध होती हैं। सारी व्यवस्था को बदले बिना किसी एक बात का सुधार नहीं हो सकता। इसलिए

जिस दिन कोई राष्ट्र व्यक्तिगत सम्पत्ति के किसी एक प्रकार पर, ज़मीन पर या कारख़ानों पर प्रहार करेगा, तो उसे सब पर प्रहार करना पड़ेगा। क्रान्ति की सफलता के लिए ही यह काम करना पड़ेगा।

इसके अलावा, यदि कोई यह चाहे भी कि क्रान्ति को आंशिक निःसम्पत्तीकरण तक ही सीमित रखा जावे, तो भी असम्भव होगा। एक बार 'व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वर्गीय अधिकार' का सिद्धान्त हिला नहीं कि, न तो कोई बड़ा-से-बड़ा तत्वज्ञान खेतों के गुलामों को जमीन की व्यक्तिगत सम्पत्ति को उखाड़ फेंकने से रोक सकेगा और न कोई बड़ा-से-बड़ा सिद्धान्त मशीन के गुलामों को कारख़ानों की व्यक्तिगत सम्पत्ति को उखाड़ फेंकने से रोक सकेगा।

यदि कोई बड़ा नगर, मान लीजिए कि पेरिस ही, केवल रहने के मकानों या कारख़ानों पर ही अधिकार करके रह जाय, तो उसे यह भी कहना पड़ेगा कि हम पिछले ऋण के व्याज की २०,००००० पौण्ड की रक़म नहीं देंगे और नगर पर ऋणदाता साहूकारों को इसके लिए टेक्स नहीं लगाने देंगे। उस बड़े नगर को बाधित होकर देहाती प्रदेशों से अपना सम्पर्क रखना पड़ेगा। इसका प्रभाव यह होगा कि किसान भी भूमिपति से अवश्य अपना पिण्ड छुड़ाना चाहेंगे। नगरवासियों को भोजन तथा काम मिल सके और सामान का अपव्यय न होने पाये इसलिए रेलों को भी सार्वजनिक बनाना पड़ेगा। अनाज का सट्टा करनेवाली जिस प्रकार की बड़ी कम्पनियों के कारण १७९२ में पेरिस को भूखों मरना पड़ा था, उनसे भी रक्षा करनी पड़ेगी। उसको ज़रूरी सामान अपने गोदामों में भरकर रखने और उसको ठीक-ठीक बांटने का काम भी अपने हाथ में लेना पड़ेगा।

कुछ साम्यवादी लोग फिर भी एक भेद क़ायम रखना चाहते हैं। वे कहते हैं—"भूमि, खानों, मिलों, उद्योग-धंधों का तो निःसम्पत्तीकरण होना ही चाहिए, ये उत्पत्ति के साधन हैं, और इनको सार्वजानिक सम्पत्ति

समझना ठीक है परन्तु खपत की चीज़ें—खाना, कपड़ा और मकानात—व्यक्तिगत सम्पत्ति रहनी चाहिए।"

परन्तु इस सूक्ष्म भेद को जनता खूब समझती है। हम लोग जंगली नहीं है जो जंगलों में केवल वृक्ष-शाखाओं के नीचे रह सकें। सभ्य मनुष्य के लिए तो ऐसा मकान चाहिए जिसमें बैठने-उठने के कमरे हों, खाना पकाने को चूल्हा हो और पलंग सोने को हो। यह तो सत्य है कि निठल्ले के लिए तो ये सब चीजें आलस्य का घर होती हैं। परन्तु श्रमिक के लिए तो उचित रीति से गरम किया हुआ और रोशनीदार कमरा उत्पत्ति का उसी प्रकार साधन है जिस प्रकार कि औजार या मशीन। यहीं तो उसका शरीर आते दिन का काम करने के लिए शक्ति का संग्रह करता है। श्रमिक का विश्राम मशीन की रोज़ाना मरम्मत के बराबर है।

यही दलील भोजन के विषय में और भी अच्छी तरह लागू होती है। उपर्युक्त भेद को क़ायम रखने वाले अर्थशास्त्री कहे जाने वाले लोग भी इस बात से इनकार नहीं करेंगे कि उत्पत्ति के लिए मशीन में जलने वाला कोयला उतना ही आवश्यक है जितना कि कच्चा माल। तो फिर, जिस खुराक के बिना मनुष्यरूपी यन्त्र कुछ भी काम नहीं कर सकता, उसे उन चीज़ों में से कैसे निकाला जा सकता है जो मज़दूर के श्रम के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है? धनाढ्य लोग जो आपस में दावतें उड़ाते हैं, यह ज़रूर विलासिता है। परन्तु श्रमजीवी का भोजन तो उत्पत्ति का वैसा ही भाग है जैसा कि एंजिन में जलनेवाला ईंधन।

वस्त्रों की भी यही बात है। हम लोग जंगली नहीं है। यद्यपि शौक़ीन स्त्रियों के महीन और बढ़िया-बढ़िया कपड़े विलास की वस्तुएं गिनी जायँगी, तथापि उत्पत्ति करनेवाले श्रमिक के लिए कुछ सूती और ऊनी कपड़े की तो ज़रूरत होती ही है। जिस कुरते और पायजामे को पहनकर वह काम करने जाता है और दिन भर का काम करके वह जिस कोट को शरीर

पर डाल लेता है वह तो उसके लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि निहाई के लिए हथौड़ा।

हम चाहे पसन्द करें या न करें लोग तो क्रान्ति का यह अर्थ समझते हैं। ज्योंही वे राज्य का सफ़ाया कर देंगे त्योंही वे सबसे पहले यह उपाय करेंगे कि उन्हें रहने लायक़ अच्छा घर और काफ़ी भोजन-वस्त्र मिलता रहे और पूँजीपतियों को उन्हें कुछ भी न देना पड़े।

जनता का ऐसा करना ठीक भी होगा। उत्पत्ति के साधन और खपत की वस्तुओं के बीच इतने भेद पैदा करने वाले अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा साधारण लोगों के उपाय अधिक विज्ञानानुकूल होंगे। लोग समझते हैं कि इसी स्थान से क्रान्ति का प्रारम्भ होना चाहिए। "मनुष्यजाति की आवश्यकताओं का और उनको पूर्ण करने के आर्थिक साधनों का अध्ययन" ही एक वह विज्ञान है जो सच्चा अर्थविज्ञान (अर्थशास्त्र) कहा जा सकता है, और लोग उसी की नींव डालेंगे।

[५]

भोजन

१

आगामी क्रान्ति को यदि हमें साम्यवादी क्रान्ति बनाना है, तो पूर्ववर्ती सब विप्लवों से वह न केवल अपने उद्देश्य में किन्तु अपने तरीकों में भी भिन्न होगी। नवीन उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी नवीन चाहिए।

फ्रांस का ही उदाहरण लीजिए। वहाँ गत सौ वर्षों में हमने जिन तीन सार्वजनिक आन्दोलनों को देखा है वे परस्पर अनेक बातों में भिन्न हैं, परंतु उनमें एक बात सामान्य है।

इन सब आन्दोलनों में लोगों ने पुराने शासन को पलटने का प्रयत्न किया और इस काम के लिए अपने खून का दरिया बहा दिया। परन्तु युद्ध के कठिन आघात को सहकर भी वे फिर भुला दिये गये। कुछ ऐसे लोगों की, जो किसी-न किसी हद तक सच्चे कहे जा सकते थे, सरकार बनाई गई और उसने नये शासन के संगठन करने का काम लिया। यह सरकार सबसे पहले राजनैतिक प्रश्नों के हल करने में लग गई। वे प्रश्न थे—शासन का पुनः संगठन, व्यवस्था का सुधार, राज्य और धर्म का पृथक्करण, नागरिक स्वतन्त्रता आदि। यह तो सत्य है कि श्रमिकों के संघों ने नई सरकार के सदस्यों पर निगाह रक्खी और कई बार अपने विचारों का

प्रभाव भी उन पर डाला। परन्तु इन संघों में भी, चाहे नेतागण मध्यम-वर्ग के रहें या श्रमिक वर्ग के, अधिक प्रभाव मध्यम वर्ग के विचारों का ही रहा। वे विविध राजनैतिक प्रश्नों पर विस्तार के साथ वाद-विवाद करते थे परन्तु रोटी के प्रश्न को भूल ही गये।

ऐसे अवसरों पर बड़े-बड़े विचारों का जन्म हुआ है। वे विचार ऐसे थे, जिन्होंने संसार को हिला दिया। ऐसे अवसरों पर ऐसे शब्द कहे गये हैं, जो आज एक शताब्दि से अधिक बीत जाने पर भी हमारे हृदयों में जोश भर देते हैं। परन्तु उधर गंदी गलियों में लोग भूखों मर रहे थे।

क्रान्ति के प्रारंभ होते ही उद्योग-धंधे अनिवार्य रूप से रुक गये। माल का क्रय-विक्रय बंद होगया और पूंजी छिपा ली गई। कारखानों के मालिकों को तो ऐसे समय भी किसी बात का भय नहीं था। वे अपने मुनाफे खाकर मोटे होते जाते थे। उनका बस चलता तो वे चारों तरफ फैली हुई दुरवस्था पर भी सट्टा करते। परन्तु मज़दूरों का गुज़ारा मुश्किल से होने लगा। दरिद्रता उनके द्वार पर मुँह बाए आ खड़ी हुई।

देश में दुष्काल फैल गया, और दुष्काल भी ऐसा, जो पुराने शासन में भी शायद ही पड़ा हो।

१७९३ में श्रमिकों ने यह चिल्लाहट मचाई कि 'गिरोण्डिस्ट' लोग हमको भूखों मार रहे हैं। उस पर गिरोण्डिस्ट लोगों को मार दिया गया और शासक की सारी शक्तियां 'माउण्टेन' और कम्यून सरकार के हाथों में देदी गई। कम्यून सरकार में अलबत्ता रोटी के प्रश्न को उठाया और पेरिस-वासियों का पेट भरने में उसने भगीरथ प्रयत्न किये। फाउशे और कोलोटडि हरबाय ने लॉयन्स में अन्न-भण्डार स्थापित किये, परन्तु उनको भरने में जो रकम खर्च की गई वह अत्यन्त अपर्याप्त थी। क़सबा-समितियों ने अन्न प्राप्त करने के बड़े प्रयत्न किये जिन दूकानदारों ने आटा गुप्त रूप से इकट्ठा कर रक्खा था उनको फांसी दी गई। फिर भी लोग रोटी के लिए तरसते रहे।

रोटी का सवाल ।

तब वे लोग राज्यभक्त षड्यन्त्र-कारियों पर टूटे, और सारा दोष उनके मत्थे मढ़ा । रोज दस-पंद्रह जागीरदारों के नौकरों या पत्नियों को फांसी पर लटका दिया जाता था । नौकरों की ज्यादा कमबख्ती आती थी क्यों कि उनकी मालिकिनियां तो बाहर चली गईं । परन्तु यदि वे रोज़ सौ सरदारों को भी मारते तो भी परिणाम उतना ही निराशा जनक होता ।

परन्तु दरिद्रता तो बढ़ती गई । मज़दूर-पेशा व्यक्ति बिना मजदूरी के जीवित नहीं रह सकता और मज़दूरी मिलती न थी । उसके लिए हज़ार लाशें हुईं तो क्या और दो हजार हुईं तो क्या ?

तब लोग तग आने लगे । क्रान्ति विरोधी लोग श्रमिकों के कानों में कहने लगे कि "तुम जिस क्रान्ति का गर्व करते थे देख लिया उसका मज़ा ! तुम्हारी हालत तो पहले से भी खराब है ।" शनैः-शनै धनवानों को भी साहस हुआ । वे अपने बिलों में से निकल-निकल कर बाहर आने लगे और भूखों मरती हुई जनता के सामने अपनी विलासिता का प्रदर्शन करने लगे । वे छैलों-की सी पोशाकें पहन-पहन कर श्रमिकों से कहने लगे—"इस मूर्खता को रहने दो । तुमने इस क्रान्ति से क्या लाभ उठाया ?"

क्रान्तिकारियों का हृदय बैठ गया । उनका धैर्य छूट गया और अन्त में उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि इस बार फिर बाज़ी हार गये । वे फिर अपनी झोंपड़ी में जा बैठे और बुरी-से-बुरी मुसीबत की प्रतीक्षा करने लगे ।

तब प्रतिक्रिया अभिमान के साथ उठी और उसने मरती हुई क्रान्ति की पीठ पर एक और लात जमादी । क्रान्ति मर चुकी थी, अब उसकी लाश को पैरों तले रौंदने के अतिरिक्त कोई काम बाकी न था ।

क्रांति विरोधियों का आतंक प्रारम्भ हुआ । पानी की भांति खून बहाया गया । फासी का तख्ता कभी खाली न रहा । कारागार भर दिये

गये। और धनवान् लोगों की तड़क-भड़क फिर से सामने आई। सब काम पहले की ही भांति मज़े से चलने लगा।

इस चित्र को हमारी सारी क्रान्तियों के बारे में नमूना समझना चाहिए। १८८४ में रिपब्लिक शासन के सेवार्थ पेरिस के श्रमिकों ने तीन मास की भूख सहन की। जब उनका आगे बस न चला तो उन्होंने एक अन्तिम जी तोड़ प्रयत्न किया। वह प्रयत्न भी रक्तपात के बाद निष्फल हो गया। १८७१ में युद्ध करने वालों की कमी के कारण कम्यून शासन भी नष्ट होगया। उसने धर्म और राज्य को पृथक् करने के उपाय तो किये, परन्तु खेद है कि समय निकल जाने से पहले लोगों को रोटी देने के प्रबन्ध की ओर ध्यान नहीं दिया। पेरिस में तो यहाँ तक हुआ कि बड़े आदमियों ने क्रान्ति में भाग लेने वालों को ठोकरें मारी और कहा कि "हम 'श्रेष्ठ' लोग तो सुन्दर भोजनगृहों में भोजन करते हैं, तुम यहाँ क्यों बाधा देते हो, जाकर कहीं मज़दूरी करो।"

आख़िरकार कम्यून-सरकार ने अपनी भूल समझ ली और सार्वजनिक-रसोईघर खोल दिये। परन्तु समय निकल चुका था। उसके दिन इने-गिने रह गये थे और वार्सेलीज की सेनाएं नगर की दीवारों तक चढ़कर आगई थीं।

"रोटी! क्रान्ति-कारियों को तो रोटी चाहिए।" अन्य लोग भले ही शानदार घोषणाएँ निकालते रहें, सुनहरी सरकारी वर्दियों से अपने को सुशोभित करते रहें और राजनैतिक स्वतन्त्रता की बातें करने में समय बिताते रहें!... .

हमें तो यह प्रबन्ध करना कि स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले सब प्रान्तों में क्रान्ति के प्रथम दिन से अन्तिम दिन तक, एक भी ऐसा आदमी न रहे जिसके पास रोटी की कमी हो, एक भी ऐसी स्त्री न रहे जिसे मोटी-झोंटी दान में फेंकी हुई रोटी के लिए रसोईघर के दरवाजे के बाहर थकी हुई भीड़ के साथ

खड़ा रहना पड़े, एक भी ऐसा बालक न रहे जो रोटी के लिए चिल्लाता हो।

मध्यमवर्ग सदा यह चाहता रहा है कि बड़े-बड़े सिद्धान्तों अथवा यों कहिए कि, बड़ी-बड़ी असत्यताओं के विषय में लंबे-लंबे भाषण दिये जायँ। जनता तो यह चाहेगी कि सब को रोटी मिले। जिस समय मध्यम वर्ग के नागरिक और उन्हीं के विचारों से प्रभावित मज़दूर लोग सभा-सम्मेलनों में दिये हुए अपने लच्छेदार भाषणों की प्रशंसाएं करते होंगे और जिस समय "व्यावहारिक आदमी" शासन संगठन के तरीकों पर वाद-विवाद में, उलझे हों गे, उस समय हम लोगों को तो भोजन के प्रश्न पर ही विचार करना पड़ेगा, भले ही आज हमें कोई स्वप्न-संसार के जीव कहे।

हम यह साहसपूर्वक घोषित करते हैं कि भोजन पाने का हक सबको है, भोजन सामग्री इतनी है कि वह सबको मिल सकती है, और "सब के लिए रोटी" यही एक ध्रुव-वाक्य है जिसके सहारे क्रान्ति सफल हो जावेगी।

२

कहा जाता है कि हम हवाई क़िले बनाने वाले लोग हैं। ठीक है। हम तो यहां तक मानते हैं कि क्रान्ति सबको रोटी कपड़ा और घर दे सकती है, और उसे देना चाहिए। यह एक ऐसा विचार है जिसे मध्यमवर्ग के नागरिक, चाहे वे किसी भी दल के हों, बिलकुल नापसंद करते हैं, क्योंकि वे यह बात खूब जानते हैं कि पेट भरे हुए लोगों के ऊपर बड़प्पन क़ायम रखना सरल नहीं है।

फिर भी हम अपनी बात पर क़ायम हैं। क्रान्ति करने वालों के लिए रोटी मिलनी ही चाहिए। रोटी का सवाल ही दूसरे सारे सवालों से पहले हल किया जाना चाहिए। यदि इस प्रश्न का हल इस प्रकार हुआ कि उससे सारी जनता का हित हो तो समझना चाहिए कि क्रान्ति ठीक

रास्ते पर लग गई; क्योंकि रोटी का प्रश्न हल करने में हमें समानता का सिद्धान्त स्वीकर करना पड़ेगा। इस प्रश्न को हल करने का और कोई उपाय हो ही नहीं सकता।

यह निश्चय है कि १८४८ की क्रान्ति की भांति आगामी क्रान्ति का उदय भी ऐसे समय होगा जब हमारे उद्योग-धंधों पर महान् विपत्ति के बादल छाये होंगे। पचास वर्ष से मवाद पक रहा है। वह फूट कर ही रहेगा। सारी घटनाएं संसार को क्रान्ति की ओर ले जारही हैं। नई-नई जातियां अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार के अखाड़े में उतर रही हैं और दुनिया के बाजारों पर अधिकार करने के वास्ते लड़ रही हैं। युद्ध हो रहे हैं। टैक्स बढ़ रहे हैं। राष्ट्रों पर कर्जा चढ़ रहा है। कल की चिन्ता सब पर सवार है। विदेशों में उपनिवेशों का खूब विस्तार किया जा रहा है।

इस समय यूरोप में लाखों श्रमजीवी बेकार हैं। जब क्रान्ति आरम्भ होगी और बारूद की गाड़ी में लगाई हुई आग की तरह फैल जावेगी तो हालत और भी बुरी होगी। ज्योंही यूरोप और अमरीका में रोक की दीवारें खड़ी कर दी जावेंगी तो बेकारों की संख्या दुगनी हो जावेगी। इन बहुसंख्यक लोगों को रोटी देने के लिए क्या उपाय करना होगा?

यह तो मालूम नहीं कि जो लोग अपनेको 'व्यावहारिक आदमी' कहते हैं उन्होंने सम्पूर्ण रूप से इस प्रश्न का उत्तर सोचा है या नहीं। परन्तु हम यह तो जरूर जानते हैं कि वे मज़दूरी-प्रथा क़ायम रखना चाहते हैं, और इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि 'राष्ट्रीय कारखाने' और पब्लिक वर्क्स खुलेंगे। और इनके ज़रिये से बेकारों को रोटी देने का ढोंग किया जावेगा।

१७८९ और १७९३ में राष्ट्रीय कारखाने खुले थे। १८४८ में भी यही साधन प्रयुक्त हुए थे। नेपोलियन तृतीय ने सार्वजनिक कारखाने क़ायम करके अठारह वर्ष तक पेरिस के श्रमजीवियों को सन्तुष्ट रक्खा था, भले ही इसके कारण आज पेरिस पर ८,०००,००,०० पौण्ड का ऋण

और तीन-चार पाउण्ड प्रति व्यक्ति म्युनिसिपल कर है।* 'जानवर को पालतू बनाने' का यह बढ़िया तरीक़ा रोम में भी था, और शक्ति संगठित करने का समय प्राप्त करने के लिए लोगों को रोटी का टुकड़ा फेंकने की चाल सदा से स्वेच्छाचारियों राजाओं और सम्राटों ने चली है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि 'व्यावहारिक' लोग मज़दूरी या वेतन की प्रथा को स्थायी बनाने के इस उपाय की प्रशंसा करें। जब सत्ताधीशों के सनातन से चले आए हुए ये उपाय हमारे पास मौजूद हैं तो हमें अपने मस्तिष्कों को कष्ट देने की आवश्यकता ही क्या है?

क्रान्ति को यदि शुरू से ही इस ग़लत रास्ते पर लगाया गया तो इसका जहाज़ किनारे कैसे लगेगा।

२७ फरवरी सन् १८४८ को, जबकि राष्ट्रीय कारखाने खुले थे, पेरिस के बेकारों की संख्या ८००० थी। दो सप्ताह के बाद वे ४९००० हो गये। बाहर प्रान्तों से आनेवालों की बढ़ी संख्या को गिने बिना भी, उनकी संख्या शीघ्र ही १००,००० हो जाती।

फिर भी उस समय व्यवसायों में और फ्रान्स के कारखानेदारों के काम पर लगे हुए मजदूर आज से आधे थे। हम जानते हैं कि क्रान्ति में विनिमय और उद्योग-धन्धों को ही अधिक हानि पहुँचा करती है। वास्तव में हमें उन्हीं श्रमजीवियों की चिन्ता करनी है जिनकी मजदूरी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्यात-व्यापार पर निर्भर है या जो उन विलास-वस्तुओं को बनाने में लगे रहते हैं, जिनकी खपत अल्प-संख्यक मध्यमवर्ग में होती है।

तो यूरोप में क्रान्ति हो जाने का अर्थ है कम-से कम आधे कारखानों का अनिवार्यरूप से बन्द हो जाना। इसका अर्थ है, लाखों श्रमजीवियों और उनके परिवारों का सड़कों पर मारे मारे फिरना 'व्यावहारिक आदमी'

---

* सन् १९०४ में पेरिस का म्युनिसिपल टेक्स २,२६६,५७९,१०० फ्रैंक था और उसके चार्जेस १२१,०००,००० फ्रैंक थे।

लोगों के कष्ट-निवारणार्थ तत्काल नये राष्ट्रीय कारखाने खोलकर इस भयंकर परिस्थिति को रोकना चाहेंगे। वे बेकारों को काम देने के लिए उसी वक्त नये उद्योग-धन्धे खोलेंगे।

जैसा कि प्राउढहन ने लगभग ५० वर्ष पहले ही बता दिया था, यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति पर थोड़ा भी आक्रमण करने से उसके साथ ही व्यक्तिगत व्यवसाय और मजदूरी के तरीक़े पर आधारित सारी प्रणाली का पूर्ण विसंगठन हो जावेगा। समाज को वाध्य होकर सम्पूर्ण उत्पत्ति को अपने हाथ में लेना पड़ेगा, और सारी जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उसका पुनःसंगठन करना पड़ेगा। परन्तु यह कार्य एक दिन में या एक मास में पूरा नहीं हो सकता। माल तैयार करने का ढाँचा वदलने में कुछ समय लगेगा। और, इतने काल तक लाखों आदमी जीवन निर्वाह के साधनों से वञ्चित रहेंगे। तो फिर किया क्या जाय ?

यह समस्या एक ही तरह से हल हो सकती है। जो महान् कार्य हमारे सामने है, हम उसे साहस के साथ हाथ में ले लें, और जिस परिस्थिति को हमने स्वयं विगाड़ दिया है, उसमें पैवन्द जोड़ने का प्रयत्न न करके विलकुल नवीन आधार पर उत्पत्ति का पुनःसंगठन प्रारम्भ करें।

इस प्रकार हमारी, दृष्टि में, काम करने का वास्तविक और व्यावहारिक मार्ग यही होगा कि लोग विद्रोही प्रदेशों की सारी भोजन-सामग्री पर तत्काल अधिकार करलें। उस सारी सामग्री का पूरा-पूरा हिसाव रखा जावे, ताकि उसमें से थोड़े का भी नुक़सान न हो, और इस इकट्ठी की हुई शक्ति से हर एक व्यक्ति विपत्तिकाल को पार करने योग्य हो जावे। उसी समय के वीच, कारखानों के काम करनेवालों से एक समझौता करना होगा। उन्हें आवश्यक कच्चा माल देना होगा। उन्हें जीवन-निर्वाह के साधन मिलने का विश्वास कराना होगा, और वे किसानों की जरूरत की चीजें तैयार करने का काम करेंगे। अन्त में, पड़तभूमि को जोकि बहुत

है खूब उपजाऊ बनाना पड़ेगा, कम उत्पन्न करनेवाली भूमि को अधिक उत्पन्न करनेवाली बनाना पड़ेगा, और अच्छी ज़मीन भी जो चौथाई या दशमांश उपज भी नहीं देती उनको कीमती बाग या फूलों की क्यारी की तरह मिहनत से जोतकर तैयार करना पड़ेगा, और किसी तरह इस गुत्थी को सुलझाने का उपाय ख्याल में ही नहीं आ सकता। हम चाहें या न चाहें, परिस्थिति बलात् यही कराकर छोड़ेगी।

३

वर्तमान पूँजीवाद की सबसे प्रधान विशेषता है मज़दूरी-प्रथा। वह सक्षेप में इस प्रकार है—

किसी आदमी या कई आदमियों के पास मिलकर पूंजी होती है। वे लोग कोई औद्योगिक कारोबार शुरू करते हैं। कारख़ानों को कच्चा माल देने का भार भी वही ले लेते हैं और उत्पत्ति का प्रबन्ध भी वही करते हैं। काम करने वालों को तो बँधी हुई मजदूरी दे देते हैं और मुनाफ़ा सारा खुद हड़प कर जाते हैं। इसके लिए बहाना यह किया जाता है कि कारोबार का प्रबन्ध करना, इसकी सारी जोखम उठाना और माल की बढ़ती-घटती क़ीमत का ज़िम्मा लेना, यह सब भी तो हमको ही करना पड़ता है।

इस प्रथा को बनाए रखने के लिए पूंजी पर वर्तमान एकाधिकार रखने वाले लोग कुछ रिआयत देने को भी तैयार हो जावेंगे। उदाहरण के लिए वे श्रमजीवियों को लाभ का कुछ भाग देना मंजूर कर लेंगे, अथवा मंहगाई के समय मज़दूरी बढ़ा दिया करेंगे। सार यह, कि, यदि उन्हें कारखाने अपने हाथ में रखने और उनके अच्छे-अच्छे फल खा लेने दिया जाँय, तो वे थोड़ा सा त्याग करना भी स्वीकार कर लेंगे।

हम जानते हैं कि सम्मिलित-सम्पत्तिवाद (Collectivism) मज़दूरी प्रथा को मिटाता नहीं है हाँ वर्तमान व्यवस्था में वह बहुत कुछ सुधार सुझाता है। सम्मिलित-सम्पत्तिवाद के अनुसार कारखानेदार नहीं

रहेंगे, राज्य या प्रतिनिधि-शासन रहेगा। राष्ट्र के प्रतिनिधि या साम्य-वादी ग्रामों के प्रतिनिधि और उनके सहकारी या अधिकारी लोग ही उद्योग-धंधों का संचालन करेंगे। बचे हुए माल को—सबके हित के लिए लगा देने का हक़ भी ये लोग अपने ही पास रखेंगे। इसके अतिरिक्त सम्मिलित-सम्पत्ति-वाद मज़दूर और कारीगर के बीच एक बडा सूक्ष्म परन्तु महत्वपूर्ण भेद करता है। सम्मिलित-सम्पत्तिवादी की दृष्टि में मजदूर का काम 'साधारण' श्रम है। परन्तु एक कारीगर, यन्त्र चलाने-वाले, इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता आदि का काम वह काम है जिसे मार्क्स ने 'जटिल काम' कहा है और इसलिए उसका वेतन भी ऊंचा होना चाहिए। परन्तु मज़दूर और कारीगर, बुनने वाले और विज्ञानवेत्ता, सभी राज्य के वेतन भोगी नौकर हैं।

४

परन्तु आगामी क्रान्ति से यदि सब प्रकार की मज़दूरी या वेतन की प्रथा मिट जाय और ऐसे समाजवाद की स्थापना होजाय जिसमें इस प्रकार की गुलामी की गुंजायश ही न रहे तो मनुष्य समाज की इससे बड़ी और क्या सेवा हो सकती है।

यह मान लेने पर भी कि सम्पन्नता और शान्ति के समय में वर्तमान व्यवस्था में सम्मिलित-सम्पत्तिवादी सुधार धीरे-धीरे किया जा सकता है, तथापि क्रान्ति के उस काल में जब कि युद्ध के प्रथम आह्वान के साथ लाखों भूखे लोगों को खिलाने की आवश्यकता खड़ी हो जायगी, तब तो इस प्रकार का सुधार करना असम्भव हो जायगा। उद्योग-धंधों की जड़ों को हिलाये बिना राजनैतिक क्रान्ति तो हो सकती है, परन्तु जिस क्रान्ति में लोग सम्पत्ति पर हाथ डालेंगे उसमें सारा व्यापार और सारी उत्पत्ति बंद हुए बिना नहीं रह सकती। सार्वजनिक कोष में आनेवाला करोड़ों का धन लाखों बेकारों को मज़दूरी चुकाने के लिए नाकाफ़ी होगा।

इस बात पर जितना जोर दिया जाय उतना ही थोड़ा है। नये

आधार पर उद्योग-धंधों का पुनः संगठन केवल कुछ दिनों में पूरा नहीं हो सकता। और, न लोग मज़दूरी प्रथा के समर्थन करनेवाले सिद्धान्त-वादियों पर कृपा करके वर्षों तक आधे पेट भूखे रहना स्वीकार करेंगे। तंगी के समय को पार करने के लिए, उनकी वही मांग होगी जो ऐसे अवसरों पर सदा हुआ करती है। वे चाहेंगे कि भोजन-सामग्री सार्वजनिक सम्पत्ति बनादी जाय, और उसमें से लोगों को रसद बाँट दी जाया करे।

धैर्य का उपदेश देना व्यर्थ होगा। लोग धैर्य नहीं रख सकेंगे। यदि भोजन नहीं मिलेगा तो वे रोटी के कारखानों को लूट लेंगे।

पश्चात्, यदि लोग सफल न हो सके, तो वे गोलियों से मार दिये जायंगे, और सम्मिलित-सम्पत्ति-वाद के लिए मैदान साफ़ कर दिया जायगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार 'व्यवस्था' क़ायम करनी पड़ेगी। और, अनुशासन और आज्ञापालनता लानी पड़ेगी। जब क्रान्तिकारी कहे जानेवाले लोग ही जनता पर गोलियाँ चलायँगे, तो जनता की दृष्टि में क्रान्ति घृणित हो जायगी। पूंजीपतिलोग यह बात शीघ्र ही समझ जायँगे। वे अवश्य ही 'व्यवस्था' क़ायम करने वाले वीरों का समर्थन करेंगे, भले ही वे वीर सम्मिलित-सम्पत्तिवादी ही क्यों न हों। वे समझेंगे कि इस उपाय से बाद में हम सम्मिलित-सम्पत्तिवादियों को भी दबा देंगे। यदि इस विधि से 'व्यवस्था स्थापित होगई' तो परिणामों का अनुमान करना सरल है। 'व्यवस्था' करनेवाले लोग 'लूट करनेवालों' को ही मारकर सन्तुष्ट न हो जायँगे। वे 'भीड़ के सरगना' लोगों को भी पकड़ेंगे। वे फिर से न्यायालय स्थापित करेंगे और जल्लाद मुक़र्रिर करेंगे। उत्साही से उत्साही क्रान्तिकारी लोग फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिये जायंगे। सन् १७९२ की पुनरावृत्ति हो जायगी।

परन्तु सारे लक्षणों से हमें तो यही विश्वास होता है कि लोगों का जोश उन्हें काफ़ी दूर ले जायगा, और जब क्रान्ति होगी तब तक अराजक साम्यवाद के विचार जड़ पकड़ लेंगे। ये विचार बनावटी नहीं हैं।

लोगों ने स्वयं ही इन विचारों को प्रकट किया है। और, जैसे-जैसे यह मालूम होता जाता है कि इसका दूसरा उपाय नहीं है वैसे-वैसे-ही समाजवादी लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है।

यदि लोगों की लगन काफ़ी प्रबल होगी तो परिस्थिति बिलकुल दूसरी ही होगी। विप्लव-कारी नगरों के लोग ऐसा नहीं करेंगे कि पहले दिन तो रोटी वालों की दूकानों को लूटलें और दूसरे ही दिन भूखों मरे। बल्कि, वे गोदामों पर, पशुओं की मंडियों पर,—वास्तव में खाने की चीजों के सारे भण्डारों पर और समस्त प्राप्य भोजन पर अधिकार कर लेंगे। भले-भले नागरिक, स्त्रियां और पुरुष, अपने स्वयंसेवकदल बना लेंगे और सारी दूकानों और गोदामों की चीज़ों की एक सरसरी मामूली फ़र्द बनाने के काम में जुट जायंगे।

यदि ऐसी क्रान्ति पेरिस में हुई तो खाद्य-सामग्री का परिणाम जनता को चौबीस घंटे में ही मालूम हो जायगा, जोकि गणना-कमिटियों के होते हुए भी आज उसे मालूम नहीं है, और जिस बात का पता नगर को १८७१ के घेरे में भी न लग पाया था। अड़तालीस घंटे में तो ऐसे नक्शों की लाखों प्रतियाँ छप कर बँट भी जायँगी, जिनमें प्राप्य खाद्य-सामग्री का ठीक-ठीक हिसाब दिया होगा और यह लिखा होगा कि कहाँ-कहाँ वे रक्खी हैं और कैसे-कैसे बांटी जायँगी।

हर चाल में, हर गली में, हर मुहल्ले में स्वयं-सेवकों के दल संगठित हो जायंगे। ये सामान पहुँचानेवाले स्वयं-सेवक सरलता से दूसरों से मिल कर और उनसे सम्पर्क रखके काम कर सकेंगे। केवल उद्दण्ड राजनीतिज्ञों की तलवारों की बाधा मार्ग में न आनी चाहिए। अपनेको 'वैज्ञानिक' सिद्धान्तवादी कहनेवाले लोग अपनी उलटी सलाहें देने को बीच में न पड़ने चाहिए। वे अपने कूड़-मग़ज़ों से निकाल-निकालकर कैसे भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहें, पर उन्हें कोई अधिकार या सत्ता न मिलनी चाहिए। जनता में संगठन करने की,बड़ी अद्भुत शक्ति है, पर उसे

काम में लाने का इसे कभी अवसर नहीं दिया गया। उपर्युक्त बाधाएं न आईं तो उसी शक्ति से बड़े-से-बड़े नगर में भी और क्रान्ति के मध्य में भी अवैतनिक कार्य-कर्त्ताओं का एक ऐसा बड़ा संघ बन जायगा जो सब लोगों को भोजन पहुँचाने को तैयार हो जायगा।

यदि लोगों को आप स्वतन्त्र छोड़ दें तो दस दिन में ही भोजन प्रबंध बड़ी नियमबद्धता से चलने लगेगा। जिन्होंने लोगों को जी-जान से काम करते कभी नहीं देखा जिन्होंने दफ्तर के कागज़ों में ही अपना सारा जीवन बिता दिया है, केवल वे ही लोग इस बात में शंका कर सकते हैं। घेरे के दिनों में पेरिस के लोगों ने जिस प्रकार संगठन शक्ति का परिचय दिया था, और डाक को मजदूरों की हड़ताल के समय में, जब कि पाँच लाख भूखों मरते आदमियों को खिलाना पड़ता था, लन्दन में जो सगठन शक्ति लोगों ने दिखाई थी, उसको देखने वाले लोग बता सकते हैं कि वह कोरी दफ्तरी योग्यता से कितनी बढ़ी-चढ़ी है।

यदि हम यह भी मानलें कि हमें थोड़ी असुविधा और गड़बड़ी एक पक्ष या एक मास तक सहन करनी भी पड़े, तो भी क्या? साधारण जनता के लिए तो वह हालत उसकी पिछली हालत से अच्छी ही होगी। और, फिर क्रान्ति के दिनों में तो घटनाओं पर गरमागरम बहस करते हुए थोडी छाछरोटी खाकर के भी मनुष्य सन्तोष मान सकता है।

हर हालत में जो बात अनेकों कमिटियाँ बनानेवाले अप्रगतिशील सिद्धान्तवादी लोग चहारदीवारियों के बीच बैठकर आविष्कार करेंगे, उसकी अपेक्षा तो सामयिक आवश्यकता से अपने आप निकल आनेवाली व्यवस्था हज़ार दर्जे अच्छी होगी।

बड़े नगरों के लोगों को तो सारे नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिस्थिति से बाधित होकर सारी खाद्य सामग्री पर कब्ज़ा करना पड़ेगा, पहले परम आवश्य वस्तुओं पर और फिर दूसरी वस्तुओं पर।

यह काम जितनी जल्दी होगा उतना ही अच्छा होगा। लोगों की उतनी ही कम दुर्दशा होगी और झगड़ा भी उतना ही कम होगा।

परन्तु समाज को किस आधार पर संगठित करना चाहिए ताकि भोजन वस्तुओं का उचित भाग सबको मिल सके। यही प्रश्न हमारे सामने पहले आता है।

हमारा उत्तर तो यह है कि इसके दो भिन्न उपाय नहीं हो सकते। समाजवाद (कम्यूनिज़्म) को ठीक तरह से स्थापित करनेवाला और हमारी न्याय बुद्धि को सन्तुष्ट करनेवाला एक ही मार्ग है। यही व्यावहारिक भी है। यह वही तरीक़ा है जिसे आज भी यूरोप के देहाती पंचायतों ने ग्रहण कर रक्खा है।

उदाहरण के लिए किसी जगह के एक कृषक गाँव को लीजिए। फ्रांस की ही मिसाल लीजिए जहाँ कि सारे पंचायती रिवाज़ों को उद्दण्ड राज-नीतिज्ञों ने मिटाने की भरसक कोशिश की है। यदि गाँव की हद में जलाने की लकड़ी है तो जबतक सबके लिए भरपूर लकड़ी रहेगी तब तक हर एक आदमी चाहे जितनी ले सकता है। उनको अपने पड़ौसियों के लोक-मत के अतिरिक्त अन्य कोई रोक-टोक नहीं होती। काम की लकड़ी तो सदा थोड़ी ही होती है, इसे वे सावधानी से आपस में बाँट लेते हैं।

पंचायती चारागाह की भी ऐसी ही बात है। जबतक चरने को खूब है तबतक एक घर के कितने पशु चरते हैं या भूमि पर कितने पशु चरते हैं इसकी कोई सीमा नहीं बंधती। जबतक कि कमी न मालूम पड़े तबतक चरोखर भूमि बँटती नहीं है, और न चारा ही बँटता है। स्विट्ज़रलैण्ड के सारे गाँवों में और फ्रांस और जर्मनी के हजारों गाँवों में जहा-जहां पंचायती चारागाहें हैं यही प्रथा है।

पूर्वीय यूरोप के देशों में, जहाँ बड़े-बड़े जंगल हैं, और जमीन की कमी नहीं है, आप देखेंगे कि जिसको जब आवश्यकता होती है पेड़ काट लाता है और किसान जितनी भूमि चाहते हैं जोत लेते हैं। इस बात का ख़्याल

नहीं किया जाता कि लकड़ी में या ज़मीन में किसका कितना हिस्सा है। परन्तु ज्यों ही लकड़ी या ज़मीन दोनों में से किसी की कमी मालूम होती है त्यों ही प्रत्येक परिवार की आवश्यकता के अनुसार बँटवारा कर लिया जाता है। रशिया में पहले से ही यही होता है।

संक्षेप में प्रणाली यह है कि, समाज के पास जो चीज बहुतायत से है उसके विषय में कोई सीमा या बन्धन नहीं है, परन्तु जिन चीजों की कमी है या कमी हो जाने की सम्भावना है उनका समान विभाग कर लिया जाता है। यूरोप के ३५ करोड़ निवासियों में से, २० करोड़ आदमी तो स्वाभाविक समाजवाद की इस प्रणाली पर चलते हैं।

बडे कस्बों में भी कम-से-कम एक चीज़ ऐसी है जो बहुतायत से पाई जाती है। वह चीज़ है पानी। उसके विषय में भी यही प्रणाली प्रचलित है।

जबतक पानी के कम पडने का भय नहीं होता तबतक कोई भी कम्पनी किसी घर में पानी के खर्च को रोकना नहीं चाहती। जितना चाहिए उतना लीजिए। परन्तु अनावृष्टि की अवस्था में यदि पानी के कम पडने का भय होता है, तो कम्पनियाँ सिर्फ़ इतना करती हैं कि समाचार-पत्रों में एक छोटे विज्ञापन द्वारा इस बात की सूचना जनता को दे देती हैं, और नगरवाले पानी का खर्च कम कर देते हैं। वे उसको व्यर्थ नष्ट होने नहीं देते। परन्तु पानी यदि वास्तव में कम हो जावे तो क्या किया जायगा? उस समय निश्चित परिमाण में पानी देने की प्रणाली काम में लाई जायगी। यह उपाय इतना स्वाभाविक है और साधारण-बुद्धि में इतना जमा हुआ है कि १८७१ के दोनों घेरों में पेरिस ने दो बार इस प्रणाली को खुद अपनाया था।

यह दिखाने के लिए कि पानी या भोजन बाँटने की प्रणाली किस प्रकार चलेगी और यह सिद्ध करने के लिए कि वह वर्तमान अवस्था से बहुत ही अधिक न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होगी, तफसीलवार नक़शों को तैयार करने

की जरूरत नहीं है। ये सारे नक़शे और तफ़सीलें उन लोगों को विश्वास नहीं दिला सकतीं, जो मध्यमवर्ग के लोग हैं, या जो मध्यमवर्ग के विचारों को रखनेवाले श्रमजीवी हैं और जो यह समझते हैं कि यदि कोई व्यवस्थापक सरकार न रहेगी तो लोग एक दूसरे पर टूट पड़ेंगे या जंगली मनुष्यों की भाँति एक दूसरे को खा जायंगे। यदि साधारण जनता के हाथ में परिस्थिति आजावे तो वह पूर्ण इन्साफ़ और निष्पक्षता से भोजन का बँटवारा कर सकेगी या नहीं, यह आशंका उन्हीं लोगों को रहेगी जिन्होंने कभी उसे स्वयं निश्चय करते और तदनुसार काम करते हुए नहीं देखा है।

जनता की किसी सभा में यदि आप अपनी यह राय प्रकट करें कि नफ़ीस खाने तो अकर्मण्य अमीरों की लोलुप जिह्वा के लिए रहें और अस्पताल के बीमारों को काली रोटी दी जावे, तो आपको धुतकार मिलेगी। परन्तु उसी सभा में और गली-कूचों और बाज़ार-हाटों में यदि आप यह कहें कि सब से उमदा खाने बीमारों और कमजोरों के लिए—विशेषतः बीमारों के लिए रहें। बीमारों के बाद बालक की बारी है। यदि सबके लायक़ गायों और बकरियों का दूध न हो तो वह भी बच्चों के लिए ही रक्खा जावे। यदि समाज बिलकुल हीन-दशा को ही पहुँच गया हो तो घी-दूध बालकों और बूढ़ों को दिया जाय, और मज़बूत आदमी को सूखी रोटी मिला करे।

संक्षेप में, आप यह कहिए कि यदि कोई वस्तु कम रह जायगी और उसका बँटवारा करना होगा, तो वह उनको अधिक दी जायगी जिनको अधिक आवश्यकता होगी। यह कह कर देख लीजिए। आपकी बात सब मान लेंगे।

जिस आदमी का पेट खूब भरा हुआ है वह इन बातों को नहीं समझ सकता। परन्तु जनता इनको समझती है और उसने सदा समझा है।

विलासिता में पला हुआ व्यक्ति भी यदि ग़रीब होकर मारा-मारा फिरने लगे, और जनता के सम्पर्क में आवे तो वह भी समझने लगेगा।

जिन सिद्धान्तवादी लोगों के लिए सैनिक की वर्दी और छावनी का रसोईंघर ही सबसे बड़ी सभ्यता है, वे तो निःसन्देह राष्ट्रीय रसोईघरों की भरमार करना चाहेंगे। वे यही बतायेंगे कि यदि बड़े-बड़े रसोईंघर क़ायम होजायँ और वहीं सब लोग अपना-अपना रोटी-शाक लेने आवें, तो उससे बहुत लाभ होंगे और ईंधन और भोजन की बड़ी बचत होगी।

हमें इन लाभों के विषय में सन्देह नहीं है। हम ख़ूब जानते हैं कि जबसे हर एक घर में अलग-अलग चूल्हा और अलग-अलग चक्की का रिवाज उठ गया तबसे बड़ी मितव्ययिता हुई है। हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि सौ जगह अलग-अलग चूल्हा न जला कर एक ही जगह सौ परिवारों के लिए शाक बना लेने में अधिक किफ़ायत है। हम यह भी जानते हैं कि आलू बनाने के सैकड़ों तरीक़े हैं। परन्तु यदि सौ परिवारों के लिए एक ही बड़े बर्तन में वे उबाल लिए जाँय तो भी उतने ही अच्छे बनेंगे।

वास्तव में खाना पकाने के विविध भेद तो इसलिए हैं कि रसोइये या गृह-पत्नियाँ अलग-अलग ढङ्ग से मसाले और बघार देती हैं। फिर भी यदि एक मन आलू एक ही जगह बन जाँय तो रसोइयों या गृहपत्नियों को अपनी अपनी पसन्द के अनुसार उसीको विशेष प्रकार से बनाने से कौन रोकेगा।

परन्तु, इन सब बातों को जानते हुए भी, हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई गृहपत्नी अपने ही चूल्हे पर अपने ही बर्तन में अपने आलू पकाना चाहती है तो उसे पञ्चायती रसोईंघर से ही आलू लेने को बाध्य करने का अधिकार किसी को नहीं है। और, सबसे बड़ी बात तो हम यह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुटुम्ब के साथ या अपने मित्रों के साथ या उसे पसन्द आवे तो होटल में भी जाकर भोजन करने की स्वतन्त्रता रहे।

वर्तमान समय के होटलों के स्थानों पर, जहाँ आजकल लोगों को विषैला भोजन खिलाया जाता है, अपने आप बड़े-बड़े सार्वजनिक रसोई-घर खड़े होजाँयगे। जब भविष्य की पञ्चायती पाकशालाएँ स्थापित होजायँगी और जब लोगों को न तो धोखा दिया जायगा न दूषित पदार्थ खिलाये जायँगे और उन्हें अपना भोजन वहाँ पकवाने का सुभीता हो जायगा, तब भोजन की मूल वस्तुओं के लिए वहीं जाने का रिवाज साधारण हो जायगा केवल, अपनी अपनी रुचि के अनुसार उन चीजों का मसाले आदि मिला-कर अन्तिम संस्कार करने का ही काम रह जायगा।

परन्तु इस विषय में कठोर नियम बनाना कि सबको वहाँ से पका पकाया भोजन लेना चाहिए, हमारे आधुनिक विचारों को उतना ही बुरा लगेगा जितना कि मठों या आश्रमों में रहने का विचार बुरा लगता है। यह तो अत्याचार या मिथ्याविश्वास से प्रभावित दिमागों से निकला हुआ रही विचार है।

पञ्चायत से भोजन लेने का अधिकार किसको होगा और किसको नहीं, यह प्रश्न हमें पहले विचारना पड़ेगा। प्रत्येक कसबा इसका अपना उत्तर निकाल लेगा, और हमें विश्वास है कि सारे उत्तर न्याय प्रेरित होंगे। जबतक श्रम-विभाजन फिर से न हो जायगा, जबतक अशान्ति का काल चलता रहेगा और जबतक असाध्य अकर्मण्यों और बेकार हुए श्रम जीवियों का भेद करना असम्भव रहेगा, तबतक तो प्राप्त भोजन-सामग्री में से सबको बिना अपवाद खाना मिलना चाहिए। जो लोग नई व्यवस्था के शत्रु रहे होंगे, वे तो स्वय ही कसबे में से चले जायँगे। परन्तु हमारा अनुमान है कि जन-साधारण सदा उदार होते हैं। उनके स्वभाव में कभी बदला लेने की प्रवृत्ति नहीं होती। वे अपने साथ रहने वाले—विजित और विजेता—सभी लोगों के साथ भोजन बाँट लेने को तैयार हो जायँगे। ऐसा विचार रखने से क्रान्ति को कोई हानि नहीं होगी, और जब फिर काम चलने लगेगा तो पहले के विरोधी भी उनके साथ होकर कारखानों

में काम करने लगेंगे। जिस समाज में काम करना अपनी इच्छा पर निर्भर होगा, उसमें अपरिश्रमियों से कोई डर न रहेगा।

इस पर समालोचक लोग कह उठते हैं कि "खाद्य-सामग्री तो एक मास में ही समाप्त हो जायगी।"

हम कहते हैं कि "यह तो और भी अच्छा होगा।" इससे कम-से कम इतना तो सिद्ध होगा कि इतिहास में पहली बार लोगों को भरपेट खाने को तो मिला। नया सामान किस प्रकार प्राप्त किया जाय इसके विषय में हम अगले प्रकरण में कहेंगे।

५

वे कौनसे उपाय हैं जिनसे क्रान्ति के समय किसी नगर को भोजन-सामग्री प्राप्त हो सकती है? हम इस प्रश्न का उत्तर देंगे परन्तु वहाँ के प्रान्तों में और समीपवर्ती देशों में क्रान्ति जिस ढंग की होगी, उसी के अनुसार ये उपाय रहेंगे। यदि कोई पूरा देश, अच्छा तो यह है कि सारा ही यूरोप, साम्यवादी क्रान्ति कर डाले और पूर्ण समाजवादी सिद्धान्त को लेकर चले, तो हमारा तरीक़ा और भी सरल हो जायगा। परन्तु यदि वहाँ की कुछ थोड़ी सी ही जातियाँ प्रयत्न करें तो उपाय दूसरे ही चुनने पड़ेंगे। जैसी परिस्थिति होगी वैसे ही उपाय होंगे।

इसलिए पहले हमें यूरोप की दशा पर दृष्टि डालनी पड़ेगी; और भविष्यवाणी का दावा न करते हुए भी हमें अनुमान से यह दिखाना पड़ेगा कि क्रान्ति किस दिशा में जायगी, या कम-से-कम उसके विशेष लक्षण क्या होंगे?

यह है तो बड़ा ही वाछनीय कि एक दम सारा यूरोप उठ खड़ा हो, निःसम्पत्तिकरण व्यापक हो जावे, और एक-एक व्यक्ति में समाजवाद के सिद्धान्त भर जायँ। ऐसे सर्वव्यापी विप्लव से तो हमारी शताब्दि का काम बहुत सरल होजायगा।

परन्तु सारे लक्षणों से हमें यही विश्वास होता है कि ऐसा होगा नहीं। इसमें हमें सन्देह नहीं है कि सारे यूरोप में क्रान्ति फैल जायगी। महाद्वीप की चारों बडी राजधानियों – पेरिस, ब्रुसेल्स, वायना या बर्लिन— में से एक भी यदि क्रान्ति करके उठ खड़ी हो और सरकार को उलट दे तो यह प्राय निश्चित है कि अन्य तीन राजधानियाँ भी कुछ ही सप्ताहों के भीतर उठ खड़ी होंगी। और बहुत संभव है कि स्पेन इटली, यूनान आदि देश और लंदन नगर भी यही मार्ग ग्रहण करेंगे। परन्तु क्रान्ति का सब जगह एक ही रूप होगा या नहीं, इसमें बडा सन्देह है।

यह बहुत सम्भव है कि सर्वत्र सम्पत्तीकरण बहुत विस्तृत होगा। यूरोप की कोई भी एक बडी जाति यदि ऐसा करेगी तो उसका प्रभाव औरों पर भी पडेगा, परन्तु क्रान्ति के प्रारम्भिक रूपों में बडे-बडे स्थानीय भेद रहेंगे और देश देश में क्रान्ति का मार्ग भी पृथक्-पृथक् होगा १७८९-९३ में फ्रान्स के किसानों को जागीरदारों के हकों से अपनेको मुक्त करने में और मध्यमवर्ग के लोगों को राजसत्ता को उखाड फेंकने में चार वर्ष लगे। यही बात हमें अपने ध्यान में रखनी चाहिए, और क्रान्ति के कुछ धीरे-धीरे स्वयमेव विकसित होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि कहीं-कहीं उसका कदम कुछ कम तेजी से पड रहा हो तो भी हमें हिम्मत न हारनी चाहिए।

इसमें तो सन्देह करने की गुंजायश नहीं है कि भविष्य में जो क्रान्ति होगी वह पहले की क्रान्तियों से बढ़कर होगी। इंगलैण्ड की सत्रहवीं शताब्दि की क्रान्ति में इंग्लैण्ड ने एक प्रहार में राजा की सत्ता और भूमिपतियों की शक्ति मिटा दी थी। अब इनका थोडा-थोडा प्रभाव आज भी कुछ बचा है। फिर भी फ्रान्स की अठारहवीं शताब्दि की क्रान्ति उसकी अपेक्षा आगे बढी हुई थी।

इन अनुमानों को हम केवल अनुमान ही समझते हैं। फिर भी हम सरलता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यूरोप की भिन्न-भिन्न जातियों

में क्रान्ति भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करेगी, सम्पत्ति के सामाजिक बना लेने में सब जगह एक-सी सफलता न होगी।

तो क्या इस आन्दोलन की अग्रगामी जातियों को पीछे रहजानेवाली जातियों के साथ-साथ बँधे रहना आवश्यक होगा ? क्या हमको तबतक रहना पड़ेगा जबतक कि सारे सभ्य देशों में समाजवादी क्रान्ति की तैयारी न हो चुके ? बिलकुल नहीं। यदि ऐसा करना भी चाहें तो भी संभव नहीं है। इतिहास पिछड़े हुओं के लिए नहीं ठहरा करता।

कुछ साम्यवादी लोगों की यह कल्पना है परन्तु हमें विश्वास नहीं होता कि क्रान्ति एकदम ही, एक ही निमिष में हो जायगी। यह बहुत सम्भव है कि यदि किसी देश के बड़े नगरों में से एक नगर भी समाजवादी संगठन की घोषणा करे तो अन्य नगर भी वैसा ही करेंगे, और कई कसबे भी करेंगे। सम्भवतः बहुत से खानोंवाले प्रदेश या औद्योगिक केन्द्र भी 'स्वामियों' या 'मालिकों' से अपना पिण्ड छुड़ाकर अपने स्वाधीन समुदाय बना लेंगे।

परन्तु कई देहाती भाग इतने आगे बढ़े हुए नहीं होते। क्रान्ति कर डालनेवाले नगरों के साथ-ही-साथ ऐसे स्थान प्रतीक्षावृत्ति में रहेंगे और व्यक्तिवाद प्रणाली पर चलते रहेंगे। जब तहसीलदार या कर वसूल करने का आना बन्द हो जायगा, तो ये कृषक क्रान्तिकारियों के विरोधी न रहेंगे। इस प्रकार, नई व्यवस्था से लाभ उठाते हुए ये लोग स्थानीय लुटेरे पूंजीवालों का हिसाब चुकाने में भी टालमटोल करेंगे। परन्तु कृषकों के विप्लवों में सदा एक विशेष व्यावहारिक जोश हुआ ही करता है। उसी जोश के साथ ये भूमि को जोतने के काम में लग पड़ेंगे क्यों कि, करों और रहन के भार से मुक्त होजाने पर ज़मीन उन्हें और भी प्यारी हो जायगी।

दूसरे देशों में भी सब जगह क्रान्ति होगी, परन्तु भिन्न भिन्न स्वरूपों में। किसी देश में राज्य रहेगा और उत्पत्ति के साधन उसके अधीन रहेंगे। कहीं छोटे-छोटे राज्यों का संघ बन जायगा। परन्तु सब स्थानों पर होगा

किसी न किसी अंश में साम्यवाद ही। वह सब जगह एक ही नियम के अनुकूल न होगा।

६

अब हमें क्रान्ति की अवस्था वाले नगर के उदाहरण पर फिर वापिस आजाना चाहिए और इस बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार नगरवासी अपने लिए खाद्य सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। यदि सारे राष्ट्र ने ही समाजवाद स्वीकार न किया हो तो आवश्यक सामग्री किस प्रकार मिल सकेगी? इसी समस्या को हल करना है। फ्रान्स के किसी बड़े नगर मसलन् राजधानी का ही उदाहरण लीजिए। पेरिस प्रतिवर्ष हज़ारों मन गल्ला, ४००,००० बैल, ३००,००० बछड़े, ४००,००० सुअर, २० लाख से अधिक भेडे और कई प्रकार की शिकारें अपने खाने के काम में लेता है। इसके अतिरिक्त यह नगर २० लाख पाउण्ड से अधिक मक्खन, २० करोड़ अण्डे और इसी हिसाब से दूसरी चीजें खा जाता है।

वह अमेरिका, रूस, हंगेरी, इटली, मिश्र और भारतीय महासागर के द्वीपसमूह से आटा और गल्ला मंगाता है; खाद्य माँस के वास्ते जर्मनी, इटली, स्पेन, रुमानिया और रूस तक से पशु मंगाता है और किराने की चीजें तो संसार के सब देशों से थोडी बहुत आती हैं।

अब यह देखना चाहिए कि देश की पैदावार से ही पेरिस या अन्य बड़े नगर को खूराक फिर से कैसे पहुँचाई जा सकती है। और वह भी इस तरह से कि प्रान्तों के लोग जल्दी और खुशी से भेजें।

जो लोग 'सत्ता' में विश्वास रखते हैं उन्हें तो यह प्रश्न बड़ा सीधा दिखाई देगा। वे पहले एक दृढ़ केन्द्रीय सरकार को क़ायम कर लेंगे, जिसके पास पुलिस, फ़ौज, फाँसी, आदि सारे दमनास्त्र मौजूद हों। यह सरकार फ्रांस के सारे माल की फ़ेहरिस्त तैयार करेगी। सारे देश को सामग्री प्राप्ति के वास्ते कई विभागों में विभाजित करेगी, और 'आज्ञा' देगी कि इतनी-इतनी भोज्य सामग्री, इस स्थान पर इस दिन इस

स्टेशन पर पहुँच जानी चाहिए। वहाँ एक विशेष अधिकारी मौजूद रहेगा, जो उस सामग्री को लेगा और विशेष भाण्डार में इकट्ठा करके रक्खेगा।

हम तो पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि यह उपाय न केवल अवाञ्छनीय ही हैं किन्तु इसको व्यवहार में लाना भी असम्भव है। यह अत्यन्त ही काल्पनिक है।

लिखने वैठे तो कोई भी व्यक्ति बैठ कर ऐसे स्वप्न देख सकता है। परन्तु वास्तविकता के सामने ये टिक नहीं पाते—१७९३ में ऐसा सिद्ध हो चुका है। इस सिद्धान्त में भी इस बात को भुला दिया गया है कि मनुष्य में स्वतन्त्रता की एक वृत्ति हुआ करती है। इस प्रयत्न का परिणाम यह होगा कि तीन-तीन चार चार कोस दूर पर ही सर्वत्र विप्लव हो जायगा, नगरों के विरुद्ध ग्राम विद्रोह कर देंगे। यदि नगर इस प्रणाली को देश पर लादने की मूर्खता करेंगे तो सारा देश शस्त्र उठा लेगा।

अब तक उद्दण्ड कल्पनाएं तो बहुत हो चुकी हैं। हमें विचारना चाहिए कि और भी किसी प्रकार का उपयोगी संगठन काम दे सकता है या नहीं।

महान् राज्य-क्रान्ति के दिनों में, फ्रान्स में प्रान्तों ने बड़े नगरों को भूखों मार दिया था, और क्रान्ति का नाश कर दिया था। फिर भी सन् १७९२-३ में फ्रान्स में अनाज की फ़सल घटी न थी, बल्कि प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वह बढ़ी थी। परन्तु ज़मीदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा पाने के बाद और फ़सल काट लेने के बाद कृषक लोग काग़ज़ी रुपये के बदले में अनाज देने को तैयार न हुए। इस आशा से कि या तो क़ीमत बढ़े या सोने का सिक्का चले, उन्होंने अपना माल रोक लिया। राष्ट्रीय अस्थायी सरकार ने कठोर-से-कठोर उपाय काम में लिये, पर सब निष्फल हुए। फाँसियों से भी कोई परिणाम न हुआ। किसान अपना अनाज बेचने को बाधित न किये जा सके। अस्थायी सरकार के प्रतिनि-

यियों ने बाजार में अनाज न लाने वालों का और सट्टा करने वालों का बड़ी निर्दयता से वध किया। फिर भी अन्न प्राप्त न हुआ, और नगर वालों को दुष्काल के कष्ट झेलने पड़े।

परन्तु कृषकों को उनकी कठिन मिहनत के बदले में कौन सी चीज़ दी गई थी? उन्हें वादे के नोट दिये गए। पर उनकी कीमत तो घटती ही चली गई। चालीस पाउण्ड का नोट देकर जूते का जोड़ा भी न मिलता था। जिस काग़ज के टुकड़े से एक कुरता भी न खरीदा जा सके, उसके बदले में किसान अपने साल भर की कमाई कैसे दे सकता था?

जबतक निकम्मा काग़ज़ी रुपया किसान को मिलेगा तबतक सदा ऐसा ही हाल होगा। देश अपना माल रोक रक्खेगा, और क़सबों में उसकी कमी पड़ती रहेगी, चाहे हुकुम-उदूली करने वाले किसानों को पूर्ववत् फाँसियों पर ही चढ़ा दिया जाय।

हमें चाहिए कि किसान को उसकी मिहनत के बदले में निकम्मे नोट न देकर उसकी परम आवश्यकता की चीज़ें बना कर दें। उसके पास खेती के अच्छे औज़ार और सर्दी-गर्मी से ठीक बचाव करने वाले कपड़े नहीं हैं। उसके पास रद्दी चिमनी या दिया है, लेम्प और तेल नहीं है। उसके पास फावड़ा पचांगुरा और हल नहीं हैं। आजकल इन चीजों के बिना उसे काम चलाना पड़ता है। यह बात नहीं है कि वह इनकी ज़रूरत नहीं समझता। बात यह है कि उसका गुज़ारा बड़े दुःख सुख और मुश्किल से होता है। हज़ारों उपयोगी चीज़ें उसके बूते से बाहर हैं। बेचारे के पास उन्हें खरीदने के लिए पैसा ही नहीं है।

शहरों को चाहिए कि अमीर लोगों की स्त्रियों के वास्ते तड़क-भड़क की चीज़ें न बनाकर, शीघ्र ही उन सब चीज़ों के बनाने में लग जायँ, जिनकी किसान को ज़रूरत है। पेरिस की सीने की मशीनें ग्रामीण लोगों के लिए कपड़े सीने में लग जायँ। इग्लैंड और रूस के ज़मींदारों या अफ्रिका के करोड़पतियों की स्त्रियों के लिए क़ीमती पोशाक के बनाने की

यह नौबत नहीं आती। साधारणतः यह होता है कि वह नुक़सान उठा-कर अपने पशु नहीं बेचता। वह नौ महीने तक खाने लायक़ अन्न रख लेता है और शेष बेच देता है। फिर आगामी फ़सल तक गुजारा करने के लिए वह, यदि फ़सल अच्छी हुई हो तो, तीन मास तक और यदि फ़सल ख़राब हुई हो तो छः मास तक, अपने आटे में छाल मिला-मिला कर काम चलाता है। और, उधर लन्दन में लोग उसी के भेजे हुए गेहूँ के शकरपारे (बिस्किट) बना-बना कर खाते हैं।

परन्तु क्रान्ति के होते ही रूस का किसान अपने और अपने बच्चों के लायक़ काफ़ी अन्न रख लेगा। इटली और हंगेरी के किसान भी ऐसा ही करेंगे। हमें आशा करनी चाहिए कि भारतीय क़िसान भी यही शिक्षा ग्रहण करेंगे। और अमेरिका के क़िसान सारे यूरोप के ग़ल्ले की कमी को पूरी न कर सकेंगे। इसलिए यह समझना व्यर्थ है कि इन देशों से जितना गेहूँ या जितनी मक्का आयगी उससे आवश्यकता पूरी हो जायगी।

मध्यमवर्ग की हमारी सारी सभ्यता तो नीचे दर्जे की क़ौमों और कम उद्योग धन्धोंवाले देशों की लूट पर निर्भर है। इसलिए, क्रान्ति उठते ही उस 'सभ्यता' को नष्ट कर देगी और नीचे दर्जे की कही जाने वाली जातियों को स्वाधीन बनने का अवसर देगी। उन जातियों के लिए तो क्रान्ति एक वरदान होगी।

परन्तु इस महान् लाभ का परिणाम यह होगा कि पश्चिमी यूरोप के बड़े-बड़े शहरों में खाद्य सामग्री का आना निरन्तर घटता ही जायगा।

देहात का क्या हाल होगा, यह नहीं कहा जा सकता। एक ओर तो कठोर परिश्रम करने वाला किसान क्रान्ति का लाभ उठाकर अपनी झुकी हुई कमर को सीधा करेगा। आज-कल की तरह दिन में चौदह या पन्द्रह घण्टे काम न करके वह केवल उससे आधे समय ही काम करेगा। इसका परिणाम यही होगा कि खाने की मुख्य वस्तुओं—अनाज और माँस—की उत्पत्ति में कमी हो जायगी।

परन्तु दूसरी ओर ज्योंही वह यह समझ जायगा कि उसे अपने श्रम से निठल्ले अमीरों का पोषण नहीं करना है, तो उत्पत्ति में फिर वृद्धि हो जायगी। नई ज़मीन साफ़ करली जायगी, नई और बढ़िया मशीनें चलने लगेंगी।

फ्रान्स की महान् राज्यक्रान्ति का वर्णन करते हुए, मिचेलेट कहता है कि "१७९२ में जब कि किसानों ने ज़मींदारों से अपनी प्यारी ज़मीन लेली थी तो उस वर्ष खेती बड़े उत्साह से की गई। उससे पहले किसानों में इतना उत्साह कभी नहीं हुआ था।"

थोड़े ही समय में, थोडी ज़मीन में घनी खेती करना सब लोगों को सुलभ हो जायगा। बढ़िया मशीनें, रासायनिक खाद, और ऐसी ही चीज़ें शीघ्र ही पञ्चायत की ओर से दी जाने लगेंगी। परन्तु प्रत्येक लक्षण से अनुमान यही होता है कि प्रारम्भ में तो फ्रान्स आदि देशों में खेती की पैदावार कम ही होगी।

हर हालत में यही समझना अच्छा होगा कि देहात और विदेश दोनों से आनेवाले माल की कमी होगी। इस कमी को किस तरह पूरा किया जायगा ?

इस तरह कि हम खुद काम करने लग जायँ। जब इलाज हमारे हाथ में ही है तो दूर-दूर दवाइयाँ ढूँढने में सिर खपाने की क्या ज़रूरत ?

बड़े शहरों को चाहिए कि वे भी गाँवों की तरह खेती करने में लग जायँ। जिसे प्राणि-शास्त्र (Biology) में "कर्तव्यों का एकत्रीकरण" कहा है, उसी पर हमें आजाना चाहिए। पहले श्रम-विभाजन का रिवाज चला, अब सब मिलकर मिहनत करें। प्रकृति का काम सर्वत्र इसी तरह चल रहा है।

यह केवल दार्शनिक बात ही नहीं है। परिस्थिति की मजबूरी भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचायगी। जब पेरिस यह समझ लेगा कि आठ महीने समाप्त होने पर रोटी की कमी पड़ जायगी तो वह गेहूँ उत्पन्न करने के काम में लग पड़ेगा।

ज़रूरत नहीं है। मजदूरों के लिए काम पर जाने के और छुट्टी के दिन के कपड़े तैयार करने चाहिए।

यह ज़रूरत नहीं कि शहरों से गाँवों में लाल-नीले या पचरंगे पट्टे लगाये हुए इन्सपेक्टर भेजे जायँ और यह हुक्म दिया जाय कि किसान अपना अपना माल इस-इस मुक़ाम पर भेजें। बल्कि आवश्यकता तो यह है कि ग्रामीणो के पास मित्रतापूर्ण संदेश भेजे जायँ और उनसे भाइयों की तरह यह कहलवाया जाय कि "तुम अपना माल हमें लादो, और हमारे भाण्डरों और दूकानों से जैसा चाहिए तैयार माल तुम लेजाओ।" तबतो खाने-पीने की चीज़ें सब ओर से आने लगेंगी। किसान केवल उतना ही माल रोक रक्खेगा, जितना कि उसको अपने लिए आवश्यक होगा। और बाक़ी सब शहरों को भेज देगा। वह इतिहास-काल में पहली ही बार यह अनुभव करेगा कि शहरों के मज़दूर उसके साथी और उसके भाई हैं, उसको लूटनेवाले नहीं हैं।

शायद लोग यह कह सकते हैं कि इसके लिए कारखानों की तो कायापलट ही कर देनी पड़ेगी। हाँ, कई विभागों में तो पूरा परिवर्तन ही करना पडेगा। परन्तु, कुछ कारखाने तो थोड़े सुधार से ही किसान के लिए ऐसे कपड़े, घड़ियाँ, फरनीचर और साधारण औज़ार बनाने लगेंगे, जिनके लिए आज उसे बहुत मंहगे दाम देने पड़ते हैं। जुलाहे, दर्जी, मोची, लुहार, बाढ़ई और कई कारीगर और धंधोंवाले तो सरलता से उपयोगी और आवश्यक वस्तुएँ बनाने लगेंगे, और केवल विलास की वस्तुएँ बनाना बन्द कर देंगे। आवश्यकता केवल इस बात की है कि जनता यह अच्छी तरह समझ ले कि उद्योग-धंधों की शकल बिलकुल बदल देना ज़रूरी है, और ऐसा करने में किसी के साथ अन्याय नहीं है और समाज की उन्नति है। सिद्धान्तवादी लोग अकसर यह भ्रम फैलाया करते हैं कि यदि उत्पत्ति और व्यापार आजकल की तरह व्यक्तियों के ही हाथ में रहे और समाज सिर्फ़ मुनाफ़ा ले लिया करे तो इस ढंग की

क्रान्ति से भी काम चल जायगा। परन्तु जनता को इस धोखे में नहीं आना चाहिए।

हमारा मत तो इस सारे प्रश्न पर यह है कि किसान को काग़ज़ के टुकड़ों से धोखा मत दीजिए—चाहे उन काग़ज़ों पर कितनी ही रकम क्यों न लिखी हो। परन्तु उसको माल के बदले में वही 'वस्तुएँ' तैयार करके दीजिए जिनकी उसे खेती के लिए ज़रूरत है। तभी खेतों की पैदावार शहरों में खूब आने लगेगी। यदि ऐसा न किया जायगा तो शहरों में दुष्काल हो जायगा। फिर निराशा भी उसके पीछे-पीछे चली आयगी और सम्भव है कि पलड़ा ही उलट जाय।

७

हम बता चुके हैं कि बड़े-बड़े नगर ग़ल्ला, आटा और खाद्य-मांस न केवल अपने देहात से ही बल्कि बाहर से भी मंगाते हैं। अन्य देश पेरिस को मसाले, मछली और जायके की तरह-तरह की चीज़ें तो भेजते ही हैं, पर बहुत-सा ग़ल्ला और मांस भी भेजते हैं।

परन्तु क्रान्ति के समय बाहर के देशों के सहारे न रहना चाहिए। यद्यपि रूस का गेहूँ, इटली या भारत का चावल, स्पेन या हंगेरी की शराबें पश्चिमी यूरोप के बाजारों में बहुतायत से मिलती हैं, पर इसका कारण यह नहीं है कि वहाँ इन चीज़ों की अत्यधिकता है या ये जंगल में अपने-आप घास फूँस की तरह उग आती हैं। उदाहरण के लिए रूस में किसान प्रति दिन काम करता है और प्रति वर्ष तीन से छः मास तक आधा पेट भूखा रहता है। यह उसे इसलिए करना पड़ता है कि वह अपना अनाज विदेशों को भेज कर उसकी क़ीमत से ज़मींदार और राज्य का कर चुका सके। वहाँ आज कल ज्योंही फ़सल कट चुकती है त्योंही गाँव में पुलिस आ जाती है और उसके सारे घोड़ों और सारी गायों को सरकारी कर तथा ज़मींदार के लगान का बक़ाया चुकाने के वास्ते बेच देती है। बेचारा किसान व्यापारी के हाथ अपना ग़ल्ला बेच कर स्वयं ही अपना बलिदान कर दे तो

जमीन की तो कमी न पड़ेगी, क्योंकि बड़े शहरों के चारों तरफ़ और ख़ास कर पेरिस के चारों तरफ़ ही अमीरों के बाग़ बग़ीचे मिलते हैं। पेरिस के आस-पास हज़ारों बीघे ज़मीन है। यह ज़मीन दक्षिण रूस के सूखे मैदानों से भी कई गुनी अधिक उपजाऊ हो सकती है। केवल विशेषज्ञ कृषकों की आवश्यकता है। श्रमिकों की भी कमी न रहेगी। जब पेरिस के बीस लाख निवासियों को रूस के जागीरदारों, रूमानिया के बड़े आदमियों और बर्लिन के धनपतियों की स्त्रियों के विलास और शौक़ के वास्ते काम न करना पड़ेगा, तो वे करेंगे क्या?

इस शताब्दि में यन्त्र-सम्बन्धी आविष्कार कितने हो चुके हैं! बड़ी-बड़ी पेचीदा मशीनरी पर भी कितनी बुद्धिमत्ता और विशेषज्ञता के साथ श्रमजीवी काम किया करते हैं! शहरों में आविष्कारक रसायनज्ञ और वनस्पतिशास्त्र के अध्यापक भी कितने होते हैं! वहाँ के बाग़वान कैसे व्यावहारिक वनस्पति-शास्त्रज्ञ हैं! यन्त्रों को बढ़ाने और परिष्कृत करने का कितना साज़ो-सामान आज मौजूद है! और नगर निवासियों में स्वाभाविक रूप से प्रबन्धशक्ति, साहस और कर्मण्यता भी कितनी अद्भुत है! जब इतनी बातें मौजूद होंगी तो क्या वहाँ के अराजक समाज की कृषि देहात की रद्दी कृषि से भिन्न न होगी?

थोड़े ही समय बाद भाप, बिजली, सूर्य-ताप और वायु वेग से भी काम लिया जाने लगेगा। भाप से चलनेवाले हल और पटेला खेत की तैयारी का मोटा काम शीघ्रता से कर देंगे, और इस प्रकार अधिक साफ़ और तैयार की हुई ज़मीन पर साल में एक ही बार नहीं, किन्तु तीन या चार बार तक घनी फ़सलें की जा सकेंगी। इसके लिए, केवल, पुरुषों को—और पुरुषों से ज़्यादा स्त्रियों को—बुद्धिमत्ता-पूर्वक उसकी देखभाल करनी पड़ेगी।

इस प्रकार वहाँ के स्त्री-पुरुष और बालक बड़ी प्रसन्नता से विशेषज्ञों से बाग़वानी की कला सीखते जायँगे, अलग थोड़ी-थोड़ी भूमि पर भिन्न-भिन्न

प्रयोग करते जायँगे, बढ़िया-से-बढ़िया और अधिक-से-अधिक माल पैदा करने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते जायँगे और खेती के काम में लग जायँगे। उन्हें बहुत थकावट या अधिक श्रम तो न होगा, पर उस शारीरिक व्यायाम से ऐसा स्वास्थ्य और बल मिलेगा जो शहरों में मिलना मुश्किल है। उस समय खेती करना इतना अरुचिकर और कष्टदायक श्रम न रहेगा बल्कि त्यौहार की भांति आनन्द देने वाली और सुख और स्वास्थ्य की वृद्धि करने वाली चीज़ बन जायगी।

"भूमि कोई भी ऊसर नहीं है। जैसा किसान, वैसी ही ज़मीन।" वर्तमान कृषिविद्या का यही अंतिम निर्णय है। ज़मीन से आप रोटी मांगिये, और वह आपको रोटी अवश्य देगी—यदि आपको ठीक तरह मांगना याद हो। यदि किसी बड़े नगर के पास छोटा-सा भी इलाक़ा हो, और बाहर से उसके लिए खाद्य सामग्री न आ सकती हो, तो वह इलाक़ा भी अपने यहाँ की पैदावार से ही उस शहर को पूरी खुराक दे सकता है।

यदि अराजक समाजवाद ठीक तरह से निःसम्पत्तिकरण शुरू करे तो उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि एक ही व्यक्ति में कृषि और उद्योग का सम्मिश्रण हो जायगा। एक ही व्यक्ति को किसान और कारीगर बनना पड़ेगा।

यदि क्रान्ति केवल इस सीढ़ी तक ही बढ़ आवे, तो अन्न के दुष्काल से तो डरने की उसे ज़रूरत न होगी। ख़तरा यदि हो सकता है तो इस बात से कि लोगों में साहस, विचारों की प्रगतिशीलता और लगन की कमी हो। साहसपूर्ण विचार पहले होना चाहिए, साहसपूर्ण कार्य तो उसके पीछे-पीछे अपने आप आजायगा।

[६]

मकान

१

श्रमजीवियों में साम्यवादी विचार बढ़ते चले जा रहे हैं, और उनके विचारों के विकास को देखनेवाले लोग जानते हैं कि घरों की व्यवस्था के विषय में तो अपने-आप धीरे-धीरे उनका एक ख़ास विचार बंधता जा रहा है। फ्राँस के बड़े-बड़े और कई छोटे शहरों में तो उनका एक प्रकार से यह निश्चित मत ही हो गया है कि मकानात वास्तव में उन लोगोंकी मिल्कियत नहीं हैं जिन्हें राज्य, आज-कल मालिक मानता है

यह विचार लोगों के दिमाग़ों में अपने आप विकसित हुआ है। घर भी 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' है यह बात तो उन्हें अब फिर समझाई ही नहीं जा सकती।

मकानात आज-कल के मकान-मालिकों ने कब बनाये थे! न जाने कितने मज़दूर लकड़ी का काम करते रहे, ईंट पकाते रहे, कारख़ानों में काम करते रहे—तब कहीं जाकर ये सजे-सजाये सुन्दर मकानात खड़े हुए हैं।

जो रुपया मालिक ने ख़र्च किया है वह भी उसकी कमाई का फल नहीं था। वह उसी प्रकार इकट्ठा किया गया था जिस प्रकार धन इकट्ठा हुआ करता है। श्रमिकों को तो उचित से दो-तृतीयाँश या केवल आधा वेतन दिया गया, और बाक़ी रख लिया गया।

इसके सिवाय जितना मुनाफ़ा मकान से मालिक उठा सकता है उतना ही उस मकान का मूल्य हुआ करता है। और इसी बात से, जो घोर अन्याय हुआ और हो रहा है वह और भी स्पष्ट दिखने लगता है। उसे यह मुनाफ़ा तो इस कारण होता है कि उसका मकान एक शहर में बना हुआ है। शहर हज़ारों मकानों का एक ऐसा समुदाय है जिसमें पक्की सड़कें हैं, पुलें हैं, घाट है और सुन्दर-सुन्दर सार्वजनिक भवन है। जिसमें प्रकाश का बढ़िया प्रबन्ध है और निवासियों को हज़ारों ऐसी सुख-सुविधाएँ हैं जो गाँवों में नहीं होतीं। उस शहर का दूसरे शहरों से आने-जाने और ख़बर-रसानी का अच्छा सम्बन्ध है। वह स्वयं उद्योग-धन्धों, व्यापार-विज्ञान और कला का केन्द्र है। वह २० या ३० पीढ़ियों की मिहनत से निवास-योग्य, स्वास्थ्यकर और सुन्दर बना है।

पेरिस के किसी ख़ास हिस्से में खड़े हुए एक मकान का मूल्य लाखों रुपया समझा जाता है। यह बात नहीं है कि सचमुच लाखों रुपये की मज़दूरी उस मकान को तैयार करने में लगी है, बल्कि बात यह है कि वह पेरिस शहर में खड़ा है। इसीसे उसका इतना मूल्य है। कई शताब्दियों में कारीगरों, कलाकारों, विचारकों और विद्वान लोगों ने मिलकर पेरिस को उद्योग-धन्धों, व्यापार, राजनीति, कला और विज्ञान का केन्द्र बना लिया है। पेरिस का एक ऐतिहासिक भूतकाल रहा है। साहित्य की कृपा से देश और विदेश में उसकी गलियों के नाम बोल-चाल के शब्द बन गये हैं। वह नगर अठारह शताब्दियों के परिश्रम का फल है। वह सारी फ्रेंच जाति की पचास पीढ़ियों का बनाया हुआ काम है।

फिर ऐसा कौन व्यक्ति है जो न्यायपूर्वक कह सके कि इस शहर में से इतनी ज़मीन या यह मकान मेरा ही है? फिर ऐसा कौन आदमी है कि जो इस सम्मिलित उत्तराधिकार की सम्पत्ति में से छोटा-सा भी हिस्सा बेचने का हक रखता हो?

हम कह चुके हैं कि इस प्रश्न पर श्रमजीवी एकमत होने लगे हैं।

पेरिस के घेरे के समय में ही मकान-मालिकों की शर्तों को बिलकुल उड़ा देने की माँग हुई थी। मकानों में मुफ्त रहने का ख़याल तो तभी पैदा हो चुका था। सन् १८७१ के कम्यून-शासन के समय में यही विचार फिर सामने आया था। पेरिस के श्रमजीवियों ने चाहा था कि कौंसिल दृढ़ता-पूर्वक मकान-किराये के नियम को मिटा दे। और भविष्य में जब क्रान्ति आयगी तब भी ग़रीब लोग तो इसी सवाल को हल करने में सब से पहले लग जायंगे।

चाहे क्रान्ति का समय हो या शान्ति का, मजदूर को तो किसी-न-किसी प्रकार रहने को घर मिलना ही चाहिए। उसका कहीं-न-कहीं आश्रय तो होना ही चाहिए। परन्तु हाल यह है कि कितना ही टूटा-फूटा और गंदा उसका घर क्यों न हो, मकान-मालिक उसको किसी भी समय निकाल सकता है। यह तो सच है कि क्रान्ति के समय में श्रमजीवी के कपड़े और सामान सड़क पर निकाल फेंकने के लिए कोई मकान-मालिक किसी अधि-कारी या पुलिस सार्जेण्ट को न बुला सकेगा, परन्तु दूसरे ही दिन नई सरकार क्या करेगी इसका किसे पता है? कौन कह सकता है कि वह बल-प्रयोग न करेगी, और किरायेदार को उसकी गंदी कोठरी से निकाल बाहर करने के लिए पुलिस के भेड़ियों को उस पर न चढ़ा देगी? हमने देखा है कि पेरिस के कम्यून-शासन ने केवल प्रथम अप्रेल तक के ही चक़ाया क़िरायों की रक़मों को मंसूख किया था। उसके बाद यद्यपि शहर में अव्यवस्था रही और उद्योग-धन्धे वन्द पड़े हुए थे, फिर भी मकानों का किराया चुकाना पड़ता था। फल यह हुआ कि जिन क्रान्तिकारियों ने पेरिस की स्वतन्त्रता बचाने के लिए युद्ध किया था उनके और उनके परिवार के भरण पोषण के लिए पंद्रह आने रोज़ के भत्ते के सिवाय और कोई उपाय न बचा।

तो, मजदूर को यह साफ़ तौर पर समझा देना चाहिए कि मकान-किराया न चुकाना यह ऐसा लाभ नहीं है जो केवल अव्यवस्था के कारण

ही हुआ हो ? उसे यह जानना चाहिए कि किराये की प्रथा एक सर्वसम्मत सिद्धान्त के कारण मिटाई गई है। जनता ने उच्चस्वर से घोषित कर दिया है कि रहने के लिए घर मुफ्त मिलना ही चाहिए। यह मनुष्य का अधिकार है।

मध्यमवर्ग में बिखरे हुए थोड़े-से साम्यवादी लोगों की ही अस्थायी सरकार बनेगी। और जबतक वे इस न्यायानुमोदित उपाय को हाथ में न लेंगे, तबतक क्या हमें प्रतीक्षा में ही बैठे रहना चाहिए ? यदि ऐसा हुआ तो, जनता को बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, और तबतक चक्र उल्टा घूम ही जायगा।

इसी कारण, सच्चे क्रान्तिकारी लोग तो, अधिकार और गुलामी के बाहरी चिन्हों—वर्दी और बिल्लों—को त्यागकर, जनसाधारण में जन-साधारण बनकर, लोगों के साथ मिलकर काम करेंगे। वे प्रयत्न करेंगे कि मकानात जनता की सम्पत्ति हो जायँ, और किराये की प्रथा उठ जाय। वे इसके लिए क्षेत्र तैयार करेंगे और इस ओर विचारों को प्रोत्साहित करेंगे। कुछ ऐसे सिद्धान्त भी उनके सामने आयेंगे कि मकान-मालिकों को हर्जाना दिया जाय और पहले हर्जाना चुकाने के लिए रुपयों का इन्तज़ाम कर लिया जाय। परन्तु वे इनकी परवाह न करते हुए मकानों की ज़ब्ती करने में लग जायँगे।

जिस दिन मकानों का निःसम्पत्तीकरण हो जायगा, उस दिन सदा से लुटता रहनेवाला श्रमजीवी अनुभव करेगा कि अब नये युग का उदय हुआ है। अब श्रमिकों को धनाढ्यों और बलवानों का जुआ न उठाना पड़ेगा। उस दिन वह अनुभव करेगा कि समानता खुले तौर से घोषित हो गई है। पिछली क्रान्तियों में तो कोरा सैद्धान्तिक धोखा था, पर यह क्रान्ति तो सच्ची क्रान्ति है।

२

यदि एक वार जनता ने निःसम्पत्तीकरण के विचार को पकड़ लिया, तो कितनी ही 'अजेय' बाधाएँ क्यों न आवें, तो भी वह विचार पूरा हो जायगा।

नई वर्दियाँ पहने हुए, सरकारी आरामकुर्सियों पर बैठे हुए, भले मानस तो बाधा-पर-बाधा डालते ही रहेंगे। वे कहेंगे कि मालिकों को हर्जाना दिया जाय, गणना पत्र तैयार किये जायँ, और बड़ी-बड़ी रिपोर्टें तैयार कराई जायँ। हाँ, वे इतनी लम्बी-लम्बी रिपोर्टें निकाल सकेंगे कि जनता भी निराश हो जायगी। लोग मजबूरन् वेकार बैठे रहेंगे, भूखों मरते रहेंगे, और समझ जायँगे कि इन सरकारी जाँचों से कुछ फल न निकलेगा। उनको न तो क्रान्ति में उत्साह रहेगा और न विश्वास। वे क्रान्ति के शत्रुओं के वास्ते मैदान ख़ाली कर देंगे। नई नौकरशाही जनता की दृष्टि में निःसम्पत्तीकरण को ही घृणित बना कर छोड़ेगी।

यह एक ऐसी चट्टान ज़रूर है जो हमारी आशाओं के जहाज़ को तोड़ सकती है। परन्तु लोगों को चौंधियाने के लिए पेश की हुई दलीलों को सुनने की ज़रूरत नहीं है। लोगों को समझ लेना चाहिए कि नये जीवन के लिए नई परिस्थिति की ज़रूरत हुआ करती है। यदि इस कार्य को वे स्वयं ही हाथ में लेलेंगे तो निःसम्पत्तीकरण विना किसी कठिनाई के ही हो सकेगा।

परन्तु आप पूछेंगे कि "यह कैसे हो सकता है?" हम इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु एक वात अवश्य कहनी है। हमारा यह इरादा नहीं है कि हम तफ़सीलवार निःसम्पत्तीकरण की योजना बतावें। किसी व्यक्ति या समुदाय की आज की सारी तजवीज़ें वास्तविकता के सामने बहुत कम टिक सकेंगी। पहले से ही जितना बताया जा सकता है, मौक़े पर मनुष्य उससे अधिक महान् कार्य करेगा, अच्छे प्रकार से करेगा और सीधे तरीक़े से करेगा। इसलिए हम तो केवल यह बतायँगे कि किस

प्रकार सरकार के दख़ल दिये बग़ैर ही निःसम्पत्तीकरण किया जा सकेगा। जो लोग यह कहते हैं कि बिना किसी सरकार के निःसम्पत्तिकरण होना ही असम्भव है उनको उत्तर देने की जरूरत नहीं है। हम इतना ही उत्तर देना चाहते हैं कि हम किसी विशेष प्रकार के संगठन के समर्थक नहीं हैं। हमारा काम तो इतना ही सिद्ध करना है कि निःसम्पत्तिकरण जनता द्वारा ही हो सकेगा और किसी भी अन्य प्रकार से नहीं हो सकेगा।

सम्भव है कि जब निःसम्पत्तीकरण का काम चल निकले, तो हर मुहल्ले, गली और चाल में स्वयंसेवकों के दल बन जायँगे। वे इन बातों की जाँच करेंगे कि कितने मकानात और तल्ले ख़ाली हैं, कितने खूब भरे हुए हैं, तङ्ग और अंधेरी कोठरियाँ कितनी हैं, और ऐसे मकानात कितने हैं जो उनके रहनेवालों की आवश्यकता से बहुत बड़े हैं और जिनमें वे लोग आ सकते हैं जो दूसरी जगह कठिनाई से ठसाठस रह रहे हैं। केवल थोड़े ही दिनों में ये स्वयंसेवक सारी गलियों और मुहल्लों के सारे तल्लों, कमरों, हवेलियों,और शहर के बाहर के बँगलों की सूची,स्वास्थ्यकर और अस्वास्थ्य-कर, छोटे और बड़े कमरों की सूची, तहख़ानों और बढ़िया भवनों की सूची बना डालेंगे।

ये स्वयसेवक एक-दूसरे से मिलते और सम्मति लेते हुए तो रहेंगे ही। इन्हें अपनी गणना पूरी करने में देर भी न लगेगी, कमिटियों और दफ्तरों में बैठकर झूठे गणना पत्र बनाए जा सकते हैं परन्तु सच्ची और सही गणना तो व्यक्ति ही प्रारम्भ कर सकता है। फिर उससे बड़े इकजाई नक़शे तैयार होने चाहिएँ।

फिर ये नागरिक किसी की आज्ञा के लिए न ठहरेंगे। वे ऊपरी तल्लों के छोटे-छोटे कमरों में या बन्द कोठरियों में रहने वाले दुर्दशाग्रस्त भाइयों को जाकर ढूँढेंगे। उनसे सरल स्वभाव से कहेंगे "भाइयो! इस बार की क्रान्ति सच्ची क्रान्ति है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। आज शामको तुम इस स्थान पर आना। सारे पड़ोसी वहीं मिलेंगे। घरों का नया बटवारा

होने वाला है। यदि तुम अपनी बन्द कोठरी से तंग आ गये हो तो आकर किसी पाँच कमरों के एक तल्ले को पसन्द कर लेना। उसमें आने के बाद तुम वहाँ निर्भय होकर रह सकते हो। लोगों ने हथियार उठा लिये हैं और जो कोई तुम्हें निकालने का प्रयत्न करेगा उसे उसका मजा चखना पड़ेगा।"

कुछ लोग कहते हैं कि "हर एक व्यक्ति बढ़िया मकान या लम्बा चौडा तल्ला माँगेगा।"—नहीं, आपने बिल्कुल ग़लत समझा है। लोग असम्भव बात नहीं चाहा करते। बल्कि जब-जब जनता ने किसी अन्याय का प्रतिशोध किया है तब-तब जनसाधारण की सद्भावना और न्याय-बुद्धि को देख कर हमें चकित होजाना पड़ा है। क्या हमने कभी उन्हें असम्भव माँग करते हुए देखा है? पेरिस के दोनों घेरों में या १७९२-९४ के भयङ्कर वर्षों में लोग भोजन या ईंधन लेने के लिए आकर खड़े रहते थे। वे सब खूब जानते थे कि जो कोई पीछे आयगा उसे उस दिन न तो भोजन मिल पायगा और न अग्नि। फिर भी उस समय वे आपस में लड़ते न थे। जो व्यापक धैर्य और त्याग उनमें १८७१ में पाया गया उसका वर्णन विदेश के सम्वाददाताओं ने बड़ी प्रशंसा के साथ किया है।

इस बात को हम अस्वीकार नहीं करते कि किसी-किसी व्यक्ति में खूब स्वार्थभावना रहा करती है। हमको यह अच्छी तरह मालूम है। परन्तु हमारा कहना तो यह है कि गृह-व्यवस्था करना आदि जनता के प्रश्नों को किसी बोर्ड या कमिटी के अधीन कर देने से या किसी भी प्रकार के सरकारीपन की दया पर छोड देने से ही यह स्वार्थ-भावना जागृत और पुष्ट होती है। उस अवस्था में सारी बुरी मनोवृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं। फिर बाज़ी उसके हाथ में रहती है जो कमिटी में सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। ज़रा-ज़रा-सी असमानता के कारण झगड़े और परस्पर दोषारोपण होने लगते हैं। जहाँ किसी एक व्यक्ति के साथ थोड़ी रिआयत की गई कि बड़ा भारी शोर मच जाता है। और वह अकारण भी नहीं होता।

परन्तु यदि जनसाधारण स्वयं ही गलियों, मुहल्लों और चालों में

अपना संगठन बनाकर, गंदे या पिछवाड़े के घरों में रहनेवाले लोगों को मध्यमवर्ग के ख़ाली मकानों में पहुँचाने लगें, तो थोड़ी-थोड़ी तकलीफ़ें या छोटी-छोटी असमानताएँ तो सरलता से दूर हो जायंगी।

जब कभी यह देखा गया कि क्रान्ति की नाव डूबनेवाली है, और उसको बचाने के लिए श्रमजीवियों से अपील की गई कि, भाइयो, अबकी आख़िरी बार अपनी वीरता और आत्म-त्याग से इसको बचाओ, तबतब वे पीछे नहीं रहे है। आगामी क्रांति में भी ऐसा ही होगा।

परन्तु भरसक समझाने और कोशिश करने पर भी कुछ असमानताएँ, कुछ अनिवार्य अन्याय रह ही जायँगे। ऐसे भी व्यक्ति समाज में होते हैं जिन्हें कोई भी कठिन काल स्वार्थ के दलदल से नहीं निकाल सकता। परन्तु प्रश्न यह नहीं है कि अन्याय बिलकुल रहेंगे या नहीं, प्रश्न तो यह है कि वे क़िस प्रकार कम किये जायँ।

सारे इतिहास, मानव-जाति के सारे अनुभव, और सारे सामाजिकि मनोविज्ञान से सिद्ध है कि किसी काम को करने का सब से अच्छा और सुन्दर उपाय यही है कि जिन लोगों से उस काम का सम्बन्ध है, उन्हींके हाथों में उसको छोड दिया जाय। सैकड़ों छोटी-छोटी तफ़सीलों पर सरकारी बटवारे में विचार नहीं हो पाता। उनपर विचार करने और समाधान करने का अधिकार उन्हीं लोगों को है जिनसे उनका सम्बन्ध है।

३

इसके सिवाय यह भी आवश्यक नहीं है कि घरों का शुरू से ही बिलकुल बराबर बटवारा किया जावे। पहले-पहले तो कुछ तकलीफ़ें रहेंगी, परन्तु निःसम्पत्तीकरण को अपनाने वाले समाज में सब बातें शीघ्र ही ठीक हो जायँगी।

जब राज, बढ़ई और गृह-निर्माण का काम जाननेवाले दूसरे लोग यह समझ लेंगे कि अब भोजन की तो चिन्ता रही नहीं है, तो वे अपने पुराने

काम को ही रोज़ कुछ घण्टे क्यों न करना चाहेंगे ? जिन बढ़िया मकानों को साफ़-सुथरा रखने के लिए अनेक नौकरों की आवश्यकता रहा करती थी, वे उनको कई परिवारों के रहने के योग्य बना डालेंगे, और कुछ ही महीनों में आज-कल के मकानों से अधिक आरामदार और कहीं स्वास्थ्यकर घर तैयार हो जायँगे। फिर भी जिन लोगों को अच्छा घर न मिल पायगा, उन लोगों से अराजक साम्यवादी यह कहेगा कि "भाइयो, धैर्य रक्खो। अब हमारे स्वाधीन नगर में ऐसे-ऐसे महल खड़े होंगे जो धनपतियों के महलों से भी सुन्दर और बढ़िया होंगे। वे उन्हीं के होंगे जिनको उनकी अधिक आवश्यकता होगी। अराजक समाज आमदनी की दृष्टि से मकान नहीं बनवायगा। नागरिकों के वास्ते खड़े किये हुए वे भवन सामुदायिक भावना के फल होंगे, और सारी मनुष्यजाति के वास्ते उदाहरण का काम देंगे। और उन पर अधिकार होगा आपका।"

यदि क्रान्ति करनेवाले लोग घरों की जब्ती करेंगे और यह घोषणा करेंगे कि सारे मकान समाज के हैं और प्रत्येक परिवार को अच्छे घर में मुफ्त रहने का अधिकार है, तो कहा जायगा कि प्रारम्भ से ही क्रान्ति ने समाजवादी स्वरूप ग्रहण किया है, और वह ऐसे मार्ग पर आगई है जिस-से उसे हटाना सरल नहीं है। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एक घातक प्रहार होगा।

घरों के निःसम्पत्तीकरण में ही सारी समाजवादी क्रान्ति का बीज है। उस क्रान्ति को सम्पादित करने के तरीक़े पर ही आगे होनेवाली घटनाओं का स्वरूप निर्भर है। या तो हम सीधे अराजक समाजवाद तक पहुँचने वाली सुन्दर सडक पर चलने लगेंगे, नहीं तो अत्याचारी व्यक्तिवाद के दलदल में ही फँसे रहेंगे।

सिद्धान्त की और व्यवहार की कई शंकाओं का हमें सामना करना पड़ेगा। विरोधी तो हर प्रकार असमानता को बनाये रखना चाहेंगे। वे "न्याय की दुहाई देकर" भी विरोध करेंगे। वे कहेंगे कि "क्या यह घोर

लज्जा की बात नहीं है कि शहर के लोग तो इन बढ़िया मकानों पर क़ब्ज़ा करलें और देहात में किसानों को रहने के लिए केवल टूटी फूटी झोंपड़ियाँ ही हों ?" परन्तु इन न्याय के ठेकेदारों की स्मरण-शक्ति कहाँ चली जाती है जब वे भूल जाते हैं कि जिस चीज की ये अप्रकट रूप से रक्षा करना चाहते हैं वह कितनी "घोर लज्जा की" चीज़ है। वे भूल जाते हैं कि उसी नगर में मज़दूर, उसकी स्त्री और बालक, सब गंदी कोठरी में घुट रहे हैं और उनके सामने ही अमीरों के महल खड़े हैं। वे यह भूल जाते हैं कि छोटी-छोटी गंदी कोठरियों में पीढ़ियों से लोग रह रहे हैं। हवा और रोशनी के लिए तड़फते हुए वे मरते जा रहे हैं। इस अन्याय को मिटाना ही क्रान्ति का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए।

इस छल में हमें न आना चाहिए। क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में शहर और देहात के बीच जो असमानता रहेगी, वह अस्थायी होगी और दिन-ब-दिन स्वयं हटती जायगी। ज्योंही किसान, खेत-मालिक, व्यापारी, साहुकार और राज्य का जुआ उठानेवाला पशु न रहेगा, त्योंही ग्राम में भी घरों का सुधार होने लगेगा। एक आकस्मिक और अस्थायी असमानता से बचे रहने के लिए क्या हम एक पुराने चले आए अन्याय को न मिटायँगे ?

जो आक्षेप व्यावहारिक कहलाते हैं वे भी सबल नहीं हैं। वे उदाहरण देते हैं कि एक बेचारा ऐसा व्यक्ति है, जिसने अपने साधारण सुखों को त्यागकर बड़ी मुश्किल से अपने परिवार के ही योग्य एक घर ख़रीद पाया है; और हम उसके महनत से कमाये हुए सुख-साधन को छीन लेंगे, उसको निकाल बाहर करेंगे ! नहीं, ऐसा हर्गिज न होगा। यदि उसका घर इतना ही बड़ा है कि उसमें उसका ही परिवार रह सकता है तो वह बड़ी खुशी से वहीं रहे। वह अपने छोटे-से बगीचे में भी काम करता रहे। हमारे स्वयंसेवक उसे नहीं रोकेंगे, बल्कि आवश्यकता होगी तो सहायता भी देंगे। पर मान लो कि वह किराये से घर देता है या उसमें कुछ कमरे खाली हैं, तो लोग उस किरायेदार से कहेंगे कि तुम अपने

मकान मालिक को कोई किराया मत दो। जहाँ तुम रह रहे हो वहीं रहते रहो, परन्तु बिना किराये। अब तकाज़ेवाले और टैक्स वसूल करनेवाले बिलकुल नहीं हैं। समाजवाद ने सब झगड़ा पाक कर दिया है।

अथवा, कल्पना कीजिए कि एक सेठ साहब के पास तो बीस कमरे हैं और एक ग़रीब स्त्री अपने पाँच बालकों को लेकर पास में एक ही कोठरी में रहती है। तो, लोग यह प्रयत्न करेंगे कि खाली कमरे, कुछ परिवर्तन किये जाने पर, उस ग़रीब स्त्री और उसके पाँच बालकों के रहने योग्य बन जायँ। वह माँ और उसके पाँच बालक एक कोठरी में सड़ते रहें और सेठ करोड़ीमलजी एक खाली महल में गुलछर्रे उड़ाते रहें, इस अन्याय को कौन रहने देगा? सम्भव है, कि भलमनसाहत से करोड़ीमलजी स्वयं ही उस स्त्री और बालकों को अपना ख़ाली घर दे देंगे। जब नौकर चाकर न मिलेंगे तो सेठानी भी इतने बड़े मकान को साफ़ सुथरा रखने की झंझट से छुटकारा पाने से बड़ी खुश होगी।

क़ानून और व्यवस्था के हिमायती कहते हैं कि "तुम तो सब कुछ उलट-पलट कर देना चाहते हो। फिर तो मकानों से निकालने और हटाये जाने का ताँता ही लगा रहेगा। क्या यह अच्छा न होगा कि नये सिरे से ही प्रबन्ध शुरू किये जावें? पहले तो सभी लोगों को घरों से निकाल दें और फिर चिट्ठी (लॉटरी) डालकर घरों का बटवारा हो?" यह तो हुआ समालोचकों का कहना। परन्तु हमें तो दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई सरकार हस्तक्षेप न करे, और यदि सारे परिवर्तन उन्हीं स्वयंसेवक-संघों द्वारा हो जो इस काम को करने के लिए बने हैं, तो भी घरों से लोगों को निकालने और हटाने के उदाहरण उतने न होंगे, जितने कि वर्तमान प्रणाली में मकान मालिकों के लोभ के कारण हर साल होते हैं।

पहले तो, सभी बड़े शहरों में गंदे घरों के रहनेवालों को रखने योग्य घर और तल्ले काफ़ी खाली हैं। महलों और बढ़िया भवनों में तो श्रमजीवी यदि रह भी सकें तो भी न रहेंगे। ऐसे कानों को सम्भालने के लिए

अनेक नौकर-चाकर चाहिए। उनमें रहनेवाले शीघ्र ही बाध्य होकर अपने लिए छोटे मकान तलाश करेंगे। बड़े घरों की स्त्रियाँ समझ जायँगी कि जब खाना ही अपने हाथ से बनाना पड़ता है, तो महलों की संभाल कौन करेगा? धीरे-धीरे लोग दूसरी जगह चले जायँगे। धनवान् व्यक्तियों को छोटे मकानों में, और ग़रीब कुटुम्बों को बड़े घरों में पहुँचाने के लिए ज़बरदस्ती करने की नौबत नहीं आयगी। संघर्ष और गड़बड़ी बहुत ही कम होगी। जैसा घर मिल जायगा, लोग प्रसन्नता से उसी में चले जायँगे। पंचायती गाँवों के उदाहरण हमारे पास हैं। वहाँ जब खेतों का नया बँटवारा होता है तो खेतों की अदला-बदली बहुत कम होती है। उनकी समझदारी और सद्भावना प्रशंसनीय होती है। जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का राज्य है, और झगड़े सदा कचहरियों में जाते रहते हैं वहाँ की अपेक्षा पंचायती गाँवों के प्रबन्ध में खेतों की अदला-बदली कम होती है। तो क्या हमें यह समझना चाहिए कि नगर के लोग किसानों से भी कम बुद्धिमान् और संगठन करने के योग्य सिद्ध होंगे?

फिर हमें यह बात भी न भूल जाना चाहिए कि क्रान्ति से दैनिक जीवन विधि में कुछ न-कुछ गड़बड़ तो होती ही है। जो लोग यह आशा करते हैं कि पुरानी परिपाटी छूटकर क्रान्ति बिना थोड़ी-सी भी गड़बड़ के हो जायगी, वे ग़लती करते हैं। रईस लोगों के ऐशो-आराम में कुछ भी खलल हुए बिना ही सरकारों का बदल जाना तो सम्भव है, परन्तु समाज का अपने पोषण-कर्त्ताओं और आश्रयदाताओं पर जो अत्याचार है वह राजनैतिक दलबंदी और चालबाज़ी से दूर नहीं हो सकता।

गड़बड़ी तो होगी ही, परन्तु उससे हानि-ही हानि न होनी चाहिए। हानि या तकलीफ़ तो कम-से-कम होनी चाहिए। और इसका तरीक़ा यही है कि हम बोर्डों या कमिटियों से काम न लेकर खुद उन लोगों से सीधी बात करें जिनका हानि-लाभ से सम्बन्ध है। बस, इस सिद्धान्त पर जितना ज़ोर दिया जाय उतना ही थोड़ा है।

एक चपल-मस्तिष्क चुनाव का उम्मेदवार कहता है कि 'मैं सब-कुछ जानता हूँ, मैं सब-कुछ कर सकता हूँ, और मैं सबको व्यवस्थित करने का ठेका लेता हूँ; मुझे अपने प्रतिनिधित्व का सौभाग्य दीजिए।' जो लोग उसको चुनते हैं वे ग़लती-पर-ग़लती करते हैं। परन्तु जिस काम को लोग जानते हैं, जिस काम का उनसे सीधा सम्बन्ध है, उसको जब वे स्वयं करने लगते हैं तो वह उन कमिटियों और कौन्सिलों के सारे कार्य से बहुत अच्छा होता है। पेरिस के कम्यून-शासन और बन्दरगाह के मज़दूरों की बड़ी हड़ताल के समय ऐसा ही तो हुआ था। ग्रामीण पंचायतों में भी इसके प्रमाण नित्य मिलते हैं।

[७]

कपड़े

जब मकानों पर नागरिकों का सम्मिलित अधिकार हो जायगा, और जब सब आदमियों को भोजन मिलने लगेगा, तो एक क़दम और आगे बढ़ाना पड़ेगा। इसके बाद सवाल होगा कपड़ों का। इसका उपाय भी यही हो सकेगा कि जिन जिन दूकानों और गोदामों में कपड़ा बिकता या इकट्ठा रहता है, उन पर जनता क़ब्ज़ा करले। वहां सबको आज़ादी रहे कि जिसे जितना चाहिए वह उतना ले सके। वस्त्रों का समाजीकरण अर्थात् पंचायती भण्डार से अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्त्र लेने या दर्ज़ियों से कटवा-सिलवा लेने का अधिकार तो, मकान और भोजन के समाजीकरण के साथ ही लगा हुआ है।

हमारे समालोचक मज़ाक़ और शरारत से कहा करते हैं कि तब तो सारे नगर-वासियों के कोट लूटने पड़ेंगे, सारे वस्त्रों का ढेर करना पड़ेगा, और उसमें से चिट्ठी-(लॉटरी) डाल कर कपड़े बाँटने पड़ेंगे। परन्तु वास्तव में इसकी ज़रूरत न होगी। जिसके पास एक कोट है, वह उसे उस समय भी रख सकेगा—बल्कि यदि उसके पास दस कोट भी होंगे तो भी लोग उससे छीनना न चाहेंगे। क्योंकि किसी मोटे पेट वाले के उतरे हुए कोट की अपेक्षा तो अधिकांश लोग नये कोट को अधिक पसद करेंगे। नया कपड़ा ही इतना अधिक मौजूद रहेगा कि पुराने कपड़ों के बिना भी काम चल जायगा। शायद बच भी रहे।

यदि हम बड़े शहरों की दूकानों और भण्डारों के सारे कपड़े की सूची बनावें तो शायद हमें ज्ञात होगा कि पेरिस, लियोन्स, बोर्डो और मार्सेलीज़ में इतना काफ़ी कपड़ा है कि समाज सारे स्त्रियों और पुरुषों को पोशाकें दे सकता है। और यदि तैयार कपड़े सब को तत्काल ही न मिल सकें तो पंचायती दर्ज़ी शीघ्र ही बना देंगे।। आज-कल बड़ी बड़ी विशेष मशीनों के कारण सिलाई के कारख़ाने कपड़े सीकर कितनी जल्दी तैयार कर देते हैं, यह हम जानते ही हैं।

परन्तु हमारे विरोधी ज़ोर से कहते हैं कि "सब पुरुष बढ़िया ऊनी कोट माँगेंगे और सब स्त्रियाँ मखमली कपडे माँगेंगी तो?"

सच पूछा जाय तो हम ऐसा नहीं मानते। हर एक औरत मखमल के लिए मरी नहीं जाती, न हर एक आदमी बढ़िया ऊन का ही स्वप्न देखता है। आज भी यदि हम प्रत्येक स्त्री से अपने कपड़े पसन्द करने को कहें तो कई स्त्रियां तो तड़क-भड़क वाले कपड़ों की अपेक्षा सादे व्यावहारिक कपड़े लेना अधिक पसंद करेंगी।

फिर समय के साथ रुचि भी बदलती है। अतः क्रांति के समय तो प्रचलित पहनाव सादगी की तरफ़ जरूर झुकेगा। व्यक्तियों की भांति समाजों का भी कमज़ोरी का ज़माना होता है। परन्तु वीरता का भी ज़माना आता है। यद्यपि आज-कल का समाज संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थों और रद्दी विचारों में डूबा हुआ है, परन्तु जब महान् आपत्तिकाल आते हैं तब उसका रूप भिन्न हो जाता है। उसकी महानता और उत्साह के दिन भी हुआ करते हैं। जो शक्ति आजकल स्वार्थ साधकों के हाथ में है वह उदार प्रकृति के मनुष्यों के हाथ में आजायगी। आत्म त्याग की भावना उत्पन्न हो जायगी। महान् घटनाओं के समय महान् कार्य ही होते हैं। उस समय अहम्मन्य स्वार्थी व्यक्ति भी पीछे रहने से लज्जित होंगे, और यदि वे अनुकरण नहीं करेंगे तो कम-से-कम उदार और वीर व्यक्तियों की प्रशंसा तो अवश्य करने लगेंगे।

सन् १७९२ की महान् क्रान्ति में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। उच्च भावनाओं के युग व्यक्तियों की भाँति समाजों में भी अपने आप उपस्थित होते हैं। उत्साह के जिस वसन्तकाल से मानव-जाति आगे बढ़ती है, वह ऐसे ही युगों में उमड़ा करता है।

इन उच्च भावनाओं को अधिक बढ़ाकर वर्णन करने की हमारी इच्छा नहीं है। और न इनके आधार पर ही हम समाज का आदर्श स्थापित करेंगे। परन्तु यदि हम आशा करें कि इन भावनाओं की सहायता से प्रारम्भिक कठिनाई के दिन निकल जाँगे, तो इसमें हर्ज ही क्या है? हम यह तो आशा नहीं कर सकते कि हमारा दैनिक जीवन निरन्तर ऐसे पवित्र उत्साह से प्रस्फुरित रहेगा, परन्तु प्रारम्भ में हम उसकी सहायता की आशा अवश्य कर सकते हैं। और इतना ही काफ़ी है।

ज़मीन साफ़ करने और शताब्दियों की दासता और अत्याचार से इकट्ठी हुई ठिकरियों और कूड़े-करकट को झाड़-बुहार कर हटा देने के लिए ही नये अराजक समाज को इस भ्रातृ-प्रेम की लहर की आवश्यकता होगी। बाद में, आत्म-त्याग की भावना के बिना भी समाज का अस्तित्व रह सकेगा, क्योंकि तब अत्याचार मिट जायगा, और एकता की एक नवीन संसार-व्यापी चेतना उत्पन्न हो जायगी।

यदि क्रान्ति का स्वरूप वैसा ही हुआ जैसा कि हमने वर्णन किया है तब तो स्वार्थियों के प्रयत्न निष्फल हो जायँगे, और व्यक्ति अपनी बुद्धि और प्रयत्न से इस दिशा में खूब काम कर सकेंगे। कपड़े के प्रबन्ध का भार लेने के लिए हर गली और मुहल्ले में स्वयंसेवक दल बन जायँगे। वे ऐसी फ़हरिस्तें बना लेंगे जिनमें नगर के सारे माल का इन्दराज होगा, और वे यह भी अन्दाज़ से जान लेंगे कि उनके पास कितना माल है। बहुत सम्भव है कि कपड़े के बटवारे के विषय में भी नगर-वासी उसी सिद्धान्त को ग्रहण करें जो भोजन के विषय में किया। जो चीज़ सार्व-

जनिक भण्डार में बहुतायत से होगी उसे वे चाहे जितना दे देंगे, और जो चीज़ थोड़ी होगी उसको हिस्सेवार बाँट देंगे।

प्रत्येक आदमी को बढ़िया ऊनी कोट और प्रत्येक स्त्री को मखमली कपड़े तो न दिये जा सकेंगे। इसलिए, संभवतः समाज फ़ालतू और ज़रूरी चीज़ों में भेद करेगा। शायद थोड़े समय के लिए तो बढ़िया ऊनी कपड़ा और मखमल फालतू चीज़ों में ही गिने जायँ। जो चीजें आज विलास वस्तुयें कहलाती हैं शायद आगे वे ही सबकी मामूली चीज़ें बन जायँ। परन्तु इसके लिए समय की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

अराजक नगर के सब निवासियों के लिए कपड़ों का प्रबन्ध तो किया ही जायगा, पर जो चीज़ें उस समय विलास-वस्तुयें समझी जायँगी, वे बीमारों और कमज़ोरों के वास्ते रहेंगी। साधारण नागरिकों के रोज़ काम में न आनेवाली चीज़ें भी दुर्बलों के लिए रहेंगी।

परन्तु कुछ लोग यह कहेंगे कि "इससे तो सबके कपड़े एक-से हो जायँगे और जीवन और कला की सारी सुन्दरता ही नष्ट हो जायगी।"

पर हमारा उत्तर है कि "ऐसा नहीं होगा।" वर्तमान शक्ति और साधनों से भी, अराजक समाज में, कला की ऊँची-से ऊँची रुचियाँ पूर्ण हो सकती हैं, और इसके लिए बड़े-बड़े करोड़पतियों की सम्पत्ति की ज़रूरत भी नहीं है। यह बात हम आगे दिखाने वाले हैं।

[८]

उपाय

१

यदि कोई समाज, नगर या प्रदेश अपने निवासियों के जीवन की समस्त आवश्यकताओं का प्रबंध करना चाहे तो उसको उन चीज़ों पर अधिकार करना पड़ेगा जो उत्पत्ति के लिए आनिवार्य रूप से अवश्यक हैं; अर्थात् ज़मीन, यन्त्र, कारख़ाने, माल लाने-ले-जाने के साधन आदि। व्यक्तियों के हाथ से छीनकर पूँजी समाज को देदी जायगी।

हम पहले कह चुके हैं कि मध्यम-वर्गीय समाज से केवल यही बड़ी हानि नहीं हुई है कि उद्योग-धंधों और व्यापार का अधिकांश मुनाफ़ा पूँजीपति खाजाते है और बिना श्रम किये ही जीवित रह सकते हैं, परन्तु यह भी एक बड़ी हानि हुई है कि सारी उत्पत्ति ग़लत रास्ते पर चल रही है। आजकल उत्पत्ति का ध्येय यह नहीं है कि सब सुखी रहें, बल्कि कुछ दूसरा ही है। इसी कारण वह निंदनीय है।

व्यापारिक उत्पत्ति सब के हित की दृष्टि से हो भी कैसे सकती है? पूँजीपति तो अपने लिए पैसा पैदा करने वाला एक कारख़ानेदार है। उससे यह आशा करना कि वह सबके हित के लिए उत्पत्ति करे—उससे ऐसा काम लेना है जो वह कर नहीं सकता, और करे भी तो वह जो कुछ है वह रह नहीं सकता। हाँ, उसने एक बात की है। उसने श्रमजीवियों के उत्पादक-बल को बढ़ा दिया है। व्यक्तिगत लाभ के लिए बने हुए पूँजी-

वादी संगठन से इतना मिल गया, यही क्या कम है? पूँजीपति ने वाष्प-शक्ति, रसायन शास्त्र, यन्त्र-कला और इस शताब्दि के अन्य आविष्कारों की बड़ी उन्नति से लाभ उठाया, अपने फ़ायदे के लिए मज़दूरों की उत्पादक-शक्ति को बढ़ाया, और अभीतक इसमें वह बहुत-कुछ सफल भी हुआ। परन्तु उससे दूसरे कर्त्तव्यों की आशा करना अनुचित होगा। उदाहरणार्थ, उससे यह आशा करना कि वह अपने मज़दूरों की इस बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति को सारे समाज के हितार्थ लगा दे, उससे मानव जाति-प्रेम और त्याग की माँग करना है। पूँजीवादी व्यवसाय भी कहीं त्याग के आधार पर खड़ा रह सकता है?

यह बढ़ी हुई उत्पादक-शक्ति केवल खास-खास उद्योग-धन्धों में ही सीमित है। इसको विस्तृत करने और सार्वजनिक हित में लगाने का काम समाज के लिए रह जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि मज़दूरों की इस महान् उत्पादकशक्ति को सबके सुख-सम्पादन में लगाने के लिए समाज को उत्पत्ति के सारे साधनों पर ही क़ब्ज़ा करना पड़ेगा।

अपने स्वभाव के अनुसार अर्थशास्त्रज्ञ लोग कहेंगे कि देखिए वर्तमान प्रणाली ने ख़ास-ख़ास उद्योग धन्धों के विशेषज्ञ ये कितने जवान-जवान और तगड़े-तगड़े श्रमिक पैदा किये हैं और इस प्रणाली की बदौलत ये बड़े सुख से जीवन-निर्वाह करते हैं। जब कभी जिक्र आता है तो इन्हीं थोड़े-से आदमियों की ओर गर्व के साथ इशारा किया जाता है। परन्तु, यह सुखी जीवन भी, जो केवल थोड़े ही लोगों के हिस्से में आता है, कितने दिन टिक पाता है? सम्भव है, कल ही लापरवाही, अविचार या कारख़ानेदार के लोभ के कारण इन विशेषाधिकार रखनेवाले लोगों का काम छूट जाय, और जो थोड़े-से दिन इन्होंने आराम के साथ बिताये, उसके बदले में इन्हें कई महीने और वर्ष दुःख और दरिद्रता में गुजारने पड़ें। थोड़ी उम्रवाले व्यवसायों की बात जाने दीजिए, कपड़े, लोहे, शक्कर आदि के प्रधान उद्योग-धन्धों को ही लीजिए। कभी सट्टे के कारण, कभी

अपने-आप काम के बदल जाने के कारण और कभी पूँजीवालों की ही आपस की प्रतिस्पर्धा के कारण कितने ही ऐसे कारख़ाने कमज़ोर या बन्द होते देखे गये हैं।

माना कि थोडे-से विशेष श्रेणी के कारीगरों का जीवन कुछ अंशों में सुखी हो जाता है, परन्तु उसके लिए क़ीमत कितनी भारी देनी पड़ती है? इन थोड़ा-सा सुख भोगने वाले इने-गिने कारीगरों के मुक़ाबले में कितने लाख ऐसे मनुष्य हैं जो रोज़ का कमाया रोज़ खाते है, जिन्हें स्थायी काम नहीं मिलता, और जहाँ उनकी आवश्यकता होती है वहीं जाने को तैयार हो जाते हैं। नाम-मात्र की आमदनी के लिए कितने किसान दिन में चौदह-चौदह घंटे काम करते हैं? पूंजीवाद देहात की जनसंख्या घटाता है, जिन उपनिवेशों और देशों में उद्योग धंधे उन्नत नहीं हैं उनका रक्तशोषण करता है, अधिकांश श्रमजीवियों को कला-कौशल की शिक्षा से महरूम रखता है, और उन्हें अपने हुनर की जानकारी भी बढ़ाने नहीं देता।

यह अवस्था संयोग से ही पैदा नहीं हो गई है। यह तो पूँजीवादी प्रणाली के लिए आवश्यक है। विशेष श्रेणी के कारीगरों को अच्छा वेतन देने के लिए लाजिमी है कि किसान समाज का भार-वाहक पशु बने। शहरों की आबादी बढ़ाने के लिए लाज़िमी है कि देहात का रहना त्याग दिया जाय। बड़े बड़े कारख़ानों का माल छोटी-छोटी आमदनी वाले ख़रीदारों को आसानी से मिल सके इसलिए लाज़िमी है कि बड़े शहरों के बाहरी गंदे भागों में छोटे-छोटे व्यवसाय वाले लोग इकट्ठे हों, और नाममात्र की मजदूरी लेकर हज़ारों छोटी-मोटी चीज़ें बनाते रहें। बुरा कपड़ा कम तनख्वाह वाले श्रमिकों को बेचा जा सके, इसीलिए तो बहुत थोड़ी मज़दूरी से संतुष्ट हो जाने वाले दर्ज़ी उसके कपड़े सिया करते हैं। पिछड़े हुए पूर्वीय देश पश्चिमवासियों के हाथ इसलिए लुटते हैं कि, पूँजीवाद के कारण कुछ बड़े कारख़ानों के थोड़े-से कारीगरों का जीवन थोड़ा अधिक सुखी हो सके।

अतः वर्तमान प्रणाली की बुराई केवल यही नहीं है कि मुनाफ़ा पूँजीवाले की जेब में जाता है (जैसा कि एडवर्टस और मार्क्स ने कहा है)। इससे तो साम्यवादी विचार-दृष्टि, और पूँजीवाद प्रणाली पर हमारी साधारण दृष्टि ही संकुचित हो जाती है। बल्कि, मुनाफ़ा होना तो और भी गहरे कारणों का नतीजा है। मुनाफे की गुन्जाइश रहना ही बुराई है; भले ही एक पीढ़ी जिस माल को स्वयं खर्च नहीं कर पाती, वह दूसरी पीढ़ी के लिए बच रहे। मुनाफ़ा बचा रखने के लिए ही तो पुरुषों, स्त्रियों और बालकों को उनकी कमाई (उत्पत्ति) का थोड़ा सा ही भाग मज़दूरी में दिया जाता है, और भूख के कारण उन्हें उसी मज़दूरी पर काम करना पड़ता है। परन्तु यह बुराई तबतक रहेगी जबतक उत्पत्ति के साधन थोड़े-से लोगों के अधिकार में रहेंगे। आज किसान या मज़दूर को ज़मीन जोतने या मशीन चलाने का हक़ तब मिलता है जब वह ज़मीदार या कारख़ानेदार को उत्पत्ति का बड़ा हिस्सा चुका देता है। उधर ज़मींदार और कारख़ानेदार को ऐसी पैदावार या माल तैयार करने की स्वतंत्रता है कि जिससे उनको अधिक-से-अधिक लाभ हो। वे उपयोगी वस्तुएँ अधिक क्यों बनायेंगे? जबतक यह अवस्था रहेगी तबतक तो सुखी जीवन केवल बहुत थोड़े व्यक्तियों के भाग्य में ही आ सकेगा। इसका फल यह होगा कि समाज का अधिक भाग दरिद्र ही रहेगा। किसी व्यवसाय के मुनाफे को बराबर हिस्सों में बाँट देना ही काफ़ी नहीं है, जब कि दूसरी तरफ़ उसी समय दूसरे हज़ारों मज़दूरों का खून चूसा जा रहा हो। ठीक तो यही है कि सबका ही जीवन सुखी बनाने के लिए जिस माल की आवश्यकता है वही अधिक-से-अधिक उत्पन्न किया जाय, और मनुष्यशक्ति का अपव्यय भी कम-से कम न होने पावे।

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामी का उद्देश्य इतना व्यापक कैसे हो सकता है? इसी कारण यदि समाज को उत्पत्ति का यही आदर्श रखना है,

तो उन सारे साधनों पर उसे क़ब्ज़ा करना जिनसे सम्पत्ति और सुख दोनों की वृद्धि होती है। समाज को ज़मीन, कारख़ानों, खानों, रेल, जहाज़, तार, डाक आदि पर अधिकार करना पड़ेगा। उसे इस बात का भी अध्ययन करना पड़ेगा कि किन किन वस्तुओं से सर्वसाधारण का सुख बढ़ सकेगा और किन-किन उपायों से काफ़ी माल तैयार हो सकेगा।

२

एक आदमी को अपने परिवार के लायक अच्छा भोजन, आरामदार मकान और ज़रूरी कपड़े प्राप्त करने के लिए कितने घण्टे रोज़ काम करना पड़ेगा? इस प्रश्न पर साम्यवादी लोगों ने काफ़ी दिमाग़ ख़र्च किया है, और वे इस साधारण परिणाम पर पहुचे हैं कि केवल चार-पाँच घण्टे रोज़ का काम पर्याप्त होगा। परन्तु यह खूब समझ लेना चाहिए कि इसमें शर्त यही है कि सब आदमी काम करें। पिछली शताब्दि के अन्त में बैंजमिन फ्रेन्कलिन ने पाँच घण्टे का समय निश्चित किया था। रही बात इस समय की, सो जैसे सुख-सुविधा की ज़रूरत बढ़ गई है वैसे ही उत्पादन की शक्ति और तेज़ी भी ज्यादा हो गई है।

आगे कृषि के वर्णन में हम बतावेंगे कि आदमी आजकल जिस प्रकार प्रायः आड़े-टेढ़े बुरे ढंग से जुती हुई ज़मीन में बीज डाल देता है, वैसा न करके यदि वह उचित ढंग से कृषि करे तो ज़मीन से बहुत ज्यादा पैदा किया जा सकता है। पश्चिमी अमेरिका के फ़र्मों में से कोई-कोई तो ३०-३० वर्गमील के हैं, पर उनकी ज़मीन सभ्य देशों की खाद से तैयार की हुई ज़मीन की अपेक्षा हलकी है। उन बड़े फार्मों में एक एकड़ जमीन में ८ से लेकर १२ मन तक ही पैदा होता है, अर्थात् उनमें यूरोप और पूर्वीय अमेरिका के फ़र्मों से आधी ही पैदा होती है। और फिर भी ऐसी मशीनो की कृपा से जिनसे कि २ आदमी ही ४ एकड़ भूमि जोत सकते हैं, एक वर्ष में १०० आदमी इतना अन्न उत्पन्न कर सकते हैं जितना सालभर में १०,००० आदमियों को चाहिए।

तो, उत्पत्ति के इसी हिसाब को प्रमाण मानते हुए, साल भर का अन्न प्राप्त करने के लिए एक मनुष्य को ३० घण्टे, अथवा ५-५ घंटों के ६ अर्धदिन मिहनत करना काफ़ी होगा। और, ५ व्यक्तियों के परिवार को अन्न प्राप्त करने के वास्ते ३० अर्धदिन महनत करना काफ़ी होगा।

आजकल वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के जो परिणाम प्राप्त हुए हैं, उनसे हम यह भी सिद्ध करेंगे कि यदि हम उत्कृष्ट ढग की खेती करें, तो एक पूरे परिवार को रोटी, माँस, शाक और बढ़िया फल प्राप्त करने के लिए ६ अर्धदिनों से भी कम काम करना काफ़ी होगा।

दूसरे, आजकल बड़े शहरों में श्रमिकों के लिए जिस प्रकार के घर बने होते हैं उस प्रकार के घर बनाने के लिए १४०० या १८०० (पाँच-पाँच घंटों के) अर्धदिनों का काम काफ़ी होगा। इङ्गलैंड के बड़े-बड़े शहरों में मज़दूरों के लिए जैसे मिले-जुले छोटे-छोटे घर होते हैं, वैसा एक घर २५० पौंड में बन जाता है। और, चूँकि इस प्रकार के घरों की उम्र कम से कम ५० साल होती है, इसलिए परिणाम यह निकलता है कि हर साल २८ से ३६ अर्धदिनों की महनत से ऐसा मकान तैयार हो सकता है, जो सामान, तन्दुरस्ती और आराम सब बातों के लिहाज़ से एक परिवार के रहने लायक हो। परन्तु उसी घर के किराये में मज़दूर अपने मालिक को ७५ या १०० दिन की कमाई दे देते हैं।

और, यह तो इङ्गलैण्ड की दशा उस हालत में है जब कि वर्तमान समाज का संगठन दोषपूर्ण है। बेल्जियम में मज़दूरों के घर इससे बहुत कम लागत में बने हैं। इसलिए प्रत्येक बात पर विचार करते हुए, हम यह मान सकते हैं कि एक सुसंगठित समाज में एक पूर्ण सुविधायुक्त घर प्राप्त करने के लिए वर्ष में ३० या ४० अर्धदिनों की मिहनत काफ़ी होगी।

अब रह जाता है कपड़ा। कपड़े का ठीक-ठीक मूल्य निर्धारित करना प्रायः असम्भव ही है, कारण कि बहु संख्यक बीचवाले लोगों के मुनाफ़े का अन्दाज़ा नहीं लग सकता। किसी कपड़े को लीजिए। यदि हम उस

सारे कर का हिसाब लगाएँ जो भूस्वामी, भेड़ों के मालिक, ऊन के व्यापारी, और उनके भी बीचवाले एजेण्ट, फिर रेलवे कंपनियाँ, मिल-मालिक, बुनने वाले, तैयार कपड़े के व्यापारी, विक्रेता और दलाल आदि लोगों ने कपड़े के प्रत्येक गज़ पर लगा रक्खा है, तो हमें मालूम पड़ेगा कि हमें एक एक वस्त्र पर पूँजी वालों के दल को कितना देना पड़ता है। इसीलिए तो यह बताना पूर्णतया असम्भव है कि जो ओवरकोट आप लंदन की एक बड़ी दूकान से ३ या ४ पौण्ड में खरीदते हैं, वह वास्तव में कितने दिन के श्रम का फल है।

इतना तो निश्चय है कि आजकल के यन्त्रों से बहुत ही अधिक माल सस्ता और शीघ्रता से तैयार किया जा सकता है।

इस विषय में थोड़े-से उदारण काफ़ी होंगे। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) में सूती कपड़े की ७५१ मिलों में १७५००० पुरुष और स्त्रियाँ २,०३,३०,००,००० गज़ सूती माल तैयार करते हैं, और इसके अतिरिक्त बहुत-सा धागा भी बनाते हैं। औसतन् ९॥ घंटे के ३०० दिनों की महनत से १२००० गज़ अथवा १० घंटों की महनत से ४० गज़ सूती कपड़ा तैयार होता है। यदि यह मानलें कि एक परिवार के लिए २०० गज़ कपड़ा एक वर्ष में चाहिए, तो यह ५० घंटों का, अथवा ५-५ घंटे के १० आर्धदिनों का काम हुआ। सूत मिश्रित ऊनी वस्त्र बुनने के लिए सूत और सीने के लिए धागा इसके अलावा होगा।

यूनाइटेड स्टेट्स के, केवल बुनाई के, सरकारी आंकड़े बतलाते हैं कि १८७० में, श्रमिक १३-१४ घंटे दैनिक काम करके वर्ष में १०,००० गज़ सफेद सूती कपड़ा बना लेते थे। सोलह वर्ष बाद (१८८६) में वे हफ्ते में ५५ घंटे काम करके ही ३०,००० गज़ बुन लेते थे।

छपाई का सूती वस्त्र भी, जिसमें बुनाई और छपाई शामिल है, वर्ष में २६७० घंटों के काम से ३२,००० गज़ बनाया जाता था, अर्थात् १ घंटे में १२ गज़। इस प्रकार सफेद और छपे हुए २०० गज़ सूती कपड़े के

लिए वर्ष में १७ घंटे का परिश्रम काफ़ी होगा। यह भी जान लेना आवश्यक है कि इन कारखानों में कच्चा माल प्रायः उसी अवस्था में पहुँचता है, जिस अवस्था में वह खेतों से आता है, और माल तैयार होने तक के सारे परिवर्तन इन्हीं १७ घंटों में हो जाते हैं। परन्तु इस २०० गज़ कपड़े के दूकानदार से ख़रीदने में, एक अच्छा वेतन पाने वाले श्रमिक को, कम-से-कम १० घंटे के १५ दिनों का, अर्थात् १०० या १५० घंटों का श्रम खर्च करना पड़ता है। रही बात इँगलैंड के किसान की। सो, उसके लिए तो यह एक शौक़ की चीज़ है, और उसे ख़रीदने के लिए उसे महीने सवा महीने घोर परिश्रम करना पड़े।

इस उदाहरण से प्रकट है कि सुसंगठित समाज में हम वर्ष में ५० अर्धदिन काम करके आजकल के निम्न मध्यवर्ग के लोगों से अच्छा कपड़ा पहन सकते हैं।

इस हिसाब से हमको ५५ घटे के ६० अर्धदिन भूमि की उत्पत्ति प्राप्त करने में, ४० अर्धदिन घर तैयार करने में और ५० अर्धदिन वस्त्र प्राप्त करने में लगे, जो कि मिलकर आधे ही वर्ष का काम हुआ, क्योंकि छुट्टी के दिनों को घटा देने पर वर्ष ३०० श्रमदिवसों का ही होता है।

इसके बाद भी १५० अर्धदिनों का श्रम शेष रह जाता है जो कि जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं—शकर मसाले, फ़रनीचर, सवारी या वज़न ढोने की गाड़ियों आदि—के वास्ते काम में आ सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ये ये गणनाएं केवल अंदाजन सही हैं, परन्तु ये दूसरे प्रकार से भी प्रमाणित की जा सकती हैं। जब हम यह हिसाब लगाते हैं कि सभ्य कहलाने वाले राष्ट्रों में कितने लोग तो कुछ भी मिहनत नहीं करते, कितने लोग हानिकर और अनावश्यक व्यवसायों में लगे हुए हैं, और मध्यमवर्ग के कितने ही लोग अनुपयोगी हैं, तब हमें मालूम होता है कि प्रत्येक राष्ट्र में सच्चे उत्पादक लोगों की संख्या दुगनी हो सकती है। यदि १० आदमी की जगह २० आदमी

उपयोगी वस्तुओं के उत्पन्न करने में लग जायँ और समाज महनत में किफ़ायत करने लगे, तो उन २० आदतियों को केवल ५ घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ेगा और उत्पत्ति कम न होगी। धनाढ्य घरानों में बीसियों नौकर रक्खे जाते हैं और शासन-संगठन में आठ-दस प्रजाजनों पर एक राज्य-कर्मचारी रक्खा जाता है और इससे मनुष्य-शक्ति का अपव्यय होता है। यह शक्ति राष्ट्र की उत्पत्ति बढ़ाने में उपयुक्त हो सकती है। वास्तव में जितना माल आज तैयार हो रहा है उतना तो, यदि सब आदमी रोज़ तीन या चार घंटे काम करें, तो भी तैयार हो सकता है।

इन सारी बातों का अध्ययन करने के पश्चात् हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं। कल्पना कीजिए कि एक ऐसा समाज है जिसमें कई लाख निवासी हैं जो कृषि और दूसरे उद्योग-धंधों में लगे हुए हैं। मानलो कि इस समाज में सारे बच्चे अपने हाथों और अपने मस्तिष्क से काम करना सीखते हैं। और, सिवाय उन स्त्रियों के जो कि अपने बच्चों के शिक्षण में लगी रहती हैं, शेष सब स्त्री पुरुष, बीस-बाईस वर्ष से लेकर पैंतालीस पचास वर्ष की आयु तक, ५ घंटे प्रतिदिन काम करते हैं। वे इस नगर में आवश्यक समझे जानेवाले व्यवसायों में से किसी एक को स्वयं पसन्द कर लेते हैं। तो ऐसा समाज अपने सारे सदस्यों को खुशहाल रखने का वादा कर सकता है, और वह खुशहाली आजकल के मध्यमवर्गों की खुशहाली से अधिक वास्तविक होगी। इसके अलावा इस समाज के प्रत्येक श्रमिक के पास कम-से कम ५ घंटे बच रहेंगे। अपने इस समय को वह विज्ञान, कला और व्यक्तिगत आवश्यक कार्यों पर व्यय कर सकेगा—जो कि आजकल आवश्यकता की कोटि में नहीं आते, परन्तु जब मनुष्य की उत्पादक शक्ति बढ़ जायगी और जब वे दुष्प्राप्य या विलास-वस्तु न समझे जायँगे, तब संभवतः आवश्यकता की कोटि में आ जायँ।

[९]

विलास-सामग्री की जरूरत

१

मनुष्य ऐसा प्राणी नहीं है जिसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य खाना पीना और घर बनाकर रहना ही हो। ज्योंही उसकी भौतिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँगी, त्योंही दूसरी आवश्यकताएँ जो साधारणतः कलामय कही जा सकती हैं, उसके आगे आ खड़ी होंगी। ये आवश्यकताएँ अनेकों प्रकार की होंगी, और व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न होंगी। समाज जितना ही अधिक सभ्य होगा, व्यक्तित्व भी उतना ही अधिक उन्नत होगा, और आकाँक्षाएँ भी उतनी ही अधिक भिन्न-भिन्न होंगी।

वर्तमान अवस्था में भी हम देखते हैं कि स्त्रियाँ और पुरुष छोटी-मोटी चीज़ों के लिए, अपनी कोई अभिलाषा पूर्ण करने के लिए या कोई मानसिक या भौतिक आनन्द प्राप्ति के लिए, आवश्यकताओं का भी त्याग कर देते हैं। एक धर्मात्मा या त्यागी व्यक्ति विलास-वस्तुओं की आकाँक्षा को बुरा बता सकता है, परन्तु इन छोटी-मोटी चीजों या बातों के कारण ही तो जीवन की एकरसता भङ्ग होती है और वह आनन्दपूर्ण बनता है। जिस जीवन में इतनी असह्यता और इतने क्लेश हैं, उसमें यदि रोज़ाना काम के अलावा मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत रुचियों के अनुसार कुछ भी आनन्द प्राप्त न हो सके, तो क्या वह जीवन भी कोई जीवन होगा?

हम साम्यवादी क्रान्ति इसलिए चाहते हैं कि उसका उद्देश्य सर्व-प्रथम तो सबको रोटी देना है। उसका उद्देश्य उस घृणित समाज को परिवर्तित कर देना है जिसमें हर समय अच्छे-अच्छे कारीगर किसी लुटेरे कारख़ानेदार के यहाँ काम पाने के लिए मारे-मारे फिरते हैं, जिसमें परि-वार के परिवार रूखी रोटी पर बसर करते हैं, जिसमें स्त्रियाँ और बालक रात में इधर-उधर अनाश्रित फिरते हैं, और जिसमें पुरुषों, स्त्रियों और बालकों की न तो कोई देख-रेख करने वाला है और न उनको भोजन ही मिल पाता है। इन अन्यायों का अन्त करने के लिएही हम विद्रोह करते हैं।

परन्तु हमें क्रान्ति से केवल इतनी ही आशाएँ नहीं हैं। हम देखते हैं कि एक मजदूर है जो बड़ी मुश्किल से किसी तरह अपना गुज़ारा कर पाता है। उसे, मनुष्य की शक्ति में जो उच्चतम आनन्द की चीज़ें—विज्ञान और वैज्ञानिक अविष्कार तथा कला और कला की सृष्टि—हैं ये भुला ही देनी पड़ती हैं। ये चीज़ें उस बेचारे को मिल ही कहाँ सकती हैं? जो आनन्द आज थोड़े-से लोगों के लिए ही है, वह हम सबको मिल सके, प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मानसिक योग्यता बढ़ा सके, और उसके लिए उसको मौका मिल सके, इसीलिए तो साम्यवादी क्रान्ति को सबके भोजन की व्यवस्था करनी पड़ेगी। पेट भर चुकने के बाद आराम का वक्त पाना ही मुख्य साध्य है।

आज कल लाखों मनुष्य रोटी, ईंधन, कपड़े और घर के मुहताज हैं। ऐसी अवस्था में भोग-विलास नि:सन्देह अपराध है। उसको प्राप्त करने के लिए मजदूरों के बच्चों को भूखा रखना पड़ता है। परन्तु जिस समाज में सबको भरपेट खाना और रहने को घर मिलता हो, उसमें तो जिन चीज़ों को आज हम विलास-वस्तुएँ समझते हैं उनकी और भी अधिक ज़रूरत मालूम होगी। और, सब आदमी एक से नहीं हैं, और न हो सकते हैं। विविध रुचियाँ और आवश्यकताएँ होना तो मानवीय प्रगति का मुख्य प्रमाण है। इसलिए ऐसे स्त्री-पुरुष तो सदा रहेंगे और उनका रहना

अच्छा भी है, जिनकी इच्छाएँ किसी न किसी दिशा में साधारण लोगों से बढ़कर होंगी।

दूरबीन की हर एक आदमी को ज़रूरत नहीं हुआ करती। चाहे शिक्षा सर्वसाधारण में कितनी ही क्यों न फैल जाय, तो भी ऐसे लोग तो रहते ही हैं, जो आकाश के नक्षत्रों को दूरबीन से देखना उतना पसंद नहीं करते जितना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से सूक्ष्म वस्तुओं का निरीक्षण करना। किसी को मूर्तियाँ अच्छी लगती हैं, किसी को चित्र। एक व्यक्ति अच्छे हारमोनियम की ही चाह रखता है, और एक सितार से प्रसन्न रहता है। रुचियाँ भिन्न भिन्न हैं परन्तु कला की चाह सब में मौजूद है। आज-कल के अभागे पूँजीवादी समाज में आदमी कला की अपनी आवश्यकताओं को तबतक सन्तुष्ट नहीं कर सकता जबतक कि वह किसी बड़ी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न हो जाय, या कड़ी महनत करके डाक्टरी, वकालत आदि अच्छा धन्धा करने लायक काफ़ी दिमाग़ी पूँजी इकट्ठा न करले। फिर भी वह यह आशा बाँधे रहता है कि मैं किसी-न-किसी दिन थोड़ा या बहुत अपनी रुचियों को सन्तुष्ट कर लूँगा। इसी कारण, जब उसे यह मालूम होता है कि आदर्शवादी समाजवाद ने भौतिक जीवन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना रक्खा है, तब वह उसे बहुत बुरा बतलाता है। वह हम से कहता है—"शायद तुम्हारे साम्यवादी भण्डार में तुम सबके लिए रोटियाँ रक्खोगे। परन्तु तुम्हारे पास सुन्दर चित्र, दृष्टि-सहायक यन्त्र, बढ़िया फ़रनीचर और कलापूर्ण आभूषण आदि मनुष्यों की भिन्न भिन्न अनन्त रुचियों को सन्तुष्ट करनेवाली विविध वस्तुएँ न होंगी। पंचायती समाज से तो रोटी और शाक सबको मिलेगा, और नगर की अच्छी स्त्रियों तक के पहनने को सिर्फ़ मोटी भद्दी-सी खद्दर मिल सकेगी। तुम इसके अलावा और सब चीज़ों का मिलना बन्द कर दोगे।"

सब प्रकार के समाजवादियों को ऐसी ऐसी शङ्काओं का समाधान करना ही पड़ेगा। इन्हीं शङ्काओं को अमेरिकन मरुभूमियों में स्थापित

होने वाले नये समाजों के संस्थापकों ने नहीं समझ पाया था। उनका ख़याल था कि समुदाय के सब व्यक्तियों को पहनाने लायक़ का़ी कपड़ा प्राप्त हो जाय, और एक ऐसा संगीत-गृह तैयार हो जाय जिसमें सब "भाई" गाना गा-बजा सकें या नाटक खेल सकें। बस, इतना ही काफ़ी है, और ज्यादा क्या चाहिए? पर वे इस बात को भूल गये कि कला की प्रवृत्ति तो किसान में भी उतनी ही पाई जाती है जितनी शहरवाले में। उस समुदाय ने तो सब के जीवन की सामान्य आवश्यकताओं का प्रबन्ध किया, व्यक्तिवाद बढ़ानेवाली शिक्षा-प्रणाली का दमन किया, और बाइ-बल के सिवाय और सब विषयों का पढ़ना बन्द कराया। परन्तु सब व्यर्थ हुआ। व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न रुचियाँ उत्पन्न हो गईं, और उन्होंने बड़ा असन्तोष पैदा किया। जब किसी व्यक्ति ने एक-आध पियानो या वैज्ञानिक यन्त्र ख़रीदना चाहा तभी झगड़े खड़े हो गये, और प्रगति के मूल तत्व शिथिल पड़ गए। उस समाज का अस्तित्व केवल तभी रह सकता था जब वह सारी व्यक्तिगत प्रवृत्ति, सारी कला-रुचि और सारे विकास को कुचल देता।

क्या अराजक समाज उसी दिशा की ओर बढ़ेगा? इसका स्पष्ट उत्तर है, 'नहीं।' वह यह समझता है कि आधिभौतिक जीवन के लिए आवश्यक सामग्री उत्पन्न करने के साथ-ही साथ उसे मनुष्य की सारी मानसिक वृत्तियों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न भी करना पड़ेगा। शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करने के साथ ही-साथ दिल और दिमाग़ की भूख भी बुझानी पड़ेगी।

२

'जिस समाज में सबके भोजन की उचित व्यवस्था हो चुकी हो, यदि उस समाज का कोई आदमी चाइना सिल्क का कपड़ा या मख़मल की पोशाक पाने की व्यक्तिगत इच्छा करे, तो इसका क्या उपाय किया जायगा?' यह एक प्रश्न है। परन्तु जब हमें सब तरफ़ फैली हुई दरिद्रता और पीड़ा

की अथाह खाई का ख़याल होता है, और जब हम मज़दूरी ढूँढते फिरने-वाले श्रमिकों के हृदय-विदारक चीत्कार को सुनते हैं, तब तो इस प्रश्न पर विचार करने तक की हमारी इच्छा नहीं होती।

हम तो यह उत्तर देना चाहते हैं कि पहले तो हमें रोटी का ही निश्चित उपाय कर लेना चाहिए; चाइना सिल्क या मख़मल की बात पीछे सोच ली जायगी।

परन्तु हम यह मानते हैं कि भोजन के अतिरिक्त मनुष्य की अन्य आकांक्षाएँ भी होती है। अराजकवाद की आधार शिला इसी बात पर स्थित है कि वह मनुष्य की समस्त शक्तियों- और समस्त अभिलाषाओं और मनोवृत्तियों को ध्यान में रखता है और एक को भी भुलाता नहीं है। इसलिए, संक्षेप में हम यह बतायगे कि किस उपाय से मनुष्य अपनी बुद्धि-विषयक और कला-विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

यह वर्णन हम पहले कर ही चुके हैं कि ४५-५० वर्ष की आयु तक रोज ४ या ५ घण्टे काम करने से मनुष्य आसानी से उन सब वस्तुओं को पा सकता है जिनसे समाज सुख-सुविधा से रह सके।

परन्तु जो मनुष्य परिश्रमी होता है उसका दैनिक कार्य ५ ही घण्टे का नहीं होता। उसका दैनिक कार्य, वर्ष के ३०० दिनों में, १० घंटे का होता है, और यह जीवन भर रहता है। इसमें तो शक नहीं कि यदि कोई आदमी मशीन में ही जुता रहे, तो उसका स्वास्थ्य शीघ्र गिर जायगा, और उसकी बुद्धि मन्द पढ़ जायगी। परन्तु जब उसे विविध काम करने की स्वतन्त्रता हो, और विशेषतः जब वह शारीरिक काम के स्थान पर मानसिक काम बदल कर ग्रहण कर सके, तब तो वह बिना थके बल्कि आनन्द के साथ रोज़ १० या १२ घण्टे काम कर सकेगा। फलतः वह मनुष्य जो जीवित रहने के लिए आवश्यक ४ या ५ घण्टे महनत कर चुका होगा, उसके पास ५ या ६ घण्टे का समय और बच रहेगा। वह इसका

उपयोग अपनी रुचियों के अनुसार करेगा। आवश्यकता की जो चीज़ें समाज की ओर से सबको मिलती हैं वे तो उसे मिलेंगी ही। उनके अलावा यदि वह दूसरों के साथ मिल कर काम करेगा तो इन दैनिक ५ या ६ घण्टों के काम से वह जो-कुछ चाहेगा पूर्णतः प्राप्त कर सकेगा।

सार्वजनिक उत्पत्ति के काम में भाग लेना मनुष्य का सामाजिक कर्तव्य है। पहले तो वह खेत, कारख़ाने आदि में अपने हिस्से का काम करके इसे पूरा करेगा। इसके बाद वह अपना आधा दिन, आधा सप्ताह या आधा वर्ष अपनी कला या विज्ञान की आवश्यकताओं या अपने शौक़ को पूरा करने में लगायगा।

उस समय हज़ारों संस्थाएं प्रत्येक रुचि और प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए पैदा हो जायँगी।

उदाहरण के लिए कुछ लोग अपने अवकाश के समय को साहित्य में लगायँगे। वे ऐसे संघ बना लेंगे जिनमें लेखक, कम्पोज़ीटर, प्रिन्टर, ब्लाक खोदनेवाले, नक़शे बनानेवाले आदि लोग होंगे, और जिनका सामान्य उद्देश्य होगा अपने प्रिय विचारों का प्रचार करना।

आज कल लेखक इस बात को जानने की शायद ही कोशिश करता है कि छापाख़ाना किस प्रकार का होता है। वह जानता है कि उसकी किताबें छापने के वास्ते एक श्रमिक है जिससे वह कुछ आने रोज़ मज़दूरी दे कर पशु के समान काम ले सकता है। यदि कम्पोज़ीटर टाइप के सीसे के विष से बीमार हो जाय या मशीन पर निगाह रखनेवाला लड़का पाण्डु रोग से मर जाय, तो उसका क्या बिगड़ता है? उसका काम करने के लिए दूसरे अभागे कंगाल बहुतेरे मिल जायंगे।

परन्तु जब एक भी भूखों-मरता आदमी नाममात्र की मज़दूरी पर अपना श्रम विक्रय करने को तैयार न मिलेगा, जब आज का लुटा हुआ श्रमिक शिक्षित हो जायगा, और जब उसे भी अपने निज के विचार लिख कर दूसरों के पास पहुँचाने होंगे, तो मजबूरन लेखकों और वैज्ञानिकों को

मिल कर छापेखाने वालों का सहयोग प्राप्त करना होगा। तब कहीं उनका गद्य और पद्य प्रकाशित हो सकेगा।

जबतक लोग मोटे कपड़े और शारीरिक श्रम को नीचे दर्जे की चीज़ समझते रहेंगे तबतक तो उन्हें अवश्य इस बात पर आश्चर्य होगा कि एक लेखक स्वयं ही अपनी किताब के अक्षर कंपोज़ करे। वे सोचेंगे कि क्या उसके मनोरंजन के लिए उसकी व्यायामशाला या दूसरे खेल नहीं हैं? परन्तु जब शारीरिक श्रम के सम्बन्ध में अनादर-दृष्टि नष्ट हो जायगी, जब सबको अपने हाथों काम करना पड़ेगा—क्योंकि उनका काम करनेवाला दूसरा कोई न होगा—तब लेखक और उनके भक्त लोग शीघ्र ही कंपोज़िंग स्टिक और टाइप पकड़ना सीख जायँगे। तब जो-जो लोग छपनेवाली किताब के प्रशंसक होंगे वे संगठित होकर टाइप जमाने, पेज बांधने और सुन्दर छपाई करने के कार्य में आनन्द मानेंगे। आजकल की सुन्दर सुन्दर मशीनें तो सुबह से रात तक उन पर बैठनेवाले लड़कों के लिए यातना देनेवाले यन्त्र मात्र हैं, परन्तु उस समय जो लोग अपने प्रिय लेखक के विचारों को प्रकाशित करने के लिए उनसे काम लेंगे, उनके लिए वे आनन्द साधन हो जायँगे।

तो, क्या इससे साहित्य को हानि पहुँचेगी? क्या अपनी किताब के लिए बाहर जाकर काम करने या अपने हाथों से उसमें सहायता दे देने से कवि कवि न रहेगा? जंगल में या कारखाने में, सड़क बनाने या रेलके लाइन डालने के काम में, एक उपन्यासकार दूसरे आदमियों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करे तो क्या वह मानव-प्रकृति के अपने ज्ञान को भूल जायगा? इन प्रश्नों के दो उत्तर नहीं हो सकते।

संभव है कि कुछ पुस्तकें बहुत बड़ी न छप पायं, परन्तु फल यह होगा कि थोड़े ही पृष्ठों में अधिक सामग्री रहेगी। संभव है कि अनावश्यक काग़ज़ात कम छप पायँ, परन्तु जो-कुछ छपा करेगा वह अधिक ध्यान देकर पढ़ा जायगा और अधिक आदर प्राप्त करेगा। उस समय के पाठक आज

की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से शिक्षा पाये हुए होंगे। वह पुस्तक उस अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रभाव डालेगी, और वे लोग बात को अधिक अच्छी भांति समझने के योग्य होंगे।

इसके अतिरिक्त, छपाई की कला तो अभी बाल्यावस्था में ही है। उसमें गूटेनबर्ग के काल के पश्चात् बहुत ही थोड़ी उन्नति हुई है। जितना दस मिनिट में लिख लिया जाता है उसके कंपोज़ करने में दो घंटे लग जाते हैं, परन्तु विचारों को शीघ्रतर प्रकाशित करने के उपाय ढूँढे जा रहे हैं और ढूँढ लिये जायँगे।*

यह कितनी लज्जा की बात है कि लेखक अपनी पुस्तकों की छपाई के काम में स्वयं भाग न ले! ऐसा होता तो अभी तक छपाई की कला ने न जाने कितनी उन्नति कर ली होती! सत्रहवीं शताब्दि की तरह आज हमें हाथ से उठाये जाने वाले टाइपों का प्रयोग न करना पड़ता।

३

सभी लोग आवश्यक वस्तुओं के उत्पादक हों, सभी विज्ञान और कला की वृद्धि करने योग्य शिक्षा पाये हुए हों, सब के पास इसके लिए अवकाश भी हो—और फिर वे शारीरिक श्रम में अपना-अपना हिस्सा बटाते हुए अपनी पसंद की पुस्तकों के प्रकाशन के लिए संगठन बनावें—क्या ऐसे समाज की कल्पना एक स्वप्नमात्र ही है? इस समय भी विद्वानों की, साहित्यिकों की, तथा अन्य प्रकार के व्यक्तियों की सैकड़ों समितियाँ या सभाएँ हैं। और ये समितियाँ या सभाएँ क्या हैं? वे ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में दिलचस्पी रखनेवाले तथा अपने-अपने ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए सम्मिलित होनेवाले लोगों के स्वेच्छा से बनाये हुए अलग-अलग

---

* अधिक शीघ्रता से छापने के उपाय, उपर्युक्त पंक्तियां लिखे जाने के बाद, निकल चुके हैं।

समूह हैं। इन संस्थाओं के सामयिक पत्रों में लेख लिखनेवालों को पुरस्कार नहीं मिलता, और इन सामायिक पत्रों की केवल थोड़ी-सी ही प्रतियाँ विक्रयार्थ होती हैं। उनकी प्रतियाँ संसार में सब स्थानों पर उन दूसरी संस्थाओं को बिना मूल्य भेजी जाती हैं, जो उन्हीं ज्ञान-शाखाओं की वृद्धि में लगी हुई हैं। उस पत्र में संस्था का एक सदस्य समालोचना-स्तम्भ में अपने निष्कर्षों के सम्बन्ध में एक पृष्ट का नोट दे सकता है। दूसरा सदस्य, जिसने वर्षों तक किसी विषय का अध्ययन किया है, उस पर एक विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित करा सकता है। अन्य सदस्य और भी आगे अन्वेषण करते हैं और उसकी सम्मतियों से अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, और उन पर विचार करते रहते हैं। परन्तु इससे कोई भेद नहीं पड़ता। ये लेखक और पाठक अपनी सामान्य रुचि के ग्रंथों के प्रकाशन के लिए संगठित हुए हैं।

आज-कल तो छपाई के लिए जिस प्रकार लेखक को उसी प्रकार समिति को भी ऐसे छापेखाने की शरण लेनी पड़ती है, जहाँ छपाई के लिए मज़दूर लगे रहते हैं। वर्तमान समय में जो लोग साहित्यिक सभाओं से सम्बन्ध रखते हैं, वे शारीरिक श्रम से घृणा करते हैं; क्योंकि उस श्रम की अवस्था आज बहुत ही बुरी हो रही है। परन्तु जो समाज अपने सारे सदस्यों को उदार, दार्शनिक और वैज्ञानिक शिक्षण देगा, वह तो शारीरिक श्रम को इस ढंग से व्यवस्थित करेगा, जिससे वह मानव-जाति के अभिमान की वस्तु बन जायगी। उस समाज की साहित्यक और विद्या सभाएँ अन्वेषकों, विज्ञान प्रेमियों और मज़दूरों के संघ होंगे। वे सब लोग शारीरिक-श्रम का कोई धंधा भी जानते होंगे और विज्ञान में दिलचस्पी भी रखते होंगे।

मान लीजिए कि एक संस्था भूगर्भ-विद्या का अध्ययन करती है। तो उस संस्था के सभी लोग पृथ्वी की परतों (Strata) का अन्वेषण करने में योग देंगे। अन्वेषण-कार्य में आज-कल जहाँ सौ निरीक्षक भाग

लेते हैं, उस समय वहाँ दस हजार निरीक्षक भाग लेंगे और जितना काम हम बीस वर्ष में करते हैं उससे अधिक कार्य वे एक वर्ष में कर दिखायँगे। और जब उनके ग्रन्थ छपने लगेंगे,तो विविध काम जानने वाले दस हज़ार स्त्री पुरुष नक़्शे बनाने, डिज़ाइन खोदने, कंपोज़ करने और छपाई करने के लिए तैयार रहेंगे। अपने अवकाश के समय को वे बड़ी प्रसन्नता के साथ ऋतु ऋतु के अनुसार बाहर जाकर अन्वेषण करने में या घर में बैठकर काम करने में लगायँगे। और, जब उनके ग्रन्थ निकलेंगे तो उनको केवल सौ पाठक ही नहीं, किन्तु अपने सामान्य कार्य में रुचि रखने वाले दस हजार पाठक मिल जायँगे।

आज भी इसी दिशा में प्रगति हो रही है। जब इंग्लैण्ड को अंग्रेजी भाषा के एक पूर्ण कोष की आवश्यकता हुई, तो इस कार्य के लिए एक साहित्य महारथी के जन्म की प्रतीक्षा नहीं की गई। स्वयं-सेवकों के लिए अपील निकाली गई और आदमियों ने अपनी सेवाएं अर्पण कर दीं। वे अपने-आप बिना कुछ लिए पुस्तकालयों में से एक-एक बात ढूँढ निकालने, टिप्पणियाँ लिख लेने और जो काम एक आदमी एक जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर सकता था उसे थोड़े ही वर्षों में पूर्ण कर डालने के लिए जुट पड़े। मानव-ज्ञान की प्रत्येक शाखा में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। यदि हम यह न समझ पाँय कि वैयक्तिक कार्य की जगह पर अब सहयोगवाद आरहा है, और सहयोगवाद के इन प्रयोगों में ही आगामी भविष्य अपना स्वरूप झलका रहा है, तो समझना चाहिए कि मनुष्यजाति के विषय में हमारा ज्ञान बहुत परिमित है।

इस कोष को भी यदि वास्तव में सम्मिलित कार्य बनाना होता तो यह आवश्यक था कि अवैतनिक लेखक, छापने वाले और संशोधक लोग मिल कर काम करते। साम्यवादी प्रकाशन गृहों में इस दिशा में अब भी कुछ काम हुआ है। उससे हमें शारीरिक और मानसिक काम के सम्मिलित होने के उदाहरण मिलते हैं। हमारे समाचार-पत्रों में ऐसा होता है

कि साम्यवादी लेखक स्वयं ही अपना केस कपाज़ करता है। ऐसे उदाहरण हैं तो कम, परन्तु उससे तना तो प्रकट होता है कि विकास किस दिशा की ओर हो रहा है।

ये प्रयत्न स्वाधीनता का मार्ग दिखाते हैं। भविष्य में जब किसी आदमी को कोई उपयोगी बात कहनी होगी—कोई ऐसा सन्देश देना होगा जो उसकी शताब्दि के विचारों से भी आगे जानेवाला होगा—तो उसे आवश्यक पूँजी देने वाले किसी सम्पादक की तलाश न करनी होगी। वह छपाई जाननेवाले साथियों को ढूँढ लेगा जो उसके नये ग्रन्थ के विचारों का समर्थन करते होंगे। वे सम्मिलित हो कर नई पुस्तक या पत्रिका प्रकाशित कर डालेंगे।

फिर साहित्य सेवा और अखबार-नवीसी धनोपार्जन करने का या दूसरों पर बोझ डालकर जीवित रहने वाला धन्धा न रहेगा। वर्तमान समय में तो साहित्य उन लोगों का गुलाम है जो पहले उसके रक्षक थे, पर अब उसके भक्षक हैं। साहित्य उस जनता की भी दासता में है जो साहित्य का दाम उतना ही ज्यादा चुकाती है जितना ही रद्दी वह होता है, या जितना ही अधिकांश वह जनता की कुरुचि के अनुसार अपना रूप बना लेता है। परन्तु साहित्य और अखबार-नवीसी की अन्दरूनी हालत को जाननेवाला क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी है जो उसको इस बन्धन से मुक्त न देखना चाहता हो?

साहित्य और विज्ञान जब पैसे की गुलामी से छूट जायँगे और जब केवल उनके प्रेमी ही उनके प्रेम के कारण उनकी उन्नति करेंगे तभी वे मनुष्यजाति की उन्नति में सच्चे सहायक होंगे।

४

साहित्य, विज्ञान और कला की वृद्धि उन लोगों द्वारा होनी चाहिए जो स्वतन्त्र हों। तभी राज्य और पूँजी के जुए से और मध्यमवर्ग के गला घोंटनेवाले प्रभाव से वे अपना छुटकारा करा पायँगे।

आज-कल के वैज्ञानिक के पास ऐसे कौन से साधन हैं जिनसे वह अपनी पसन्द के किसी विषय में अनुसन्धान कर सके? क्या वह राज्य की सहायता मांगेगा? राज्य की सहायता तो सौ उम्मेदवारों में से एक को मिलती है, और वह भी उसे ही मिलती है जिससे पुरानी लकीर को पीटते रहने की आशा की जाती हो। हमें स्मरण रखना चाहिए कि फ्रांस की 'एकेडेमी आव् साइन्सेज़' ने डारविन का खण्डन किया था; 'एकेडेमी आव् सेन्ट पीटर्सबर्ग' ने मेन्डेलीफ के प्रति घृणा प्रकट की थी, और लन्दन की 'रायल सोसायटी' ने जूल के पत्र को प्रकाशित करने से इनकार कर दिया था, जिसमें उसने ताप का रासायनिक परिमाण निकाला था और जिसे 'रायल सोसायटी' ने अवैज्ञानिक कह दिया था। यह बात प्लेफ़ेयर से ज्ञात हुई है। उसने जूल के मरने पर इसका वर्णन किया था।

इसी कारण तो विज्ञान में क्रान्ति कर देनेवाले सारे आविष्कार, सारे बड़े अन्वेषण इन विज्ञान परिषदों और विश्व विद्यालयों से बाहर ही हुए हैं। इन आविष्कारों और अन्वेषणों के करनेवाले लोग या तो डार्विन और लायल की तरह स्वतन्त्र रहने लायक़ धनी थे,अथवा ऐसे लोग थे जिन्होंने दरिद्रता में और प्रायः बड़े कष्टों में रहते हुए अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर डाला, जिनका बहुत-सा समय प्रयोगशाला के अभाव में नष्ट हो गया, जो अनुसन्धान को चलाने के लिए आवश्यक यन्त्र साधनों या पुस्तकों को न पाने पर भी, निराशा के होते हुए भी, धैर्य धारण किये रहे, और प्रायः अपना लक्ष्य प्राप्त करने के पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। इनके नाम कहाँ तक गिनायें?

राज्य से सहायता दिये जाने की प्रणाली इतनी बुरी है कि विज्ञान ने सदा अपने को उससे मुक्त करने का ही प्रयत्न किया है। इसी कारण यूरोप और अमेरिका में स्वेच्छा-सहायकों द्वारा संगठित और संरक्षित हज़ारों विद्या-विज्ञान की समितियाँ हैं। इनमें से कुछ समितियाँ तो इतनी बढ़ी हुई हैं कि राज्य की सहायता पानेवाली सारी समितियों और लख-

पतियों के सारे धन से भी उनके कोप ख़रीदे नहीं जा सकते। कोई भी सरकारी संस्था इतनी धनाढ्य नहीं है जितनी लन्दन की 'जूलाजीकल सोसायटी'। यह दानियों की स्वयं दी हुई सहायताओं से ही चलती है।

लन्दन की 'जूलाजीकल सोसायटी' के बाग़ में पशु तो हजारों की संख्या में हैं, पर वह उन पशुओं को ख़रीदती नहीं है। दूसरी समितियाँ और दुनिया भर के संग्रह करनेवाले सब लोग उनको भेज देते हैं। कभी बंबई की 'जूलाजीकल सोसायटी' उपहार-स्वरूप एक हाथी भेज देती है, कभी मिश्र के प्रकृति विज्ञान के अध्ययन करनेवाले लोग एक हिपोपोटेमस पशु या गेंडा भेज देते हैं। ये महान् उपहार—पक्षी, रेंगनेवाले जीव (Reptiles), कीड़े आदि—संसार के सब स्थानों से प्रतिदिन बड़ी संख्या में आते रहते हैं। संसार का सारा ख़ज़ाना भी ऐसे माल को ख़रीद नहीं सकता। इसी प्रकार, एक भ्रमण करनेवाला व्यक्ति अपनी जान को जोखम में डाल कर किसी जानवर को पकड़ता है, और उस पर एक बालक की भाँति स्नेह करने लगता है। वह उस जानवर को उस सोसायटी को भेंट करता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि वहाँ उसकी संभाल की जायगी। उस महान् संस्था में आनेवाले असंख्य दर्शकों के प्रवेश शुल्क से ही उस महान् संस्था का व्यय चल जाता है।

लन्दन की 'जूलाजीकल सोसायटी' तथा उसी भाँति की अन्य संस्थाओं में यदि कमी है तो यह है कि सदस्य-शुल्क श्रम के रूप में नहीं लिया जा सकता। इस बड़ी संस्था के रखवाले और बहुसंख्यक नौकर इसके सदस्य नहीं माने जाते, और अनेक सदस्य तो ऐसे भी हैं जो केवल अपने कार्डों पर F. Z. S (Fellow of the Zoological Society) अक्षर लिखने के लिये ही इस संस्था के सदस्य बने हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि सहयोग अधिक पूर्ण होना चाहिए।

जो बात हमने वैज्ञानिकों के बारे में कही है वही आविष्कार करनेवालों के विषय में भी कह सकते हैं। बड़े-बड़े आविष्कारों के लिए प्रायः

कितने कितने कष्ट उठाये गये हैं—यह कौन नहीं जानता ? रातों-की-रातें बिना सोये बीत गईं, परिवार भूखे ही रह गये, प्रयोगों के लिए औज़ार और सामान भी न मिल पाया; यह है उन सब लोगों का इतिहास जिन्होंने हमारी सभ्यता का गौरव बढ़ानेवाले आविष्कार किये और उनसे उद्योग-धन्धों को समृद्ध किया।

परन्तु जिस परिस्थिति को सभी लोग विश्वासपूर्वक बुरा बताते हैं उसको बदलने के लिए हमको करना क्या चाहिए ? पेटेन्ट कराने का तरीक़ा भी आज़मा लिया गया और जो परिणाम हुआ वह हमें मालूम है। आविष्कार करनेवाला व्यक्ति कुछ मूल्य लेकर अपने पेटेन्ट को बेच देता है; फिर पूँजी लगानेवाला व्यक्ति ही उसके भारी भारी मुनाफ़ों को हड़प करता रहता है। पेटेन्ट कराने वाला अन्य सब आविष्कारकों से पृथक् भी हो जाता है। उसे अपने आविष्कार को गुप्त रखना पड़ता है और इससे आविष्कार अधूरा रह जाता है। परन्तु कभी-कभी तो तात्त्विक विचार में न लगे हुए मस्तिष्क की किसी छोटी-सी सूझ से ही वह आविष्कार समृद्ध हो सकता है और व्यवहारोपयोगी बन सकता है। उद्योग-धन्धों की उन्नति में जिस तरह राज्य के सब प्रकार के नियन्त्रण रुकावट डालते हैं उसी तरह पेटेन्ट प्रणाली से भी रुकावट होती है। विचार पेटेन्ट किये जाने की चीज नहीं है, इसलिए सिद्धान्त की दृष्टि से पेटेन्ट कराने की प्रणाली एक घोर अन्याय है और व्यवहार में उसका परिणाम यह होता है कि आविष्कार के जल्दी-जल्दी विकास होने में बड़ी बाधा खड़ी हो जाती है।

आविष्कार की वृत्ति को बढ़ाने के लिए जिस बात की आवश्यकता है वह तो है, सबसे पहले, विचार की जागृति, बड़ी-बड़ी कल्पनाओं के करने की शक्ति। परन्तु उसी को आज-कल की हमारी सारी शिक्षा निर्जीव कर देती है। आवश्यकता है कि वैज्ञानिक शिक्षा का विस्तार किया जाय, जिससे अन्वेषकों की संख्या सौगुनी बढ़ जाय। आवश्यकता है हृदय में इस विश्वास की कि मनुष्यजाति एक क़दम आगे बढ़ा रही है; क्योंकि, सभी

बड़े-बड़े आविष्कारकों को लगन—अर्थात् मनुष्य समाज के कल्याण की आशा—से ही स्फूर्ति मिली है। साम्यवादी क्रान्ति ही विचार की इस उत्तेजना, कल्पना की इस महत्ता, इस ज्ञान, और सबके कल्याण के इस विश्वास को प्रदान कर सकती है।

उस समय हमारे पास विशाल-विशाल संस्थाएँ होंगी, उनमें मोटर (सञ्चालक) शक्ति और सब प्रकार के औज़ार होंगे। उस समय हमारे पास बड़ी-बड़ी औद्योगिक प्रयोग-शालाएँ होंगी, जो सब परीक्षकों के लिए खुली रहेंगी। समाज के प्रति अपने आवश्यक कर्त्तव्य को पूर्ण करने के पश्चात् लोग वहाँ अपनी-अपनी कल्पनाओं को कार्यरूप में ला सकेंगे। उस समय हमारे पास बड़े बड़े यन्त्रालय होंगे। वहाँ लोग अपनी फ़ुरसत के पाँच या छः घण्टे बिता सकेंगे। वहाँ उन्हें दूसरे साथी भी मिलेंगे, जो किसी गहन प्रश्न को अध्ययन करने के लिए आये हुए होंगे, और जो अन्य उद्योग-धन्धों के विशेषज्ञ होंगे। वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे और एक-दूसरे के ज्ञान की वृद्धि कर सकेंगे—उनके विचारों और अनुभव के संघर्ष परामर्श से सबकी अपनी-अपनी समस्याएँ हल हो जायँगी। और, यह तो कोई स्वप्न की-सी बात नहीं है। पीटर्सबर्ग में सोलेनाय गोरोडोक संस्था ने यन्त्रों और कला-कौशल सम्बन्धी विषय में अंशतः इस बात को कर दिखाया है। इस कारखाने में सब तरह के औज़ार हैं और वह सबके लिए निःशुल्क हैं। औज़ार और मोटर-शक्ति मुफ़्त दी जाती है। सिर्फ़ धातुओं और लकड़ी के दाम लागतमात्र लिए जाते हैं। दुर्भाग्य से कारीगर लोग वहाँ केवल रात्रि को ही जाते हैं। उस समय वे बेचारे वर्कशॉप के दस घंटे के काम से थके हुए होते हैं। इसके अतिरिक्त वे बड़ी सावधानी के साथ एक-दूसरे से अपने आविष्कारों को छिपाते रहते हैं। पेटेन्ट-प्रणाली और पूँजीवाद, जो वर्तमान समाज का अभिशाप है और जो बौद्धिक और नैतिक उन्नति के रास्ते का रोड़ा है, उनके दिमाग़ में पूरी तरह घुसा हुआ है।

और कला का क्या हाल है? सब तरफ़ से हमें कला के ह्रास का रोना सुनाई देता है। पुनरुत्थान (Renaissance) के कलायुग से वास्तव में हम बहुत पिछड गये हैं। कला के नियमों ने तो हाल में बडी उन्नति की है, हजारों आदमी प्रत्येक शाखा को वढ़ाने का काम कर रहे हैं और उनमें कुशल बुद्धि लोग भी काफ़ी हैं। परन्तु हमारी संस्कृति से कला दूर भागती हुई दिखाई देती है। नियम तो बढ़ रहे हैं, परन्तु कलाकारों के कला भवनों में स्फूर्ति और प्रतिभा बहुत कम आया करती है।

वह आवे भी कहाँ से? महान् विचार ही तो मनुष्य को कला की स्फूर्ति दे सकता है। हमारे आदर्श के अनुसार कला सृष्टि (Creation) का पर्यायवाची शब्द है। उसकी दृष्टि बहुत आगे पहुँचनी चाहिए। परन्तु बहुत ही थोड़े अपवादों को छोड़ कर शेष व्यवसायी कलाकार तो व्यावहारिक से हो गये हैं। वे नई कल्पनाओं को नहीं खोज सकते।

इसके अतिरिक्त यह स्फूर्ति पुस्तकों से नहीं आ सकती, वह जीवन में से आनी चाहिए। परन्तु वर्तमान समाज उसको जागृत नहीं कर सकता।

रेफेल और म्यूरिलो उस युग में चित्रकारी करते थे जब कि पुरानी धार्मिक परम्पराओं को रखते हुए नये आदर्श की तलाश भी चल सकती थी। वे दोनों गिरजाघरों को सुशोभित करने के हेतु से चित्र बनाया करते थे। ये गिरजाघर भी नगर की कई पीढ़ियों के पवित्र श्रम से बने हुए थे। अपने अद्भुत दृश्य और ऐश्वर्य के सहित, गिरजा का बेसीलिक भवन स्वयं नगर के जीवन से सम्बद्ध था, और चित्रकार के हृदय में स्फूर्ति जागृत कर सकता था। वह चित्रकार सार्वजनिक इमारतों के लिए काम करता था। वह अपने साथी नगरवासियों से बात-चीत किया करता था और इससे उसे स्फूर्ति मिलती थी। लोगों को वह उसी प्रकार भाता था जिस प्रकार गिरजाघर का मध्य-भाग, उसके खम्भे, रंगी हुई खिड़कियाँ,

मूर्तियां और खुदे हुए किंवाड़ । आज-कल सबसे बड़ा सम्मान, जिसकी इच्छा एक चित्रकार कर सकता है, वह यह है कि उसका केनवास चित्र चमकदार फ्रेम में जड़ कर किसी अजायबघर में टाँग दिया जाय । और, अजायबघर क्या है ? वह एक तरह की प्राचीन अद्भुत वस्तुओं की दूकान है । यहाँ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कलाकारों की सुन्दर कृतियाँ, भिखारियों और राजाओं के कुत्तों के चित्रों के पास रक्खी जाती हैं । कहाँ तो स्थापत्य-कला की वे मूर्तियाँ, जो नगरों के सर्वोच्च स्थान पर खड़ी रहती थीं और लोगों के जीवन को स्फूर्ति प्रदान करती थीं, और कहाँ वही अब लाल कपड़ों के ढक्कनों के नीचे ढकी हुई पड़ी हैं !

जब यूनानी मूर्तिकार अपने संगमरमर पर छेनी से काम करता था, तब वह अपने नगर की भावना और हृदय को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता था । नगर के सारे मनोभाव, उसके गौरव की सारी परम्पराएँ उसकी कृति में आकर फिर सजीव होना चाहती थीं । परन्तु आज सम्मिलित नगर की भावना ही नहीं रही । अब विचारों का सम्बन्ध नहीं होता । अब तो नगर ऐसे लोगों का आकस्मिक समूह मात्र है, जो न तो एक दूसरे को जानते हैं, और न एक दूसरे को लूट कर धनी बन जाने के सिवाय जिनका दूसरा कोई सामान्य स्वार्थ है । मातृभूमि का अस्तित्व भी कहाँ है ? एक अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीपति, और सड़क पर चिथड़ों के टुकड़े बीननेवाला एक व्यक्ति, दोनों की कौनसी समान मातृभूमि हो सकती है ? जब नगर, कसबे, प्रदेश, राष्ट्र या राष्ट्रों के समुदाय अपने प्रेमपूर्ण जीवन को फिर से नवीन बना लेंगे, तभी सामान्य आदर्श बनेंगे और उनसे कला को स्फूर्ति मिल सकेगी । उस समय कारीगरी जाननेवाला व्यक्ति नगर के स्मारक-भवन की कल्पना सोचेगा । यह भवन मन्दिर, कारागार या क़िला न होगा । उस समय चित्रकार, मूर्तिकार, नक्काशी का काम करनेवाला और आभूषणकार, अपने केनवास-चित्रों मूर्तियों और, अलंकार-साधनों को किस स्थान पर लगाना चाहिए, यह जान जायगा । जीवन के

उसी उद्गम से वे सब कार्यक्षमता प्राप्त करेंगे और गौरव के साथ भविष्य की ओर बढ़ते जायँगे।

परन्तु उस स्वर्ण युग के आने तक तो कला केवल अस्तित्व बनाए रक्खेगी। वर्तमान कलाकारों के सब से सुन्दर चित्र प्रकृति, ग्रामों, तराइयों, तूफ़ानी समुद्रों, वैभवपूर्ण पर्वतों के होते हैं। परन्तु जिस चित्रकार ने खेतों में काम करके स्वयं कभी उसका आनन्द नहीं उठाया, जिसने केवल उसका अनुमान या उसकी कल्पना ही की है वह खेतों के परिश्रम के काव्य को कैसे चित्रित कर सकता है? यदि उसको उस प्रदेश का ज्ञान उतना ही है, जितना कि उड़कर जाते हुए पंछी को होता है, तो वह उस काव्य को चित्रित कैसे कर सकेगा? यदि नये-नये यौवन में उसने बड़े सवेरे कभी हल नहीं चलाया है, यदि उसने अपने संगीत से सब दिशाओं को आप्लावित करनेवाली सुन्दर-सुन्दर युवतियों से काम में प्रतिस्पर्धा करते हुए और परिश्रमी घास-कटैयों के साथ खूब हसिया भरकर घास काटने का आनन्द नहीं उठाया है, तो वह उसे कैसे चित्रित कर सकता है? भूमि और भूमि पर जो कुछ उगा हुआ है उसका प्रेम तो तूलिका से नक़शा बना देने मात्र से प्राप्त होता नहीं, वह तो उसकी सेवा करने से आता है। जिस से प्रेम ही नहीं, उसका चित्र ही कैसे खिंचेगा? इसी कारण तो अच्छे-से-अच्छे चित्रकारों ने इस दिशा में जो कुछ बनाया है वह बिलकुल अपूर्ण है, वास्तविक जीवन से बहुत दूर है और प्रायः भावुकता-पूर्ण ही है। उसमें चमत्कार नहीं है।

काम करके घर लौटते हुए यदि आपने अस्त होते हुए सूर्य को देखा हो, यदि आप किसानों के बीच किसान रहे हों, तो उसका ऐश्वर्य आपकी आँखों में रहेगा। नाविकों के साथ सारे दिन और सारी रात यदि आप समुद्र में गए हों, आपने स्वयं किश्ती चलाने का श्रम किया हो, आप लहरों से लड़े हों, तूफ़ान के सामने डटे रहे हों, और बड़े परिश्रम के बाद यदि आपने कभी किसी की जान बचाने की प्रसन्नता या असफल होने की

निराशा का अनुभव किया हो, तो आप नाविक-जीवन के काव्य को समझ सकते हैं। मनुष्य की शक्ति को समझने और उसे कला के रूप में प्रकट करने के लिए आवश्यक है कि आपने कभी कारखाने में समय बिताया हो, उत्पादक-कार्य के सुख दुःख को जाना हो, बड़ी-बड़ी भट्टियों के प्रकाश से धातु को ढाला हो; मशीन के जीवन का अनुभव किया हो। जनता की भावनाओं का वर्णन करने के लिए आवश्यक है कि वास्तव में वे भावनाएँ आप में ओत प्रोत हो जायँ।

जिस प्रकार प्राचीनकाल के कलाकारों की कृतियाँ बेचने के लिए नहीं बनती थीं, उसी प्रकार जनता का-सा ही जीवन बितानेवाले भविष्य के कलाकारों की कृतियाँ भी विक्रय के लिए तैयार न होंगी। वे तो सम्पूर्ण-जीवन का एक भाग होंगी। वह उनके बिना पूर्ण न होगा, और न वे उसके बिना पूर्ण होंगी। कलाकार की कृति देखने के लिए लोग उसके नगर में जायँगे, और इस प्रकार की सृष्टियों की उत्साहपूर्ण और शान्त सुन्दरता हृदय और मस्तिष्क पर अपना हितकर प्रभाव डालेगी।

यदि कला की उन्नति करनी है, तो उसको बीच की सैकड़ों श्रेणियों द्वारा उद्योग-धन्धों से सम्बद्ध कर देना पड़ेगा, या यों कहें कि जैसे रस्किन और महान् साम्यवादी कवि मॉरिस ने कई बार और कई प्रकार से प्रमाणित कर दिया है उस प्रकार घुला-मिला देना होगा। गलियों या बाज़ारों में, सार्वजनिक स्मारकों के भीतर और बाहर, मनुष्य के आस-पास की प्रत्येक वस्तु शुद्ध कलामय स्वरूप की होनी चाहिए।

परन्तु ये बातें उसी समय हो सकती हैं जब सब लोगों को सुख सुविधा और अवकाश हो। तभी ऐसी कला समितियां बन सकेंगी, जिनमें प्रत्येक सदस्य को अपनी-अपनी योग्यता के लिए स्थान मिलेगा; क्योंकि कला के साथ साथ हज़ारों तरह के ऐसे काम भी रहते ही हैं जो केवल हाथ से होते हैं या जिनमें यान्त्रिक विशेषज्ञता की ज़रूरत होती है। जिस प्रकार दयालुता से एडिनबरा के युवक चित्रकारों ने, स्वयंसेवक बन-

कर, अपने नगर में ग़रीबों के लिए बने हुए बड़े अस्पताल की दीवालों और छतों को सुसज्जित कर दिया था, उसी प्रकार ये कला समितियाँ अपने सदस्यों के घरों को सुशोभित करने का काम करेंगी।

एक चित्रकार या मूर्तिकार जो अपनी आन्तरिक भावना से कोई कृति तैयार करेगा, वह उसे उस स्त्री को देगा जिससे वह प्रेम करता है या किसी मित्र को देगा। कलाकार की वह कृति, जो केवल प्रेम के लिए और प्रेम से ही प्रेरित होकर तैयार हुई होगी, क्या वह आज-कल के कारीगरी के अभिमानी व्यावहारिक कलाकार की कृति से घटिया होगी, सिर्फ़ इस कारण कि इसकी कृति पर व्यय बहुत हुआ है?

जो आनन्द की वस्तुएँ जीवन की आवश्यकताओं में नहीं आतीं, उन सब के विषय में यही करना पड़ेगा। जिसे एक बड़ा हारमोनियम चाहिए वह संगीत वाद्य बनानेवालों के संघ में प्रवेश करेगा। उस संघ को अपने अर्धदिनों के अवकाश का कुछ भाग देकर वह अपना इच्छित हारमोनियम पा सकेगा। यदि किसी को खगोल-विद्या के अध्ययन का शौक़ है तो वह ज्योतिर्विज्ञान-वेत्ताओं के संघ में सम्मिलित हो जायगा। इस संघ में उस विषय के विचारक, निरीक्षक, गणक, खगोल-संबन्धी यन्त्रों के कलाकार, वैज्ञानिक, उस विषय के व्यसन रखने-वाले—सभी होंगे। वह व्यक्ति सम्मिलित काम में से अपने हिस्से का काम करके अपनी इच्छित दूरबीन प्राप्त कर सकेगा; क्योंकि ज्योति-शाला में तो विशेषकर मोटा काम—चुनाई, लकड़ी का काम, ढलाई, और मशीनों सम्बन्धी काम—आवश्यक होता ही है। कला का विशेषज्ञ तो उनमें अपना अन्तिम सुधारमात्र कर देता है।

तात्पर्य यही है कि आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति में कई घण्टे लगा देने के बाद, प्रत्येक व्यक्ति के पास जो पाँच-छः घंटे बचते हैं, वे सब प्रकार के शौक़ पूरे करने के लिए काफ़ी हैं। शौक़ और आराम की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए हज़ारों संस्थाएँ खड़ी हो जायँगी। जो विशेषाधिकार

आज केवल थोड़े-से लोगों को हैं, वह सबको सुलभ हो जायगा। विलास और ऐश्वर्य मध्यमवर्ग की वेहूदा दिखावट की चीज़ न रहेगी। वह एक कलायुक्त आनन्द का साधन बन जायगा।

इससे प्रत्येक व्यक्ति और भी सुखी हो जायगा। अपनी इच्छा की कोई पुस्तक, कोई कला कृति, या कोई शौक़ की चीज़ प्राप्त करने के लिए जो सम्मिलित कार्य प्रसन्न हृदय से किया जायगा, उसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं उत्साह होगा, और वह जीवन को आनन्दमय बनानेवाला आवश्यक मनोरंजन बन जायगा।

मालिक और दास के भेद को मिटाने का प्रयत्न करना दोनों के ही सुख का प्रयत्न करना है। इसी में मनुष्यजाति का सुख है।

[१०]

मनचाहा काम

१

साम्यवादी लोग यह कहते हैं कि—जिस समय समाज पूँजीपतियों के शासन से मुक्त हो जायगा, उस समय श्रम करना सबको पसन्द होगा, और इच्छा विरुद्ध, अस्वास्थ्यकर सख़्त महनत मिट जायगी। परन्तु लोग उन पर हँसते हैं। किन्तु आज भी हम देखते हैं कि इस दिशा में बहुत प्रगति हो रही है। जहाँ-जहाँ यह प्रगति हुई है वहाँ-वहाँ उसके फलस्वरूप शक्ति की बचत हुई है और मालिकों ने अपने को धन्य समझा है।

यह स्पष्ट है कि एक कारख़ाना भी उतना ही स्वास्थ्यकर और सुखकर बनाया जा सकता है, जितनी एक प्रयोगशाला। और यह भी स्पष्ट ही है कि ऐसा करना लाभदायक होगा। जहाँ जगह चौड़ी और हवा ख़ूब होती है उन कारख़ानों में काम अच्छा होता है। उनमें कई छोटे-छोटे सुधार सरलता से किये जा सकते हैं, और प्रत्येक सुधार से समय या श्रम की बचत होती है। हमें आज जो अधिकांश कारख़ाने बुरे या अस्वास्थ्यकर दिखाई देते हैं, इसका कारण यही है कि कारख़ानों के प्रबन्ध में श्रमिकों की पूछ नहीं है, और मनुष्य की शक्ति का बहुत बुरे प्रकार से अपव्यय होना वर्तमान औद्योगिक प्रबन्ध की एक विशेषता है।

फिर भी समय समय पर हमें ऐसे सुव्यवस्थित कारख़ाने मिलते हैं जिनमें काम करना एक सच्चा आनन्द हो सकता है, यदि काम प्रतिदिन चार या पाँच घण्टे से अधिक का न हो और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बदला जा सके।

मुझे मालूम है, इङ्गलैण्ड में एक बहुत बड़ा कारख़ाना है। दुर्भाग्य से वह युद्ध-सामग्री बनाने के लिए ही नियत है। स्वास्थ्य और बुद्धियुक्त प्रबन्ध की दृष्टि से वह पूर्ण है। वह पचास एकड़ भूमि के घेरे में है और पन्द्रह एकड़ पर तो काँच की छत है। फ़र्श आग से न बिगड़ सकने वाली ईंटों से जड़ा हुआ है, और खान खोदने वालों की कुटिया की तरह साफ़ रखा जाता है। काँच की छत को बहुत से श्रमिक सदा साफ करते रहते हैं और वे दूसरा काम नहीं करते। इस कारख़ाने में पाँच-पाँच सौ मन के लोहे के गोटे तपाये और बनाये जाते हैं। बड़ी-बड़ी भट्टियों की ज्वालाओं में हज़ार-हजार डिग्री से भी अधिक ताप होता है, परन्तु यदि आप उनसे १० गज़ दूर भी खड़े रहें तो आपको उनके अस्तित्व का पता भी न चलेगा। हाँ, पता तब चलता है जब उनका मुँह लोहे के भीमकाय टुकड़ों को बाहर निकालने के लिए खुलता है। उस गर्म लोहे के राक्षस को केवल तीन-चार श्रमिक सम्हाल लेते हैं। वे कभी यहाँ, कभी वहाँ नल खोल देते हैं, और पानी के दबाव से ही बड़े-बड़े क्रेन इधर-उधर गति करते रहते हैं।

इस कारख़ाने में प्रवेश करते समय आप समझते होंगे कि शायद लोहा पीटनेवाले यन्त्रों की कान फोड़ देने वाली आवाज़ सुनाई देगी, परन्तु ऐसी बात नहीं है। तीन-तीन हज़ार मन की बड़ी-बड़ी तोपें, और अटलाँटिक महासागर के पार जाने वाले जहाज़ों के लिए पहियों के भारी-भारी डण्डे, सब पानी के दबाव से ढाले जाते हैं। गर्म लोह-राशि की मोटाई कितनी हो क्यों न हो, धातु के उस बड़े परिमाण को किसी भी शकल का बनाने के लिए कारीगर को सिर्फ़ पानी के नल को मोड़ देना पड़ता है,

और उससे धातु की एक समान चीज़ तैयार हो जाती है, कहीं तड़कती भी नहीं।

मैं आशा करता था कि लोहे के काटते समय जो घिसाई होती है उसका अति कर्कश स्वर मुझे सुनाई देगा। परन्तु मैंने दस दस गज़ लम्बे इस्पात के भारी टुकड़ों को काटनेवाली मशीनें देखीं, और उनसे उतना ही शब्द होता था जितना आलू काटने में होता है। जब मैंने इसकी प्रशंसा उस इंजीनियर से की जो हमें सब दिखा रहा था तो उसने उत्तर दिया—

"यह तो केवल मितव्ययिता का प्रश्न है। यह मशीन, जो इस्पात को रेत कर सम करती है, बयालीस वर्ष से चल रही है। यदि इसके भाग ठीक जुड़े न होते, परस्पर भिड़ते रहते, और सम करने वाले औज़ार के आने-जाने पर शब्द करते तो, यह मशीन दस साल भी न चलती।

"इसी प्रकार लोहा गलाने की भट्टियों में गरमी को फ़िज़ूल निकलने देना बड़ा भारी अपव्यय है। जो गरमी भट्टी में से छिर कर बाहर निकल जाती है वह तो सैकड़ों मन कोयले से पैदा होती है। फिर ढालनेवाले आदमी को गर्मी में क्यों भूना जाय?"

"जिन लोहा पीटनेवाले यन्त्रों की धमक से पाँच-पाँच कोस की इमारतें हिल पड़ें वे भी अपव्यय-स्वरूप थे। लोहा कूट कर बनाने की अपेक्षा दबा कर बनाना उत्तम है, उससे ख़र्चा भी कम होता है और हानि भी कम होती है।"

"इस कारख़ाने में प्रत्येक बच्चे के लिए जितनी रोशनी, सफ़ाई और खुली जगह रक्खी गई है उसमें भी मितव्ययिता का ही लिहाज़ रक्खा गया है। जो काम आप करते हैं उसको यदि आप अच्छी तरह देख सकेंगे, आपके पास हाथ पैर हिलाने को काफ़ी जगह होगी तो काम अधिक अच्छा होगा।"

उसने कहा, "यह सत्य है कि यहाँ आने से पहले हमें बड़ी तकलीफ़

हुई थी। शहरों के समीप ज़मीन बहुत महँगी होती है, ज़मींदार बड़े लालची होते हैं।"

खानों में भी यही हाल है। ज़ोला के वर्णन और समाचार पत्रों की रिपोर्टों से हमें विदित ही है कि खानें आज-कल कैसी होती हैं। परन्तु भविष्य की खानों में हवा का खूब इन्तज़ाम होगा, और उनका ताप उतना ही सरलता से संचालित होगा जितनी सरलता से पुस्तकालय का होता है। ज़मीन के नीचे दबकर मरने के लिए घोड़े न होंगे। जमीन के नीचे वज़न खींचने का काम स्वयं चलनेवाले रस्सों (automatic cables) से होगा जो खान के मुँह पर से चलाये जायँगे। वेण्टीलेटर (हवा देनेवाले यन्त्र) सदा काम करते रहेंगे और धड़ाके कभी न हुआ करेंगे। यह कोई स्वप्नमात्र नहीं है। इँग्लैण्ड में ऐसी खान मौजूद है और मैं उसमें गया हूँ। यहाँ भी इसके सुन्दर प्रबन्ध के कारण मितव्ययिता है। जिस खान का मैं वर्णन करता हूँ वह ४६६ गज़ गहरी है। परन्तु उसमें भी प्रतिदिन अट्ठाईस हज़ार मन कोयला निकलता है। केवल २०० खनिक हैं—प्रत्येक काम करने वाला रोज़ाना १४० मन निकालता है। इसके विरुद्ध, जिस समय मैं इस खान को देखने गया था उस समय इंग्लैण्ड की दो हज़ार खानों का सालाना औसत मुश्किल से फ़ी आदमी ८४०० मन था!

यदि आवश्यकता हो तो इस बात के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं कि फ़ोरियर के भौतिक संगठन का स्वप्न मिथ्या नहीं था।

परन्तु साम्यवादी समाचार-पत्रों में इस प्रश्न पर इतनी बार चर्चा हो चुकी है कि इस विषय में लोकमत अवश्य शिक्षित हो चुका होगा। कारख़ाने, लोहे ढालने के यन्त्रालय, और खानें इतनी स्वास्थ्यकर और शानदार बन सकती हैं जितनी कि वर्तमान विश्वविद्यालयों की बढ़िया-से-बढ़िया प्रयोगशालाएँ। और प्रबन्ध जितना अच्छा होगा, मनुष्य-श्रम भी उतना ही अधिक उत्पन्न करेगा।

यदि यह सत्य है, तो सामान्य व्यक्तियों के जिस समाज में मज़दूर

अपने श्रम को बेचने पर बाध्य न होंगे, और न प्रत्येक अवस्था का काम उन्हें मंजूर करना पड़ेगा. उसमें श्रम करना क्या एक आनन्द और मनोरंजन न हो जायगा ? इच्छा-विरुद्ध काम न रहेगा, क्यों कि यह तो स्पष्ट है कि इन अस्वास्थ्यकर अवस्थाओं से सारे समाज को ही हानि पहुँचती है। गुलाम चाहे इन अवस्थाओं में रह सकें, परन्तु स्वाधीन लोग तो नई अवस्थाओं को पैदा करेंगे और उनका श्रम आनन्द-दायक और अत्यधिक उत्पादक होगा। आज अच्छी-अच्छी बातें जो कहीं-कहीं हैं, कल वही बातें—वही अवस्थाएं—साधारणतः व्यापक हो जाँयगी।

जिस घरेलू काम को समाज नें आज कठोर परिश्रम करके थक जाने वाली स्त्री पर डाल रक्खा है, उसके विषय में भी यही सुधार होगा।

२

जो समाज क्रान्ति के द्वारा नवीन जीवन प्राप्त कर लेगा, वह घरेलू दासता को भी मिटा देगा। घरेलू दासता दासता का अन्तिम स्वरूप है और लोग इसे रखना इसलिए पसंद करते हैं कि यह उससे प्राचीन भी है। परन्तु यह काम फ़ोरियर के आश्रमवादी दल के सोचे हुए मार्ग से न हो सकेगा, और न सत्तावादी साम्यवादियों की सोची हुई रीति से ही।

ऐसे आश्रम लाखों आदिमियों को पसन्द नहीं आते। इसमें तो संदेह नहीं कि अधिक-से-अधिक एकान्त-सेवी व्यक्ति भी सामान्य काम पूरा करने के लिए अपने साथियों के साथ मिलने की आवश्यकता अनुभव करता है, और जितना-जितना वह अपने को महान् समष्टि का एक भाग समझने लगता है उतना-उतना ही आकर्षक यह सामान्य श्रम हो जाता है। परन्तु आवकाश का समय तो आराम करने और घनिष्ट व्यक्तियों के साथ रहने के लिए होता है, उसमें सब इकट्ठे ही रहना नहीं चाहते। आश्रम या कुटुम्ब या तो इस बात पर विचार ही नहीं करते, या वे अपना एक कृत्रिम समुदाय बना कर इस आवश्यकता को पूरी करने का प्रयत्न करते हैं।

आश्रम वास्तव में एक बड़े भारी होटल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह कुछ लोगों को हर समय या शायद सभी लोगों को कुछ समय के लिए पसन्द आ सके। परन्तु अधिक लोग तो परिवार का जीवन ही पसन्द करते हैं। ध्यान रहे कि इससे मतलब भविष्य के पारिवारिक जीवन से है। वे पृथक्-पृथक् घर अधिक चाहते हैं। एँगलो-सेक्सन लोग तो यहाँ तक बढ़े हुए हैं कि वे छः-सात कमरों के घर पसन्द करते हैं, जिनमें एक परिवार या मित्र-समूह पृथक् रह सके। किसी-किसी अवस्था में आश्रम आवश्यक हुआ करते हैं, परन्तु यदि वे सबके लिए और हर समय के लिए बना दिये जाँय, तो अप्रिय हो जायँगे। मनुष्य की यह साधारण इच्छा होती है कि कभी तो समाज के बीच सम्मिलित रह कर समय बिताय, और कभी पृथक् भी रहे। इसी कारण कारागार में एकान्त का न मिलना एक घोरतम कष्ट होता है, और यदि सामाजिक जीवन न मिल पाय और तनहाई कोठारी में बन्द कर दिया जाय तो वह भी ऐसा ही दुःखदायी हो जाता है

आश्रम के जीवन के पक्ष में जो मितव्ययिता की दलील दी जाती है, वह तो बनियेपन की सी बात है। सब से अधिक महत्व की और बुद्धिमत्ता युक्त जो मितव्ययिता है वह है सब के जीवन को आनन्दपूर्ण बनाना, क्यों कि जिस व्यक्ति की जीवन विधि उसको प्रसन्न करने वाली है वह उस व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पन्न कर सकता है, जिसने अपनी परिस्थिति बुरी बना ली है।

ज्ञात होता है कि यंग आइकेरिया के साम्यवादियों ने काम के अलावा अपनी-अपनी पसंद के अनुसार अपने-अपने दैनिक सम्बन्ध बना लेने के महत्व को समझ लिया था। धार्मिक साम्यवादियों का आदर्श एक साथ भोजन करने का रहा है। आरम्भिक ईसाई साथ भोजन करके ही ईसाई धर्म के प्रति भक्ति प्रकट किया करते थे। काम्यूनियन (भोज) ईसाई लोगोंमें उसी प्रथाका अवशेष रह गया है। यंग आइकेरियन लोगों ने धार्मिक परम्परा

को छोड़ दिया था। वे एक ही भोजन-शाला में भोजन करते थे, परन्तु अलग-अलग छोटे-छोटे टेबलों पर बैठते थे, और उस समय जहाँ-जहाँ जिसको पसंद आता था वहाँ-वहाँ वह बैठ जाते थे। अनामा के कम्यूनिस्ट लोगों के पास अलग-अलग घर हैं। वे अपने घर पर ही भोजन करते हैं और पंचायती भण्डार से अपनी-अपनी इच्छानुसार भोजन का सामान ले सकते हैं।

दूसरे साम्यवादियों को आश्रम पसन्द नहीं। परन्तु जब आप उनसे पूछते हैं कि गृह-कार्य का प्रबन्ध किस प्रकार हो सकता है तो वे उत्तर देते हैं कि—"सब लोग 'अपना-अपना काम' करेंगे। मेरी पत्नी घर का प्रबन्ध करती है। मध्यमवर्ग की पत्नियाँ भी इतना काम कर सकती हैं।" और यदि कहने वाला व्यक्ति कोई मध्यमवर्ग का आदमी ही हो, जो साम्यवाद का मज़ाक उड़ाता हो, तो वह हँसकर अपनी पत्नी से कह सकता है, "प्रिये, क्या साम्यवादी समाज में तुम बिना नौकर के काम न चला सकोगी? हमारे दोस्त अहमद की पत्नी या रामा बढ़ई की पत्नी की तरह क्या तुम्हें काम करना अच्छा लगेगा?"

नौकर बना कर चाहे पत्नी बना कर, पुरुष समझता है कि घर के काम के लिए तो स्त्री ही है।

परन्तु मनुष्य जाति की मुक्ति में स्त्री-जाति का भी तो हिस्सा है। वह अब घर में भिश्ती, बावर्ची, खर बनकर रहना नहीं चाहती। अपने बच्चों के पालन पोषण में जीवन के कई वर्ष लगा देना ही वह अपना काफ़ी काम समझती है। वह अब फटे-टूटे कपड़े या दूसरी वस्तुएं सुधारने वाली या झाड़ू देने वाली बनी रहना नहीं चाहती। अमेरिका की स्त्रियों ने अपना अधिकार प्राप्त करने में नेतृत्व लिया है, इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स में अब यही शिकायत है कि वहाँ घरेलू काम करने वाली स्त्रियों की कमी है। लोग कहते हैं कि हमारी रानी साहिबा तो कला, राजनीति, साहित्य या खेल अधिक पसन्द करती हैं, घर के काम-काज के लिए नौकरानियाँ कम

मिलती हैं और नौकर तो बड़ी कठिनता से ही मिलते हैं। फलतः इसका बड़ा सरल उपाय अपने-आप निकल आया है। गृह-कार्य का तीन-चौथाई भाग अब मशीन कर देती है।

आप अपने बूटों पर पालिश करते हैं, और आप जानते हैं कि यह कैसा भद्दा काम है। ब्रश से बीस या तीस बार बूट को रगड़ते बैठने से अधिक मूर्खतापूर्ण कार्य क्या होगा? रहने का एक बहुत बुरा स्थान और अपर्याप्त भोजन प्राप्त करने के लिए यूरोप की जन-संख्या के एक-दशमांश भाग को अपना शरीर बेचना पड़ता है, और स्त्री अपने को दास समझने को बाधित होती है, सिर्फ इसलिए कि यह क्रिया रोज़ सवेरे उसीकी जाति की लाखों स्त्रियाँ करती हैं।

सिर के बालों को ब्रश से चमकदार या ऊन के समान नरम बनाने के लिए बाल बनानेवाले नाइयों ने मशीनें ईजाद कर ली हैं। फिर, सिर के बजाय जूते पर हम इसी सिद्धान्त को क्यों न लगायें? ऐसा हुआ भी है, और आज-कल बूट-पालिश करने की मशीनें अमेरिका और यूरोप के बड़े-बड़े होटलों में सब जगह उपयोग में आ रही हैं। होटलों से बाहर भी इनका उपयोग बढ़ रहा है। इंगलैण्ड के बड़े-बड़े स्कूलों में जहाँ अध्यापकों के घरों पर विद्यार्थी रहते हैं, एक मशीन रख लेना काफ़ी होता है, जो प्रातःकाल सैकड़ों जोड़ी जूतों के ब्रश कर देती है।

बर्तनों को माँजने और धोने के विषय में क्या होता है? यह काम हाथ से किया जाता है, केवल इसीलिए कि घर की दासी का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। परन्तु ऐसी कौन सी गृह पत्नी है जो इस लम्बे और मैले काम से घबराती न हो?

अमेरिका में अच्छा उपाय निकला है। वहाँ अब ऐसे बहुत-से शहर हैं जहाँ घरों में गरम पानी उसी भाँति पहुंचाया जाता है जैसे यूरोप में ठण्डा पानी। इस दशा में तो समस्या सरल ही थी, और एक स्त्री मिसेज़ काक्रेन ने इसको हल कर लिया। उसकी मशीन तीन मिनिट से भी

कम समय में बारह दर्जन तशतरियों को धो देती और सुखा डालती है। इलीनॉइस का एक कारखाना इन मशीनों को बनाकर इतनी सस्ती बेचता है कि मध्यमवर्ग के लोग सरलता से खरीद सकते हैं। छोटे-छोटे परिवारों को तो यह उचित है कि वे बूटों की भांति अपने बर्तनों को भी किसी ऐसे कारखाने में भेज दें। यह भी सम्भव है कि जूतों पर ब्रश करना और बर्तन माँजना-धोना दोनों काम एक ही कार्यालय करने लगे।

सफ़ाई करना और कपड़े धोना, जिसमें कपड़े रगड़ने और निचोड़ने में हाथ की खाल भी छिल जाती है, घर झाड़ना और दरी आदि पर ब्रश करना, जिससे धूल बहुत उड़ती है और उड़कर जहाँ-जहाँ जम जाती है वहाँ-वहाँ से साफ़ करने में काफ़ी तकलीफ़ होती है; यह सारा काम इसलिए हो रहा है कि स्त्री अब भी दासता में है। परन्तु यह काम मिटता भी जा रहा है, क्योंकि यह मशीन से बहुत अच्छा हो सकता है। घरों में सब प्रकार की मशीनें आ जायँगी, और घर-घर में मोटर-शक्ति पहुँचाये जाने पर लोग शारीरिक श्रम के बिना उनसे काम ले सकेंगे।

इन मशीनों के बनाने में बहुत थोड़ा खर्चा होता है। आज-कल इनके महँगे होने का कारण यह है कि इनका प्रयोग बड़ा नहीं है। और मुख्य कारण यह है कि जो बड़े-बड़े आदमी शान से रहना चाहते हैं, और जिन्होंने ज़मीन, कच्चे माल, मशीन के तैयार करने, बेचने, पेटेन्ट करने और विविध करों के विषय में सट्टा किया है, उन्होंने प्रत्येक मशीन पर अपना भारी कर लाद दिया है।

परन्तु घरेलू काम से छुटकारा केवल छोटी-छोटी मशीनों से नहीं होगा। परिवार अब अपने पृथक्-पृथक् जीवन की अवस्था से निकल रहे हैं, और जो-जो काम वे अलग-अलग अकेले करते थे वह काम अब वे दूसरे परिवारों के साथ संघ-बद्ध होकर करने लगे हैं।

वास्तव में, भविष्य में, बूटों पर ब्रश करने की एक मशीन, बर्तन साफ़ करने की दूसरी मशीन, और कपड़े धोने की तीसरी मशीन, और

इसी प्रकार कई मशीनें प्रत्येक घर में न रखनी पड़ेंगी। भविष्य में तो, इसके विरुद्ध, यह होगा कि शहर के मुहल्ले भर सारे मकानों में गरमी भेजनेवाला एक ही तापक यन्त्र लगा दिया जायगा, जिससे हर कमरे में आग जलाकर गरम रखने का काम बच जायगा। अमेरिका के कुछ शहरों में ऐसा हो भी गया है। उस नगर-भाग के सारे घरों और कमरों में गरम पानी के नल लग जायँगे। उनमें पानी चक्कर लगाता रहेगा, और इसके लिए एक बड़ी केन्द्रीय भट्टी बन जायगी। तापमान बदलने के लिए आपको केवल नल घुमाना पड़ेगा। और, यदि आपको किसी विशेष कमरे में खूब तेज़ आग की ज़रूरत होगी, तो गरम करने के लिए जो गैस एक केन्द्रीय संग्रह-स्थान से आता रहेगा, उसको आप जला सकते हैं। आग जलाने और चिमनियों को साफ़ रखने के काम में कितना समय लग जाता है, यह स्त्रियाँ ही जानती हैं। वह अब कम होता जा रहा है।

दीपकों, लैम्पों और गैस-बत्तियों के दिन अब बीत गए। अब तो सारे शहर में प्रकाश करने के लिए एक बटन को दबाना ही काफ़ी होता है। वास्तव में यह केवल मितव्ययिता का प्रश्न है। केवल इतना ही ज्ञान होना चाहिए कि बिजली की रोशनी कोई बड़े ऐश्वर्य की वस्तु नहीं, वह तो सबको प्राप्त हो सकती है। अन्तिम बात यह है कि अमेरिका में तो लोग ऐसे संघ बनाना चाहते हैं जिनसे घरेलू काम ही सब बन्द हो जायँ। गृहों के प्रत्येक समूह के लिए एक-एक विभाग बना देना आवश्यक होगा। एक गाड़ी होगी, वह प्रत्येक मकान पर जायगी, और वहाँ से पालिश करने के जूते, साफ़ होनेवाले बर्तन, धुलाई के कपड़े, सुधारनेवाली छोटी-छोटी चीज़ें, और ब्रश किये जाने के लिए दरियाँ ले जायगी। दूसरे दिन सवेरे, सारी चीज़ें साफ़ हो कर आ जायँगी। कुछ घण्टे बाद ही गरम चाय और दूध आपके टेबल पर आजायँगे। अमेरिका और इङ्गलैण्ड में दिन के बारह बजे से दो बजे तक लगभग चार करोड़ मनुष्य दोपहर का खाना खाते हैं। उसमें सब मिलाकर दस-बारह तरह की चीज़ें होती हैं। इन्हें

पकाने के लिए कम-से-कम ८० लाख स्त्रियों को अलग-अलग चूल्हे जलाने पड़ते हैं और अपना समय लगाना पड़ता है।

एक अमेरिकन स्त्री ने हाल में ही लिखा था कि "जहाँ केवल एक चूल्हा काफ़ी हो सकता है वहाँ पचास चूल्हे जलते हैं।" यदि आपकी इच्छा हो तो आप अपने ही घर, अपनी ही चौकी पर, अपने बाल बच्चों के साथ, भोजन कर सकते हैं; परन्तु केवल इतना विचार कीजिए कि सिर्फ़ कुछ प्याले चाय और मामूली खाने की चीज़ बनाने के लिए क्यों पचास स्त्रियाँ सुबह का अपना सारा समय नष्ट कर डालें। जब यह चीज एक ही चूल्हे पर दो आदमी बना सकते हैं, तब क्यों पचास चूल्हे जलाये जायँ? आप अपने-अपने पसन्द की अलग-अलग चीज़ें खाइये और जितना चाहिए मसाला डाल लीजिए। परन्तु रसोईघर एक और चूल्हा भी एक ही रखिए। उसका प्रबन्ध जितना अच्छा आप कर सकते हैं, कीजिए।

स्त्री के काम का मूल्य कुछ भी क्यों नहीं समझा जाता? प्रत्येक परिवार के रसोई सम्बन्धी काम में माता, बहुएँ और नौकरानियाँ अपना इतना समय व्यय करने के लिए क्यों बाधित रहती हैं? इसका कारण यह है कि जो लोग मनुष्यजाति को मुक्त करने के स्वप्न देखते हैं उन्होंने अपने स्वप्न में स्त्री को शामिल नहीं किया है। उन्होंने 'उस भोजन प्रबन्ध' को स्त्री के ऊपर रख छोड़ा है। उसपर विचार करना वे अपनी मर्दानगी के ऊँचे गौरव के विरुद्ध समझते हैं।

स्त्री-जाति को बन्धन से मुक्त करना, उसको स्वतन्त्रता देना, केवल इतने में नहीं है कि उसके लिए विद्यालयों, अदालतों और शासन सभाओं के दरवाज़े खोल दिये जाँय, क्योंकि 'स्वतन्त्रता पानेवाली' स्त्री गृह-सम्बन्धी परिश्रम को प्रायः दूसरी स्त्री पर डालेगी। स्त्री को स्वतन्त्र करने का अर्थ है; उस को रसोई-घर और धोबीघर के पाशविक श्रम से स्वतन्त्र करना। उसका अर्थ है, गृह कार्य का ऐसा संगठन करना, जिससे, चाहे तो वह

अपने बच्चों के पालन-पोषण का समय पा सके, और सामाजिक जीवन में भाग लेने के योग्य आवकाश भी उसके पास बच रहे।

ऐसा होगा भी। हम कह चुके हैं कि उन्नति तो हो ही रही है। केवल, इस बात को हम पूरी तरह समझ लें कि स्वतन्त्रता, सामानता, एकता आदि सुन्दर शब्दों के मद से भरी हुई क्रांति कभी क्राति नहीं हो सकती, यदि वह घर में दासता को क़ायम रक्खेगी। चूल्हे की गुलामी में फँसी हुई आधी मनुष्य जाति को फिर भी आधी मनुष्य जाति के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ेगा।

[११]

आपसी समझौता

१

हमने परंपरा से कुछ ऐसे ख़्यालात बना लिए हैं, और सब जगह सरकार, व्यवस्थापक सभा, और अदालतों के उपकारों के विषय में ऐसी दोषपूर्ण भ्रामक शिक्षा पाई है कि हम यह विश्वास करने लगे हैं कि जिस दिन पुलिस रक्षा करना छोड़ देगी उस दिन एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को वन्य-पशु की भाँति चीर-फाड़ डालेगा, और यदि क्रान्ति के समय में सत्ता हट गई तो नितान्त अव्यवस्था हो जायगी। परन्तु हमने मनुष्यों के हज़ारों और लाखों ऐसे समुदाय देखे हैं जो स्वेच्छा से संगठित हुए हैं। इनमें क़ानून का कोई दख़ल नहीं हुआ है, और इनके परिणाम सरकारी संरक्षण के परिणामों से हज़ारों गुने अच्छे निकलते हैं। यह सब देखते-भालते हुए भी हमने आँखें बन्द कर रक्खी हैं।

यदि आप किसी दैनिक समाचार पत्र को उठा कर खोलें, तो आप देखेंगे कि उसके सारे पन्ने सरकारी काम-काज या राजनैतिक स्वार्थसाधन की बातों से भरे पड़े हैं। उसे पढ़कर दूसरी दुनिया का कोई आदमी तो यही समझेगा कि शेयर-बाज़ार के काम-काज के सिवाय यूरोप का कोई भी व्यवहार एक मालिक-सत्ता के हुकुम के बिना नहीं चलता। पत्र में आपको उन संस्थाओं के विषय में कुछ भी नहीं मिलेगा जो राज्य-मन्त्रियों की निगरानी के बिना भी उत्पन्न होती, बढ़ती और उन्नति करती हैं। सचमुच प्रायः एक अक्षर तक नहीं मिलेगा। जहाँ-कहीं 'विविध समाचार' शीर्षक

होता है वह भी इसलिए रहता है कि उसमें पुलिस से सम्बन्ध रखनेवाली बातें रहती हैं। किसी पारिवारिक नाटक या विद्रोह की घटना भी यदि हुई तो इसीलिए होगी कि उसके किसी दृश्य में पुलिस का वर्णन है।

पैंतीस करोड़ यूरोप-वासी एक दूसरे से प्रेम करते या द्वेष करते हैं;सब कोई न कोई काम करते हैं और अपनी अपनी आजीविका पर जीवन निर्वाह करते हैं, परन्तु साहित्य, नाटक या खेल के अतिरिक्त समाचार-पत्र उनको बिलकुल भुला देते हैं। हाँ, यदि उस में किसी न किसी प्रकार सरकार का कोई हस्तक्षेप हुआ हो तो उनका ज़िक्र आ सकता है। इतिहास का भी यही हाल है। किसी राजा या शासन सभा के जीवन की छोटी-से-छोटी तफ़सील हम जानते हैं। राजनीतिज्ञों ने जो अच्छी और बुरी वक्तृताएँ दी हैं, वे सब सुरक्षित हैं। इनके विषय में एक पुराने शासन-सभा-वादी ने कहा था कि "वे ऐसी वक्तृताएँ हैं जिनका प्रभाव किसी एक सदस्य के भी मत पर कभी कुछ नहीं हुआ।" राजाओं के आगमन, राजनीतिज्ञों की अच्छी या बुरी प्रकृति, उनके हास-परिहास और षड्यन्त्र, सब-कुछ भावी पीढ़ियों के वास्ते लिखित मौजूद हैं। परन्तु यदि हम किसी नगर को मध्य-युग के ढग पर बनाना चाहें, हसा नगरों के व्यापारिक सघ में चलने वाले बड़े भारी व्यापार की रचना को समझना चाहें, या यह जानना चाहें कि रूएन नगर ने अपने बड़े गिरजाघर को किस प्रकार बना पाया, तो हमें अत्यन्त कठिनता होगी। यदि कोई विद्वान इन प्रश्नों के अध्ययन पर अपना जीवन लगाय, तो उसके ग्रन्थ अप्रसिद्ध ही रह जाते हैं, और पार्लमेण्ट सभाओं के इतिहास, जो कि समाज के जीवन के एक ही पक्ष के विषय में होने से एकाङ्गी ही हैं,बढ़ते जाते हैं। उनका प्रचार किया जाता है। वे स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं।

इस प्रकार हम उस महान् कार्य को देख भी नहीं पाते जो मनुष्यों के स्वेच्छा-संघों द्वारा रोज़ हो रहा है और जो हमारी शताब्दि का मुख्य कार्य है।

हम इन में से कुछ मुख्य मुख्य उदाहरण यहाँ बतायँगे, और बतायँगे कि जब मनुष्यों के स्वार्थ बिलकुल परस्पर-विरोधी नहीं होते, तब वे बड़े प्रेम से हिल-मिल कर काम करते हैं और बड़े-बड़े पेचीदा ढंग के सम्मिलित का॰ करते हैं।

वर्तमान समाज का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति, या यों कहिए कि लूट और संकुचित एवम् मूर्खतापूर्ण व्यक्तिवाद है। इसलिए ऐसे समाज में इस प्रकार के उदाहरण अवश्य ही बहुत थोड़े हैं। परस्पर के समझौते सदा पूर्ण स्वेच्छा से ही नहीं होते, और उनका उद्देश्य यदि अत्यन्त घृणित नहीं तो प्रायः हीन तो होता ही है।

ऐसे उदाहरण देना हमारा काम नहीं है जिन पर हम आँख मींच कर चल सकें। वे तो वास्तव में वर्तमान समाज में उपलब्ध ही नहीं हो सकते। हमें तो यह दिखाना है कि यद्यपि सत्तावादी व्यक्तिवाद हमारा गला घोंट रहा है फिर भी समष्टिरूप से हमारे जीवन में एक बहुत बड़ा भाग ऐसा बाक़ी है जिसमें हम आपसी समझौते से ही व्यवहार करते हैं; और इस कारण राज्य-व्यवस्था बिना काम चलाना जितना कठिन समझा जाता है वह उतना कठिन नहीं है, बल्कि बहुत सरल है।

हम अपनी सम्मति के समर्थन में पहले रेलवे का उल्लेख कर चुके हैं और उसी विषय पर अब हम फिर लौटते हैं।

यूरोप में रेलवे लाइनों का संगठन १,७५,००० मील से भी अधिक लम्बा है। रेल्वे के इस जाल पर कोई भी व्यक्ति उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम, मेड्रिड से पीटर्सबर्ग तक और केले से कान्सटेन्टीनोपल तक, बिना विलम्ब किये और (यदि एक्सप्रेस गाड़ी से जाय तो) बिना डिब्बा बदले यात्रा कर सकता है। इससे भी अधिक विस्मय की बात यह है कि किसी एक स्टेशन पर दाखिल की हुई पार्सल, केवल उस पर पानेवाले का पता लिख देने से, टर्की में या मध्य-एशिया में किसी भी स्थान पर उसके पानेवाले को मिल जायगी।

यही काम दो तरह से हो सकता था। एक नेपोलियन या बिसमार्क या और कोई सत्ताधारी यूरोप को विजय करके, पेरिस से, वर्लिन से, या रोम से, रेलवे लाइन का एक नक़शा बनाता और रेलगाड़ियों के आने जाने के समयों का नियन्त्रण करता। रूस के ज़ार निकोलस प्रथम ने अपनी शक्ति से ऐसा ही काम करने का स्वप्न देखा था। जब उसको मास्को और पीटर्सबर्ग के बीच बननेवाली रेल के कच्चे नक़्शे बताए गए तो उसने एक रूलर उठाया और रूस के नक़शे पर एक सीधी लकीर खींच दी और कहा कि 'पक्का नक़शा यह है।' तदनुसार रेलवे लाइन बिलकुल सीधी बनाई गई, जिसमें गहरी-गहरी खाइयाँ भरनी पड़ीं, ऊँचे ऊँचे पुल बांधने पड़े, और अन्त में फ़ी मील १,२०,००० से लेकर १,५०,००० पौण्ड तक ख़र्चा हो कर वह काम छोड देना पड़ा।

यह तो एक मार्ग था। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि यह सारा काम दूसरी ही भाँति किया गया। रेलवे लाइनें छोटी छोटी बनीं, वे सब एक-दूसरे से जोड़ दी गईं, और इन रेलवे लाइनों की मालिक पृथक्-पृथक् सैकड़ों कम्पनियों ने धीरे-धीरे आपस में गाड़ियों के आने-जाने के समय के विषय में और एक दूसरे की लाइन पर से सब देशों की गाड़ियों के गुज़रने देने के विषय में समझौते कर लिए।

यह काम आपसी समझौते से हुआ। आपस में पत्र और प्रस्ताव भेजने से हुआ। और ऐसे सम्मेलनों के द्वारा हुआ जिनमें प्रतिनिधिगण पूर्ण स्पष्ट और विशेष-विशेष बातों पर ही बहस करने और उनपर समझौता करने के लिए गए थे। वे क़ानून बनाने नहीं गए थे। सम्मेलन समाप्त होने पर प्रतिनिधि अपनी-अपनी कंपनी में लौट कर गए और कोई क़ानून बना कर नहीं ले गए। किन्तु आपसी मुआहिदे का एक मसौदा ले कर गए, जिसको मंजूर या नामंजूर करना उनकी इच्छा पर था।

मार्ग में कठिनाइयाँ तो अवश्य आईं। बहुत से ऐसे हठी आदमी भी थे जिन्हें समझाना मुश्किल था। परन्तु सामूहिक स्वार्थ ने अन्त में उनके

बीच समझौता करा दिया। न माननेवाले सदस्यों के विरुद्ध सेनाओं की सहायता बुलाने की आवश्यकता न पड़ी।

परस्पर सम्बद्ध रेलों का यह जाल, उस पर होने वाला बड़ा भारी व्यापार और आवागमन, निःसन्देह उन्नीसवीं शताब्दी की सब से बड़ी विशेषता है। और यह आपसी समझौते का फल है। इसी बात को अस्सी वर्ष पहले यदि कोई भविष्यवक्ता कह देता तो हमारे पूर्वज उसे मूर्ख या पागल बताते। उन्होंने जवाब दिया होता—"सैकड़ों कम्पनियों के हिस्सेदारों को इस बात पर तुम कभी राज़ी नहीं कर सकते। यह तो केवल स्वप्न है, या बुढ़िया की कहानी है। एक केन्द्रीय सरकार हो, उसका एक "फ़ौलाद के समान दृढ़" संचालक हो। वही अपनी व्यवस्था द्वारा ऐसा काम करा सकती है।"

इस संगठन में बड़े मज़े की बात यह है कि यूरोप भर की रेलों की कोई केन्द्रीय सरकार नहीं है! कुछ भी तो नहीं है! कोई रेलवे-मन्त्री नहीं, कोई डिक्टेटर नहीं, महाद्वीप भर की कोई पार्लमेण्ट नहीं है—एक सचालन कमिटी तक नहीं है! सब कुछ परस्पर के समझौते से ही हो रहा है।

राज्य-शक्ति में विश्वास रखनेवाले लोग कहते हैं कि, "एक केन्द्रीय सरकार के बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता, चाहे वह सड़क पर आवागमन के संचालन के लिए ही क्यों न हो।" परन्तु हम उनसे प्रश्न करते हैं, "यूरोप की रेलें बिना सरकारों के कैसे काम चला लेती हैं? वे किस प्रकार लाखों मुसाफ़िरों और पहाड़-के-पहाड़ माल-असबाब को महाद्वीप के आर-पार ले जाती रहती हैं? रेलवे लाइनों की मालिक कम्पनियां जब आपस में समझौता कर सकी हैं, तो इन्हीं रेलों पर कब्ज़ा करनेवाले रेलवे-श्रमिक भी उसी तरह समझौता क्यों न कर सकेंगे? यदि पीटर्सबर्ग-वारसा कम्पनी और पेरिस-बेलफ़ोर्ट कम्पनी परस्पर मिल कर काम कर सकती हैं और उन्हें अपने सिर पर किसी कमाण्डर का फ़ालतू बोझ लादने की

ज़रूरत नहीं पड़ती, तो स्वतन्त्र श्रमिकों के संघ के बने हुए समाज के बीच में हमें क्यों एक सरकार की आवश्यकता होगी ?"

२

आज भी, जब कि सम्पूर्ण समाज का संगठन अन्यायपूर्ण है, यदि लोगों के स्वार्थ बिलकुल परस्पर-विरोधी नहीं होते हैं, तो वे सत्ता के दखल के बिना ही आपस में समझौता कर लेते हैं। इस बात को हम उदाहरणों से सिद्ध करते हैं, परन्तु उनमें भी शंकाएँ हो सकती हैं, और उन्हें हम भुला नहीं देते।

ऐसे सब उदाहरणों में दोष का भाग भी रहता ही है, क्योंकि ऐसा तो एक भी संगठन बता सकना असम्भव है जिसमें सबल द्वारा निर्बल का, धनिक द्वारा निर्धन का, अपहरण न होता हो। इसी कारण राज्यवादी अपनी तर्कशैली के अनुसार यह कहेंगे ही कि "अब आप समझ सकते हैं कि इस अपहरण को बन्द करने के लिए एक राज्य-सत्ता का बीच में पड़ना आवश्यक है !"

परन्तु, वे इतिहास की शिक्षा को भूल जाते हैं। वे यह नहीं बतलाते कि दरिद्रों की सृष्टि करके और उनको लुटेरों के हाथ में देकर राज्य-सत्ता ने वर्तमान अवस्था उत्पन्न करने में स्वयं कितना भाग लिया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और निर्धनता का दो-तिहाई हिस्सा तो कृत्रिमरूप से राज्य सत्ता द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। वे इस बात को सिद्ध नहीं करते कि लूट के इन दोनों मूल कारणों के मौजूद रहते हुए भी लूट बन्द हो सकती है

जब हम इस बात का जिक्र करते हैं कि रेलवे कम्पनियों में कितना मेल है, तो हमें आशा है कि मध्यमवर्ग की सरकार के वे पुजारी हम से कहेंगे—"क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि रेलवे-कम्पनियाँ अपने नौकरों और मुसाफ़िरों पर कितना ज़ुल्म करती हैं, और उनके साथ कितना बुरा

बर्ताव करती हैं ? इसलिए एकमात्र उपाय तो यही है कि श्रमिकों और जनता की रक्षा के लिए राज्य सत्ता होनी चाहिए।"

परन्तु हमने तो इस बात को बार बार कहा और दुहराया है कि जब-तक पूँजीपति हैं तबतक शक्ति का दुरुपयोग होता ही रहेगा। जिस राज्य-सत्ता के विषय में यह कहा जाता है कि वह भविष्य में बड़ी उप-कारिणी होगी, उसीने तो उन कम्पनियों को हमारे ऊपर वे एकाधिकार और विशेषाधिकार दिये था जो आज उन्हें प्राप्त हैं। क्या राज्य सत्ता ने इन्हीं रेलों को रिआयतें (Concessions) और आश्वासन (Guarantees) नहीं दिये। क्या उसने हड़ताल करनेवाले रेल मज़दूरों के विरुद्ध अपने सिपाही नहीं भेजे ? प्रारम्भिक प्रयोगों में तो उसने रेलवे के पूँजीपतियों के विशेषाधिकारों को इतना बढ़ा दिया था कि, अखबारों को भी रेलवे दुर्घटनाओं के समाचारों का वर्णन करने से बन्द कर दिया, ताकि जितने हिस्सों की गारंटी राज्य ने दी थी वह कम न हो जाय। जिस एकाधि-कार से आजकल के धनेश, रेलवे कम्पनियों के संचालक, मोटे बने हुए हैं, वह एकाधिकार क्या राज्य के अनुग्रह से नहीं मिला है ?

इसलिए यदि हम उदाहरणस्वरूप रेलवे-कम्पनियों के अप्रत्यक्ष समझौते का ज़िक्र करते हैं, तो यह न समझ लेना चाहिए कि यह आर्थिक प्रबन्ध का एक आदर्श है। वास्तव में यह तो औद्योगिक संगठन का भी आदर्श नहीं है। उदाहरण तो यह दिखाने के लिए है कि दूसरों से पैसा वसूल करके अपने हिस्सों के मुनाफ़े को बढ़ाने के ही उद्देश्य से जब पूँजीपति लोग, बड़ी सफलता के साथ और बिना अन्तर्राष्ट्रीय महकमा क़ायम किये हुए, रेलों को चला सकते हैं, तो श्रमिकों के संघ भी उतनी ही या उससे भी ज़्यादा अच्छी तरह से चला सकेंगे, और यूरोप भर की रेलों के किसी मन्त्रि-मण्डल को मनोनीत करने की ज़रूरत न पड़ेगी।

एक शंका और भी उपस्थित की जाती है, और ऊपर से देखने पर यह अधिक गम्भीर भी प्रतीत होती है। कहा जा सकता है कि जिस सम-

सौते का हम ज़िक्र करते हैं वह पूर्णतः स्वेच्छापूर्वक किया हुआ नहीं है, और छोटी-छोटी कम्पनियों को बड़ी-बड़ी कम्पनियों का बनाया क़ानून मानना पड़ता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि राज्य-सहायता पानेवाली एक धनाढ्य जर्मन कम्पनी अपने मुसाफ़िरों को, जो बर्लिन से बाले को जाना चाहते हैं, लीपज़िग के रास्ते से न जाने दे कर, कोलोन और फ्रेंकफ़ोर्ट के मार्ग से जाने को बाध्य करती है। या यह कहा जा सकता है कि वह कम्पनी अपने प्रभावशाली हिस्सेदारों को लाभ पहुँचाने और छोटी कम्पनियों का सर्वनाश करने के लिए माल को एक सौ तीस मील का व्यर्थ चक्कर दिलाती है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) में वहाँ के धनकुबेरों की जेबें भरने के लिए बहुधा मुसाफ़िरों और माल को अत्यन्त लम्बे चक्कर दे कर जाना पड़ता है।

हमारा उत्तर तो वही है। जबतक व्यक्तिगत पूँजी रहेगी, तबतक बड़ी पूँजी छोटी पूँजी पर ज़ुल्म करेगी। परन्तु ज़ुल्म केवल पूँजी से ही पैदा नहीं होता। जो सहायता राज्य द्वारा उनको मिलती है, जो एकाधिकार राज्य ने उनके पक्ष में निर्मित कर दिये हैं, उनके कारण भी बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ छोटी-छोटी कम्पनियों पर ज़ुल्म करती हैं।

अब से बहुत समय पहले, इंग्लैण्ड और फ्रांस के साम्यवादी यह बता चुके हैं कि इंगलैण्ड की राज्य-व्यवस्था ने छोटे-छोटे धंधों का नाश करने, किसानों को दरिद्र बना डालने, और बहु-संख्यक मनुष्यों को, चाहे जितनी कम मज़दूरी पर, उद्योगपतियों के हाथों में सौंप देने के लिए अपनी शक्ति भर सब कुछ किया था। रेलवे के क़ानून ने भी यही काम किया। सैनिक उपयोग की लाइनें, सहायता पानेवाली लाइनें, अन्तर्राष्ट्रीय डाक का एकाधिकार रखनेवाली कम्पनियाँ, इत्यादि सब बातें इसलिए की गई कि बड़े बड़े धनपतियों के स्वार्थों को ही अधिक लाभ हो। जब सारे राज्यों को क़र्ज़ा देनेवाला एक धनपति किसी रेलवे-कम्पनी में पूँजी लगाता है, तो उन राज्यों के मन्त्री लोग, जो कि उसके विनीत प्रजा-

जन हैं, वही काम करेंगे जिससे उस धनपति की। कमाई और भी बढ़े।

जिस यूनाइटेड स्टेट्स को राज्यसत्तावादी लोग आदर्श लोक-सत्ता-त्मक राज्य बताते हैं, उसी में रेलों की हर बात में अत्यन्त घृणित धोखेबाज़ी घुसी हुई है। यदि किसी एक कम्पनी का किराया दूसरी कम्पनी से सस्ता है, जिससे दूसरी कम्पनी मुक़ाबले में टिक नहीं सकती, तो प्रायः इसका कारण यही है कि उस कम्पनी को राज्य की ओर से ज़मीन मुफ्त में दे दी गई है। अमेरिका के व्यापार के सम्बंध में कुछ काग़ज़ात अभी प्रकाशित हुए थे। उनसे पूर्णतया प्रकट होता है कि सबल द्वारा निर्बल के दबाये जाने में राज्य का कितना हाथ था। यहाँ भी यही देखने में आता है कि राज्य की सहायता से एकत्रित पूँजी की शक्ति दसगुनी और सौगुनी बढ़ गई। फलतः हम देखते हैं कि रेलवे कम्पनियों के संघ (syndicates) बन गए हैं (जो आपसी समझौता के परिणाम हैं) और वे बड़ी कम्पनियों के मुक़ाबिले में अपनी छोटी कम्पनियों की रक्षा करने में सफल हुए हैं। तब हमें आपसी समझौते की वास्तविक शक्ति का पता लगता है। इसके द्वारा तो राज्य का अनुग्रह पानेवाली सर्व-शक्ति-मति पूँजी का भी मुक़ाबला किया जा सकता है।

यह एक वास्तविकता है कि राज्य के पक्षपात के होते हुए भी छोटी कम्पनियाँ मौजूद हैं। फ्रान्स यद्यपि केन्द्रीकरण की भूमि है फिर भी वहाँ हमें पाँच या छः बड़ी कम्पनियाँ दिखाई देती हैं, परन्तु ग्रेट-ब्रिटेन में एक सौ दस से भी अधिक हैं। इनका परस्पर मेल काफ़ी अच्छा है, और मुसाफ़िर और माल जल्दी ले जाने का प्रबन्ध भी फ्रेंच और जर्मन कम्पनियों से निश्चयपूर्वक अच्छा है।

परन्तु सवाल यह नहीं है। बड़ी पूँजी तो राज्य का अनुग्रह पाकर सदा छोटी पूँजी को दबा सकती है, यदि ऐसा करना राज्य के लिये लाभदायक हो। पर हमारे लिए तो महत्त्व की बात यह है कि जो संधि (समझौता) यूरोप की सैकड़ों पूँजीपति रेलवे कम्पनियों के

खींच हुई थी, वह विविध संस्थाओं के लिए क़ानून बनानेवाली केन्द्रीय सरकार के हाथ के विना ही स्थापित हुई थी। वह संधि उन सम्मेलनों द्वारा क़ायम रही है, जिनमें विविध रेलवे कम्पनियों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी कम्पनियों के लिए क़ानून नहीं, किन्तु तजवीजें बनाने के लिए आते हैं, और उन तजवीज़ों पर बहस करके अपनी-अपनी कम्पनी में पेश करते हैं। यह तो सिद्धान्त ही नया है, और सब प्रकार के राज्य विपयक सिद्धान्तों से बिलकुल भिन्न है—चाहे वे एक-तन्त्र शासन या प्रजातन्त्र-शासन, चाहे निरंकुश-शासन या व्यवस्था सभा (पार्लमेण्ट) शासन के ढंग के ही क्यों न हों। यह एक नया ही आदर्श है, जो यूरोप की परम्परा में चुपके चुपके घुस गया है; परन्तु स्थायी हो गया है।

२

राज्य सत्ता के प्रेमी साम्यवादियों ने भी बहुधा लेखों में लिखा है—"क्यों जी, आपके भावी समाज में नहर पर होनेवाले आमदरफ्त का नियन्त्रण फिर कौन करेगा? यदि आपके किसी अराजक साम्यवादी 'कामरेड' के मन में यह बात आई कि वह नहर के बीच में अपना बजरा (बड़ी किश्ती) खड़ा कर दे और हजारों नावों का आना-जाना बन्द करदे, तो उसे ठीक रास्ते पर कौन लायगा?"

हमें यह कल्पना तो अनहोनी सी मालूम होती है। फिर भी एक शंका यह हो सकती है कि "यदि कोई एक ग्राम पंचायत या पंचायत-संघ अपने बजरों को दूसरों से पहले ले जाना चाहे, तो वे पत्थर से भरे हुए अपने बजरों से ही नहर को रोक रक्खेंगे, और दूसरी पंचायत की आवश्यकता के गेहूँ को रुक कर खड़ा रहना पड़ेगा। उस अवस्था में यदि कोई सरकार न होगी तो गमनागमन का नियन्त्रण कौन करेगा?"

परन्तु वास्तविक जीवन ने यह दिखा दिया है कि इस मामले में भी सरकार की आवश्यकता नहीं है। स्वेच्छा से किया हुआ समझौता और

स्वेच्छा से किया हुआ संगठन उस राज्य नामधारी अनीतिमय और खर्चीली प्रणाली के बजाय काम करेगा और उससे अच्छा काम करेगा।

हालेण्ड के लिए नहरें बड़े ही महत्व की हैं। वे उसकी सड़कें हैं। जो कुछ माल-असबाब हमारी सड़कों और रेलों पर से जाता है, वह हालेण्ड में नहरों पर नावों से जाता है। वहाँ आपको अपनी नावें दूसरों से पहले निकालने के लिए लड़ने का कारण मिल सकता है। वहाँ गमनागमन को व्यवस्थित रखने के लिए सरकार वास्तव में बीच में पड़ सकती है।

परन्तु ऐसा होता नहीं। बहुत ज़माने पहले हालेण्डवासियों ने इस बात का फ़ैसला अधिक व्यावहारिक मार्ग से कर लिया। उन्होंने नाववालों के संघ बना लिये। ये स्वेच्छा से बने हुए संघ थे और नाव चलाने की आवश्यकता से ही बने थे। नाववालों के रजिस्टर में जिस क्रम से नाम लिखे गए उसी क्रम से नावों के गुजरने का हक़ होता था। वे अपनी-अपनी बारी से एक-के-बाद एक जाते थे। उस संघ से निकाल दिए जाने के दण्ड से डर कर कोई दूसरों से पहले निकालता न था। निश्चित संख्या से अधिक दिन तक घाट पर कोई ठहर न सकता था। नाव-मालिकों को उतने समय में यदि ले जाने के लिए कोई माल न मिलता तो उसे नये आनेवालों के लिए स्थान खाली करके चल देना पड़ता था। इस प्रकार रास्ता रुक जाने की कठिनाई मिट गई, यद्यपि नाव मालिकों की व्यक्तिगत प्रति-स्पर्धा मौजूद थी। यदि यह प्रति स्पर्धा भी मौजूद न होती तो उनका समझौता और भी अधिक प्रेमपूर्ण होता।

यह कहना आवश्यक है कि जहाज़-मालिकों का उस संघ में शामिल होना या न होना उनकी इच्छा पर था। यह उनके ही देखने का काम था, परन्तु उनमें से अधिकाश ने उसमें सम्मिलित होना पसन्द किया। इसके अतिरिक्त इन संघों से इतने अधिक लाभ थे कि ये राइन, वेसर, औडर नदियों पर और बर्लिन तक फैल गए थे। ये नाववाले इस इंतज़ार

में बैठे न रहे कि एक महान् विसमार्क आवे, हालैण्ड को जीत कर जर्मनी में मिला ले, और वह अपनी व्यवस्था से 'सुप्रीम हेड काउन्सिलर आव दि जेनेरल स्टेट्स कैनाल नेवीगेशन' (राजकीय नहरों का प्रधान अधिकारी) नामक किसी पदाधिकारी को नियुक्त करे, जिसकी बाँह पर उतनी ही सुनहरी धारियाँ हों जितना लम्बा उसका पद है। उन संघों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता कर लेना पसन्द किया। इसके अलावा, जिन जहाज-मालिकों के जहाज़ जर्मनी और स्केन्डिनेविया तथा रशिया के बीच चलते थे, वे भी बाल्टिक सागर के गमनागमन को सुसंचालित करने और जहाज़ों के पारस्परिक व्यवहार में अधिक सामञ्जस्य पैदा करने की दृष्टि से इन्हीं नाववालों के संघों में सम्मिलित हो गए। ये सघ स्वेच्छापूर्वक उत्पन्न हुए हैं। इनमें सम्मिलित होनेवाले अपनी ही इच्छा से सम्मिलित हुए हैं। इन संघों में सरकारों से कुछ भी समता नहीं है।

फिर भी, यह अधिक सम्भव है कि यहाँ भी बड़ी पूँजी छोटी पूँजी पर जुल्म करती हो। शायद इस संघ में भी एकाधिकारी बनने की प्रवृत्ति मौजूद हो, विशेषकर उस अवस्था में जब उसे राज्य की ओर से ख़ासा संरक्षण मिलता हो। राज्य ने तो यहाँ भी अपनी टाँग अड़ाई। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि ये संघ उन सदस्यों के हैं जो अपने-अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ रखते हैं। यदि उत्पत्ति, खपत और विनिमय के समाजीकरण होने से ये जहाज़-मालिक किसी साम्यवादी पंचायतों के समुदाय से या विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए बनी हुई किसी विशेष संस्था-समिति से सम्बन्धित होते, तो अवस्था दूसरी ही होती। जहाज़-मालिकों का संघ समुद्र पर शक्तिशाली होते हुए भी स्थल पर कमज़ोर होता, और रेलों, कारख़ानों और दूसरे संघों के साथ योग देने के लिए उन्हें अपने अधिकार (claims) कम करने पड़ते।

परन्तु भविष्य में क्या होगा इस पर हम बहस नहीं करते। हम एक और ऐसी ही स्वयं-संगठित सस्था बताते हैं जो सरकार के बिना चलती है।

जब जहाज़ों और नावों की चर्चा चल ही रही है, तो हम एक ऐसी संस्था का भी वर्णन क्यों न कर दें, जो उन्नीसवीं सदी की सुन्दरतम संस्थाओं में से है, और जिसका हम वास्तव में अभिमान कर सकते हैं। वह संस्था है—'इंगलिश लाइफ बोट एसोसिएशन।'

यह तो सर्व विदित है कि हर साल एक हजार से भी अधिक जहाज़ इंग्लैंड के समुद्र-तट पर नष्ट हो जाते हैं। समुद्र पर तो जहाज़ को तूफ़ान का भय प्रायः नहीं होता। किनारों के पास ही खतरे अधिक होते हैं। कहीं समुद्र क्षुब्ध (rough) होने के कारण जहाज़ के पीछे का भाग टूट जाता है। कभी कभी अचानक हवा के तेज झोंके आ जाते हैं जो जहाज़ के मस्तूलों और बादबानों को उड़ा ले जाते हैं। कहीं-कहीं ऐसी जल धाराएँ होती हैं जिनमें जहाज़ बड़ी मुश्किल से क़ाबू में रह पाता है। कहीं पानी में चट्टानों या रेत का सिलसिला होता है, जिस पर जहाज़ चढ़ जाता है।

प्राचीन काल में समुद्र तटों के रहनेवाले किनारों पर आग इसलिए जलाया करते थे कि उससे आकर्षित होकर जहाज़ वहाँ जाय और पानी में की चट्टानों पर चढ़ जाय और वे उसे लूट लें। परन्तु उस समय भी वे जहाज़वालों की जान बचाने का सदा प्रयत्न करते थे। यदि वे किसी जहाज़ को आपत्ति में पड़ा देखते थे, तो अपनी नावें डाल देते और भग्न पोत नाविकों की सहायता के लिए जाते थे। कभी-कभी स्वयं भी समुद्र में मर जाते थे। समुद्र-तट की प्रत्येक कुटिया की वीरता की अनेकों कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ उन स्त्रियों और पुरुषों की हैं जिन्हों ने विपद्ग्रस्त मल्लाहों की जान बचाने में समानरूप से बहादुरी दिखाई थी।

निःसन्देह राज्य ने और विज्ञानवेत्ताओं ने ऐसी घटनाओं की संख्या कम करने में थोड़ी-बहुत सहायता पहुँचाई है। समुद्रों के दीप-स्तम्भों और विशेष विशेष चिन्हों, नक़शों और वायुमण्डल-विज्ञान सम्बन्धी

सूचनाओं ने इन दुर्घटनाओं को बहुत कम कर दिया है। फिर भी सैकड़ों जहाज़ों और हज़ारों मनुष्यों का जीवन बचाना बाक़ी रहता है।

इस कार्य के लिए कुछ सत्पुरुष मैदान में आए। वे स्वयं अच्छे-अच्छे नाविक या समुद्र में जानेवाले मल्लाह थे। इसलिए उन्होंने एक ऐसी रक्षा नौका का आविष्कार किया जो तूफ़ान में भी न टूटे, न उलटे। वे अपने इस साहसी कार्य में जनता की दिलचस्पी बढ़ाने, और रक्षा-नौकाओं को बनाने व उन्हें तट पर यथावश्यक स्थानों पर रखने के लिए धन संग्रह करने के काम में लग गए।

ये लोग वाक्शूर राजनीतिज्ञ तो थे नहीं जो सरकार का मुँह ताकते। इन्होंने समझा कि इस साहस की सफलता के लिए स्थानीय नाविकों का सहयोग, उत्साह और स्थानिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जो व्यक्ति इशारा पाते ही बड़ी बड़ी लहरों में भी रात में अपनी नाव डाल देंगे अन्धकार या लहरों के कारण रुकेंगे नहीं, जब तक आपत्तिग्रस्त जहाज़ पर पहुँच न जायंगे तबतक पाँच, छः या दस घंटे बराबर प्रयत्न करते जायँगे—जो व्यक्ति दूसरों की जान बचाने के लिए अपनी जान तक दे डालने को तैयार होंगे—ऐसे लोगों को प्राप्त करने के लिए एकता और बलिदान की भावना चाहिए। यह भावना दिखावटी बातों से ख़रीदी नहीं जा सकती। इसलिए रक्षा-नौकाओं का यह आन्दोलन पूर्णतः स्वयं ही उत्पन्न हुआ था, और व्यक्तिगत प्रेरणा और समझौते के ही कारण उत्पन्न हुआ था। समुद्र के किनारे सैकड़ों स्थानीय संघ बन गए। संघों को बनाकर खड़े करनेवालों में इतनी समझ थी कि वे मालिक बन कर नहीं रहे। उन्हें विश्वास था कि मछुओं की कुटियों में भी विचार-बुद्धि है। जब कभी कोई धनिक किसी गाँव के किनारे पर रक्षा नौका का स्टेशन बनाने के लिए १००० पौण्ड धन भेजता था, और वह धन ले लिया जाता था, तो वह उचित स्थान पसंद करने का काम स्थानीय मछुओं और नाविकों पर ही छोड़ देता था।

नई नावों के नमूने समुद्र-मन्त्री के विभाग में पेश नहीं किये गए। इङ्गलिश लाइफ़ बोट एसोसिएशन की एक रिपोर्ट में लिखा है—"चूँकि रक्षा नौका (लाइफ़-बोट) चलानेवालों को अपनी नौका के विषय में पूर्ण विश्वास होना चाहिए, इसलिए कमेटी अपना मुख्य ध्यान रक्खेगी कि नौकाएँ उनके चलानेवालों की प्रकट इच्छाओं के अनुसार ही बनें और उनके बताए हुए साधनों से सम्पन्न हों।" परिणाम यह है कि हर साल उनमें नये-नये सुधार होते रहते हैं। कमिटियाँ और स्थानीय संघ बना कर स्वयसेवक लोग ही सब काम चलाते हैं। सारा काम पारस्परिक सहयोग और आपसी समझौते से होता है। देखा, अराजक लोग ही यह सब कार्य कर लेते हैं! इसके अतिरिक्त, करदाताओं से वे एक कौड़ी नहीं माँगते और साल में ४०,००० पौण्ड तक उन्हें स्वेच्छापूर्वक चन्दे से मिल जाता है।

यदि यह पूछा जाय कि काम कितना हुआ, तो वह इस प्रकार है:—सन् १८९१ में एसोसिएशन के पास २९३ रक्षा नौकाएँ थीं। उस वर्ष उसने टूटे हुए जहाज़ो के ६०१ नाविकों और ३३ जहाज़ों और नावों को बचाया। जब से संस्था का जन्म हुआ तब से उसने ३२,६७१ मनुष्यों को बचाया।

१८८६ में तीन रक्षा-नौकाएँ और उन में बैठनेवाले समुद्र में डूब गए। तब सैकड़ों नवीन स्वयसेवकों ने अपने-अपने नाम लिखाए और अपने-अपने स्थानीय संघ बना लिये। उस समय के आन्दोलन का फल यह हुआ कि बीस रक्षा-नौकाएँ बन गईं। इस बीच हमें यह भी जान लेना चाहिए कि यह एसोसिएशन हर साल मछुओं और नाविकों को अच्छे-अच्छे बेरोमीटर (वायुभार-सूचक यन्त्र) बाज़ार से तिहाई मूल्य पर भेजता है। यह वायुमण्डल सम्बन्धी विज्ञान का प्रचार करता है और वैज्ञानिकों द्वारा मालूम किये हुए मौसम के शीघ्र-परिवर्तनों की पूर्व-सूचना उन-उन व्यक्तियों को देता है जिन जिन से उन सूचनाओं का सम्बन्ध है।

हम यह फिर दोहरा देते हैं कि इन सैकड़ों कमिटियों और स्थानीय

संघों को बनाने कोई पवित्र सत्ताधीश नहीं आए। उनमें केवल स्वयं-सेवक, रक्षा नाविक, और इस कार्य के रसिक लोग ही हैं। केन्द्रीय कमिटी भी केवल पत्र-व्यवहार का केन्द्र है। वह किसी प्रकार दख़ल नहीं देती।

यह सच है कि जब किसी ज़िले में शिक्षा के या स्थानीय कर लगाने के किसी प्रश्न पर वोट लिये जाते हैं, तो वहाँ की इंग्लिश लाइफ़ वोट एसोसिएशन की कमिटियाँ,अपनी हैसियत से, उन विवादों में कोई भाग नहीं लेतीं। दुर्भाग्य है कि इस नम्र व्यवहार का अनुकरण चुनी हुई संस्थाओं के सदस्य नहीं करते! परन्तु इसके विपरीत यह भी बात है कि ये वीर पुरुष समुद्र में आदमियों की जान बचाने के बाबत कोई विधान उन लोगों को बनाने नहीं देते जिन्होंने कभी तूफ़ान का मुक़ाबला नहीं किया। आपत्ति का पहला इशारा पाते ही वे अपनी नावों पर दौड़ पड़ते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। उनके पास चमकदार वर्दियाँ नहीं हैं, पर उन में सद्भाव बहुत है।

हम उसी प्रकार की एक दूसरी संस्था, 'रेड क्रॉस सोसायटी' का उदाहरण लें। नाम कैसा भी हो, हमें तो उसके गुण-दोष देखने चाहिएँ।

कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति पचास वर्ष पहले कहता:—"राज्य रोज़ बीस हज़ार आदमियों का वध करने और पचास हज़ार आदमियों को घायल करने में समर्थ है, परन्तु वह अपने घायलों की सेवा सुश्रूषा करने में असमर्थ है। इसलिए जबतक युद्ध का अस्तित्व रहे तबतक अपनी व्यक्तिगत प्रेरणा से लोग इस काम में पड़ें और सद्भाव रखनेवाले लोग अन्तर्राष्ट्रीय रूप से इस परोपकार-कार्य के लिए संगठन बना लें!" यदि ऐसी बात कहने का कोई साहस करता तो उसका कितना मज़ाक़ उड़ाया जाता! पहले-पहले तो उसे पागल कहा जाता। यदि वह इससे चुप न होता तो उस से कहते:—"यह कितनी वाहियात बात है! तुम्हारे स्वयं-सेवक ठीक वहाँ तो पहुँचेंगे नहीं जहाँ उनकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होगी। तुम्हारे स्वेच्छा चिकित्सालय सुरक्षित स्थानों पर ही केन्द्रीभूत हो जायँगे,और लड़ाई

के मैदानों के चलते-फिरते चिकित्सालयों में कुछ भी न होगा। तुम्हारे जैसे स्वप्न देखनेवाले लोग यह भूल जाते हैं कि उन काम करनेवालों में भी राष्ट्रीय द्वेषभाव होंगे। वे ग़रीब सिपाहियों को बिना सहायता किये ही पड़े रहने देंगे।" जितने मुँह उतनी ही बातें कही जातीं। लोगों को जनता में इस ढंग की बातें करते हुए किसने नहीं सुना है ?

परन्तु वास्तव में कैसा हुआ, वह हमें मालूम है। रेड क्रॉस सोसायटियाँ सब जगह, सब देशों में, हज़ारों स्थानों पर स्वेच्छा से स्वयं संगठित हुईं। जब १८७०-७१ का युद्ध चला तो स्वयंसेवक कार्य में जुट पड़े। स्त्री और पुरुष सेवा के लिए आगे आये। हजारों अस्पतालों और चलते-फिरते चिकित्सालयों का संगठन हुआ। चलते-फिरते चिकित्सालयों, भोजन-सामग्री, कपड़ा और घायलों की औषधियों को ले जानेवाली रेलगाड़ियाँ छोड़ी गईं। इंगलैण्ड की कमेटी ने भोजन, वस्त्र और औज़ारों की भरपूर सहायता भेजी, और युद्ध से उजड़े हुए प्रदेशों की खेती के लिए बीज, हल खींचनेवाले पशु, स्टीम हल और उनके चलाने के लिए आदमी तक भेजे ! गस्टेव मॉयनियर लिखित 'La Croix Rogue' नामक पुस्तक देख लीजिए। आपको आश्चर्य होगा कि कितना भारी काम किया गया।

जो भविष्यवक्ता दूसरों के साहस, सदिच्छा और बुद्धिमत्ता का सदा ही खण्डन करते हैं और जो डंडे के ज़ोर से संसार पर शासन करने के योग्य अपने को ही समझते हैं, उनकी एक भी भविष्यवाणी सत्य न हुई। रेड क्रॉस स्वयंसेवकों की लगन अत्यन्त प्रशंसनीय थी। बड़े-से-बड़े ख़तरे की जगहों पर ही काम करने के लिए वे उत्सुक रहते थे। जब प्रशियन सेना बढ़ने लगी तो नेपोलियन के राज्य के वेतन-भोगी डाक्टर अपने मातहतों के साथ भाग खड़े हुए। परन्तु रेड क्रॉस स्वयंसेवकों ने गोलों की वर्षा में भी अपना काम जारी रक्खा। वे बिस्मार्क और नेपोलियन के अफ़सरों की पाशविकताओं को सहन करते रहे, और सब राष्ट्रों के घायलों की समान-सेवा करते रहे। हालेण्ड, इटेली, स्वीडेन, बेल्जियम, जापान और चीन

के भी लोगों ने बड़ी खूबी से मिल-जुल कर काम किया। जब जैसी आवश्यकता पड़ती, तब उसीके अनुसार वे अपनी, अस्पतालों को बाँट देते थे। वे एक-दूसरे से प्रति-स्पर्धा करते थे, विशेषकर अस्पतालों की सफ़ाई में। अब भी ऐसे कई एक फ्रान्सवासी हैं जो रेड क्रॉस एम्बुलेंस के डच था जर्मन स्वयंसेवकों की प्रेमपूर्ण चिकित्सा का बड़ा उपकार मानते हैं। परन्तु राज्यसत्तावादी की दृष्टि में यह है ही क्या? उसका आदर्श तो है, राज्य से वेतन पानेवाला फ़ौज़ी डाक्टर। परिचारिकाएँ (नर्स) यदि सरकारी न हुई, तो वह रेड क्रॉस और उसके अच्छे-अच्छे अस्पतालों को समझता ही क्या है?

तो, यह एक ऐसा संगठन है जो केवल कल का बच्चा है। इसके मेम्बरों की संख्या लाखों है। इसके पास चलते-फिरते चिकित्सालय हैं, अस्पताल के सामान की रेलगाड़ियाँ हैं, यह घावों की चिकित्सा के नये-नये तरीक़े निकालता है और इसी प्रकार की कई प्रशंसनीय बातें करता है। और, इस संस्था के जन्म का कारण है लगनवाले कुछ व्यक्तियों का स्वेच्छापूर्वक साहस।

कहा जा सकता है कि इस संगठन से राज्य का भी तो सम्बन्ध है। हाँ, राज्यों ने इस संस्था को अपने क़ब्ज़े में करने के लिए उसमें हाथ डाला है। इसकी प्रबन्धक कमिटियों के प्रधान वे लोग हैं जिन्हें खुशामदी लोग जाति के सरदार कहते हैं। सम्राट् और साम्राज्ञियाँ अपने राष्ट्र की कमिटियों के संरक्षक और सहायक बनने का खूब ढोंग करते हैं। परन्तु इस संरक्षण से इस संगठन को सफलता नहीं मिली है। इसकी सफलता प्रत्येक राष्ट्र की उन हजारों स्थानीय कमिटियों के कारण है, उन व्यक्तियों के उत्साह के कारण है और उन लोगों की लगन के कारण है जो युद्ध के घायलों की सेवा करते हैं। और, यह लगन बहुत अधिक हो जाती, यदि राज्य अपना हस्तक्षेप न करता।

फिर भी, १८७१ के युद्ध में घायलों की सेवा के लिए इंग्लैंडवालों

और जापानवालों, स्वीडनवासियों और चीनवासियों, ने जो सहायता भेजी वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापक कमिटी के हुक्म से नहीं भेजी। आक्रान्त प्रदेश में जो अस्पताल खड़े हुए और युद्ध-क्षेत्र पर चलते-फिरते चिकित्सालय लेजाए गए, यह काम किसी अन्तर्राष्ट्रीय मंत्रिमंडल की आज्ञा से नहीं हुआ। यह काम प्रत्येक देश के आये हुए स्वयंसेवकों के विचारों और प्रयत्नों से हुआ। कार्य स्थान पर पहुँचने के बाद वे एक-दूसरे से लड़े नहीं, जैसा कि सब राष्ट्रों के वाक्शूर राजनीतिज्ञों ने सोचा था, परन्तु राष्ट्रीय भेदों को भूलकर काम में लग गए।

इसका तो हमें खेद है कि इतना बड़ा प्रयत्न इतने बुरे कार्य की ख़ातिर करना पड़ा। एक बालक कवि की भांति हम सोचते हैं, "बाद में चिकित्सा करनी पड़े तो पहले घायल ही क्यों किया जाय?" पूँजीपति की शक्ति और मध्यमवर्ग की सत्ता का नाश करके हम युद्ध नामक हत्याकाण्डों की समाप्ति करना चाहते हैं, और अधिक अच्छा तो यह हो कि रेड क्रॉस स्वयंसेवक (हमारे साथ) युद्ध की समाप्ति करने की ओर अपनी शक्ति लगायें। परन्तु इस बड़े भारी संगठन का ज़िक्र तो हमने सिर्फ़ इसलिए किया है कि इससे स्वेच्छापूर्वक किये हुए समझौते और सहयोग का परिणाम मालूम हो सके।

मनुष्य के वध करने की कला में से यदि हम उदाहरण देने लगें तो वे कभी समाप्त न हों। इतना ही कह देना काफ़ी है कि जर्मन सेना को बल पहुँचनेवाली अनेकों समितियाँ हैं। प्रायः लोगों का ख़याल है कि जर्मन-सेना की शक्ति अनुशासन पर ही निर्भर है, पर वैसा नहीं है। हमारा तात्पर्य उन संघों से है जो सेना-संबंधी ज्ञान का प्रचार करते हैं।

सैनिक मित्र-मण्डल क्रीगरबन्द (Military Alliance Krieger-bund) की एक पिछली कॉंग्रेस के अवसर पर २४५२ संबन्धित संघों से प्रतिनिधि आये थे, जिनकी कुल सदस्य-संख्या १,५१,७१२ थी। लक्ष्य-वेधन, सैनिक खेल, युद्ध की चालाकियों के खेल और भौगोलिक अध्ययन-

संबन्धी बहु-संख्यक संघ इसके अलावा हैं। इनमें ही जर्मन-सेना का युद्ध-ज्ञान विकसित होता है, न कि सैनिक छावनियों के स्कूलों में। सब प्रकार की सोसाइटियों का यह एक जबर्दस्त जाल है। ये सोसाइटियाँ अपने-आप उत्पन्न होतीं हैं, संगठित और सम्बन्धित होती हैं, और देश का परिवर्तन कर डालती हैं। इनमें सैनिक और शहरी लोग, भूगोल-वेत्ता और व्यायाम जाननेवाले लोग, खिलाड़ी और औद्योगिक कलाओं के विशेषज्ञ, सभी हैं।

इन संघों का उद्देश्य वास्तव में घृणित है, और वह है, साम्राज्य का पोषण करना। परन्तु इससे हमारा सरोकार नहीं। हमारा प्रयोजन तो सिर्फ़ यह दिखलाना है कि यद्यपि सैनिक संगठन ही राज्य का 'महान् ध्येय' है फिर भी इस दिशा में भी जितना ही अधिक वह समुदायों के स्वेच्छा-पूर्वक समझौते और व्यक्तियों के स्वतन्त्र विचार और प्रयत्न पर छोड़ दिया जाता है, उतनी ही अधिक उसमें सफलता मिलती है।

इस प्रकार युद्ध से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भी आपसी सम-झौते की ज़रूरत होती है। हमारे सिद्धान्त की सिद्धि के लिए हम निम्न-लिखित उदाहरण और भी दे सकते हैं।—स्विट्ज़रलैण्ड का धरातल-शोधक दल (टोपोग्राफ़र्स कोर) जिसके स्वयंसेवक पर्वत मार्गों का ब्यौरेवार अध्ययन करते हैं; फ्रान्स का वायुयान दल (ऐरोप्लेन कोर), ब्रिटेन के तीन लाख वालण्टियरों का दल, ब्रिटिश नेशनल आर्टिलरी एसोसिएशन, इंगलैण्ड के समुद्र-तट की रक्षा के लिए हाल में ही जो एक सोसायटी बन रही है, बाइसिक्लिस्ट कोर, और व्यक्तिगत मोटरों व स्टीम-नावों के नये संगठन।

सब जगह राज्य अपना अधिकार-त्याग कर रहा है। वह अपने पवित्र कर्तव्यों को छोड़ रहा है और व्यक्तिगत मनुष्य उसको ग्रहण कर रहे हैं। सब जगह स्वेच्छापूर्वक बना हुआ संगठन उसकी सीमा में घुस रहा है। परन्तु जो उदाहरण हमने दिये हैं वे तो हमें भविष्य की उस अवस्था का केवल दिग्दर्शन मात्र कराते हैं जो आपसी समझौते से बनेगी और जब राज्य का अस्तित्व मिट जायगा।

[१२]

शंकाएँ

१

अब हम उन मुख्य-मुख्य शंकाओं की समीक्षा करेंगे जो समाजवादके विरुद्ध उठाई जाती हैं। उनमें से अधिकाश शंकाएँ तो केवल ग़लतफ़हमी के कारण उत्पन्न हुई हैं। परन्तु प्रश्न महत्व के हैं, इसलिए हम को उनपर ध्यान देना चाहिए।

राज्यसत्तावादी समाजवाद के विरुद्ध जो शंकाएँ हैं उनका उत्तर देना हमारा काम नहीं है। हमें खुद उसके विरुद्ध वे शंकाएँ हैं। चाहे राज्य समाज के केवल कल्याण के ही लिए क्यों न हो, पर उसकी सत्ता का नागरिक के छोटे से छोटे काम में भी अनुभव होता है। ऐसे राज्य को अपने ऊपर से हटाने और व्यक्ति की स्वतंत्रता को पाने के वास्ते सभ्य जातियों ने लम्बी-लम्बी और कठिन लड़ाइयाँ लड़ी हैं और उन में बहुत कष्ट उठाये हैं। यदि राज्यसत्तात्मक साम्यवादी समाज कभी स्थापित भी हो जाय, तो वह स्थायी न रह सकेगा। सार्वजनिक असंतोष या तो उसे शीघ्र ही तोड़ देगा, या उसका स्वाधीनता के सिद्धान्तों पर पुनः संगठन करायगा।

हम तो उस अराजक साम्यवाद की बात कहते हैं, जो व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानता है, जिसमें किसी सत्ता को स्थान नहीं है, और जो मनुष्य से काम लेने के लिए बलात्कार से काम नहीं लेता। हम इस प्रश्न के आर्थिक पहलू पर ही विचार करेंगे और देखेंगे कि क्या ऐसा समाज उन्नतिशील विकास पा सकता है या नहीं। उस में आदमी वैसे ही होंगे जैसे आज हैं; न आज कल के मनुष्यों से अच्छे, न बुरे। न इनसे अधिक परिश्रमी, न कम परिश्रमी।

यह शंका सर्वविदित है:—"यदि प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने का प्रवन्ध हो जायगा, और यदि मज़दूरी कमाने की आवश्यकता मनुष्य को काम करने के लिये वाधित न करेगी,तो कोई व्यक्ति काम न करेगा। यदि प्रत्येक मनुष्य पर अपना काम करने की मजबूरी न होगी तो वह अपने काम का भार दूसरे पर टाल देगा।" पहली बात तो यह है कि यह शंका बिना समझे की गई है, और इसमें यह भी नहीं सोचा गया कि इस प्रश्न से पहले दो वास्तविक प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि मज़दूरी-प्रथा से जो सुपरिणाम बताये जाते हैं क्या वे वास्तविक रूप में प्राप्त होते ही हैं? और दूसरा यह कि अब भी मज़दूरी कमाने की प्रेरणा से जो उत्पत्ति होती है क्या उसकी अपेक्षा स्वेच्छापूर्वक किये हुए श्रम से अधिक उत्पत्ति नहीं होती? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर ठीक-ठीक विचार करने के लिए गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। यद्यपि वैसे तो वैज्ञानिक और शास्त्रीय विषयों के लोग, इससे बहुत ही कम महत्व के और कम पेचीदा सवालों पर भी, अपनी राय बड़ा अन्वेषण कर लेने के बाद देते हैं; बड़ी सावधानी से सामग्री इकट्ठी करने और खब विश्लेषण करने के बाद देते हैं; परन्तु इस प्रश्न पर वे बिना जाने ही अन्तिम निर्णय दे डालते हैं। वे अमेरिका के किसी समाजवादी संघ की असफलता आदि एक-आध घटना का ही प्रमाण काफ़ी समझ लेते हैं। ये उस वकील की तरह हैं जो विरुद्ध-पक्ष की तरफ़ से पैरवी करनेवाले की रायको अथवा अपनी राय से विरुद्ध किसी की भी राय को नहीं मानता। सिर्फ़ यह समझता है कि वह कोई बकवादी है। और यदि उसे कोई मुँहतोड़ जवाब मिल जाता है तो फिर अपना पक्ष-समर्थन भी नहीं करता। मानव-श्रम का न्यून से-न्यून-अपव्यय करके उपयोगी वस्तुओं का अधिक-से अधिक परिमाण प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति समाज के लिए क्या हो सकती है—यह प्रश्न ही सारे राजनैतिक अर्थशास्त्र का आवश्यक आधार है; और उपर्युक्त कारण से इस प्रश्न का अध्ययन नहीं बढ़ पाता।

या तो लोग साधारण आक्षेपों को दुहराते रहते हैं या हमारे कथनों के अज्ञान का बहाना कर लेते हैं।

इस वेसमझी की शंका में एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि पूँजीवादी राजनैतिक अर्थशास्त्र में भी आज-कल कुछ ऐसे लेखक हैं जो अपने शास्त्र के जन्म देनेवालों के इस सिद्धान्त पर कि 'भूख का भय ही मनुष्य को काम करने के लिए प्रेरित करता है' सदेह करने लगे हैं, और इसके लिए उनके पास कुछ वास्तविक प्रमाण का अधार है। वे अनुभव करने लगे हैं कि उत्पत्ति में कुछ 'सामूहिक तत्त्व' अवश्य होता है, जिसको अभी तक बहुत भुलाया गया है, और वह व्यक्तिगत लाभ से अधिक महत्व का हो सकता है। उच्च अर्थशास्त्रीय विचारकों के मन में यह बात घूमने लगी है कि मजदूरी से जो काम कराया जाता है वह हलका होता है, आधुनिक कृषि और उद्योगों में जो मज़दूर काम करते हैं उनमें मनुष्य की शक्ति का भयंकर अपव्यय होता है, आराम-तलबों की संख्या दिन-दूनी बढ़ रही है, लोग अपना काम दूसरों के ऊपर छोड़ते जा रहे हैं, और उत्पत्ति-कार्य में उत्साह का अभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। उनमें से कई विचारक सोचते हैं कि क्या वे ग़लत रास्ते पर तो नहीं चले आये ? वे सोचते हैं कि जिस मनुष्य के विषय में यह कल्पना की गई थी कि वह केवल लाभ कमाने या मज़दूरी पाने की प्रेरणा से ही काम करता है, ऐसा पतित प्राणी वास्तव में कहीं है भी या नहीं। यह संदेह विश्वविद्यालयों में भी घुस गया है। वह कट्टर अर्थशास्त्र की पुस्तकों में भी पाया जाता है।

परन्तु अब भी बहुत से साम्यवादी सुधारक हैं जो व्यक्तिगत वेतन के पक्षपाती हैं। वे मज़दूरी-प्रथा के पुराने दुर्ग की रक्षा कर रहे हैं, यद्यपि उस दुर्ग के रक्षक उसका एक एक पत्थर धीरे-धीरे आक्रमणकारियों के सिपुर्द करते जाते हैं।

उन्हें भय है कि दबाव के बिना जनता श्रम न करेगी।

हमारे जीवन-काल में ही यह भय दो बार प्रकट किया जा चुका है। एक बार तो अमेरिका में नीग्रो जाति को दासता से मुक्त करने के पहले विरोधियों ने यही भय प्रकट किया था। दूसरी बार रूस के रईसों और ज़मींदारों ने हलवाहों की मुक्ति (Emancipation of Serfs) से पहले प्रकट किया था। नीग्रो-मुक्ति का विरोधी कहता था कि "कोड़ों के विना नीग्रो काम न करेगा"। रूसी हलवाहों (Serfs) का स्वामी कहता था कि "मालिक की देखरेख के विना हलवाहे खेतों को जोतना छोड़ देंगे"। फ्रान्स के सरदारों की भी १७८९ में यही रट थी। यह मध्ययुग की रट है और वास्तव में उतनी ही पुरानी चिल्लाहट है जितनी पुरानी यह दुनिया है। प्रत्येक वार जब किसी प्रचलित अन्याय को हटाया जायगा तभी यह सुनाई देगी, और प्रत्येक बार वास्तविक परिणाम से यह सिद्ध हो जाता है कि यह चिल्लाहट झूठी थी। १७९२ में जो किसान स्वतंत्रता पा गए उन्होंने अपने पूर्वजों की अपेक्षा बहुत अधिक उत्साह से खेती की; मुक्ति पानेवाला नीग्रो आज-कल अपने पूर्वजों से अधिक काम करता है; और रूस के कृषक को भी जब से स्वतन्त्रता मिली है तब से बड़े जोश से काम कर रहा है। जहाँ ज़मीन उसकी है, वहीं वह ख़ूब जी तोड़ महनत करता है। नीग्रो-दासों की मुक्ति के विरोधी की चिल्लाहट दास-स्वामियों को मूल्यवान् हो सकती है, परन्तु दासों के लिए उसका कितना मूल्य है यह दास ही जानते हैं, क्योंकि उन्हें उसका आन्तरिक उद्देश्य ज्ञात है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्रियों ने ही तो हमें यह बताया है कि मज़दूरी पानेवाले का काम मन लगा कर नहीं होता, और, वही आदमी खूब महनत से काम करेगा जिसे यह मालूम है कि जितनी वह महनत करेगा उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रशंसा के सारे मन्त्रों का मूल-सार यही निकाला जा सकता है।

अर्थशास्त्री लोग जब व्यक्तिगत सम्पत्ति के सत्परिणामों की प्रशंसा

करते हैं, तो वे बताते हैं कि जो भूमि पहले अनुत्पादक दलदल और पथरीली थी वह उस समय अच्छी फसलें देने लगती है, जब कृषक उस भूमि का स्वामी बनकर खेती करने लग जाता है। परन्तु इससे उनके प्रतिपाद्य विषय—व्यक्तिगत सम्पत्ति—का समर्थन किसी प्रकार नहीं होता। यह बात सत्य है कि यदि अपनी परिश्रम की कमाई को लूट से बचाना हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि श्रम के साधनों पर अपना कब्ज़ा हो—जब इस बात को अर्थशास्त्री लोग स्वयं स्वीकार करते हैं, तो वे यही सिद्ध करते हैं कि जब मनुष्य स्वाधीनता में काम करता हो, जब उसने अपना धन्धा आप पसन्द किया हो, जब उसके काम में बाधा डालनेवाला कोई नीरिक्षक न हो, और जब वह यह प्रत्यक्ष जानता हो कि जो कोई महनत करता है उसी को उसका लाभ होता है, आलसियों को नहीं होता, तभी वह सबसे अधिक उत्पत्ति कर सकता है। उनकी दलीलबाज़ी से इसके अतिरिक्त और कोई नतीजा नहीं निकाला जा सकता, और यही बात तो हम स्वयं मानते हैं।

अर्थशास्त्री लोग श्रम के साधनों पर सीधा कब्ज़ा कर लेने की बात नहीं कहते, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसका प्रदर्शन करते हैं कि किसान की फ़सल का लाभ या जो सुधार वह अपनी ज़मीन पर करेगा, वह सब उससे छीने नहीं जायँगे। इसके अतिरिक्त, यदि अर्थशास्त्रियों को यह सिद्ध करना है कि, व्यक्तिगत स्वामित्व ही श्रेयस्कर है, अन्य किसी प्रकार का क़ब्ज़ा श्रेयस्कर नहीं है, तो उन्हें यह दिखाना चाहिए कि पंचायती स्वामित्व की प्रणाली में भूमि उतनी अच्छी फ़सलें कभी नहीं देती जितनी व्यक्तिगत कब्ज़े की प्रणाली में देती है। परन्तु इसका उन्होंने प्रमाण नहीं दिया। वस्तुतः अवस्था इसके विपरीत देखी गई है।

वॉड प्रदेश के किसी पंचायती गाँव का उदाहरण लीजिए। शीतकाल में गाँव के सब आदमी जंगल में लकड़ी काटने जाते हैं, और जंगल पंचायती है अर्थात् सब का है। श्रम के इन्हीं त्यौहारों में काम के लिए

सब से अधिक जोश दिखता है, और मनुष्य कितना अधिक काम कर सकता है इसका प्रदर्शन हो जाता है। मज़दूरी पानेवाले मज़दूरों का काम या व्यक्तिगत स्वामी के सारे प्रयत्न उसका मुक़ाबला नहीं कर सकते।

अथवा रूस के किसी गाँव का उदाहरण लीजिए। सारे गाँववाले, पंचायत के किसी खेत या पंचायती रूप से बोये हुए किसी खेत को काटने जाते हैं। उस वक्त आपको मालूम होता है कि यदि मनुष्य पंचायती उत्पत्ति के लिए सबके साथ काम करे तो वह कितना उत्पन्न कर सकता है। ग्रामवासी अधिक से-अधिक हंसिया फैलाकर काटने में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं, और स्त्रियाँ उनके पीछे पीछे बराबर काम करती आती हैं, ताकि वे काटने वालों से बहुत पीछे न रह जायँ। वह श्रम का त्यौहार होता है। कुछ घंटों में ही सौ आदमी इतना काम कर डालते हैं कि यदि वे अलग-अलग करते तो कई दिनों में न होता। मिल कर काम करनेवाले इन लोगों के सामने अकेला अलग काम करनेवाला खेत-स्वामी कितना तुच्छ प्रतीत होता है!

इस विषय में हम बीसियों उदाहरण अमेरिका के अग्रगामी श्रमिकों के या स्विट्ज़रलैण्ड, जर्मनी और रूस के या कुछ फ्रान्स के ग्रामों के दे सकते हैं। रूस में राज, बढ़ई, नाववाले, मछुए आदि लोगों के दल मिल कर कोई काम ले लेते हैं और उपज या मज़दूरी आपस में बाँट लेते हैं। उन्हें बीच वाले लोगों की ज़रूरत नहीं पड़ती, और उनका काम भी मिल कर बहुत शीघ्रता से होता है। ऐसा ही काम मैंने इंगलैण्ड के जहाज़ बनने के कारखानों में होता हुआ देखा। वहाँ भी मज़दूरी इसी उसूल से (सबको इकट्ठी) दी जाती थी। घूमती-फिरती रहने वाली जातियों की बड़ी-बड़ी शिकारों का भी उल्लेख किया जा सकता है। अनेकों व्यक्ति मिल कर सामुदायिक रूप से जो आज-कल बहुत से साहस कार्य करते हैं वे भी उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक उदाहरण में हम बता सकते हैं कि मज़दूरी से

काम करने वाले एक व्यक्ति या एक व्यक्तिगत स्वामी के कार्य की अपेक्षा मिलकर किया हुआ सामूहिक कार्य बहुत ही अच्छा होता है।

मनुष्य को काम करने के लिए सब से बड़ी प्रेरक बात जो सदा रही है, वह है सुख प्राप्ति, अर्थात् शारीरिक, कला संबंधी और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति। मज़दूरी पर काम करने वाला व्यक्ति बड़ी कठिनता से भोजन वस्त्र ही कदाचित् पैदा करता है, परन्तु स्वाधीन काम करनेवाला व्यक्ति कहीं अधिक शक्ति से काम करता है और उसकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रचुरता में सब सामग्री उत्पन्न करता है, क्योंकि वह जानता है कि जितनी ही वह महनत करेगा उतनी ही अधिक सुख-सुविधा उसकी और दूसरों की बढ़ेगी? एक तो दरिद्रता और दुरवस्था में ही फंसा-सा रहता है, और दूसरा भविष्य में सुख-सुविधा पाने और अपने शौकों को पूरा करने की आशा रखता है। इसी भेद में सारा रहस्य है। इसलिए जो समाज यह चाहता है कि सब लोग सुख से रहें, सब लोग जीवन के सारे विकासों का आनन्द उठा सकें, उसे चाहिए कि वह श्रमिकों को उनकी इच्छानुसार काम दे। गुलामी और मज़दूरी की प्रथा से अभी जो कुछ उत्पत्ति हुई है, उसकी अपेक्षा स्वेच्छा-पूर्वक किये हुए काम से बहुत अधिक उत्पत्ति होगी और काम भी बहुत अच्छा होगा।

२

आज-कल जीवित रहने के लिए जो श्रम अनिवार्य है, उसे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर लादने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है, और लोग समझते हैं कि सदा यही हाल रहेगा।

मनुष्य-जीवन के लिए जितना काम अनिवार्य-रूप से आवश्यक है, वह सब शारीरिक है। हम चाहे कलाकार हों या वैज्ञानिक, परन्तु रोटी, कपड़े, सड़कें, जहाज़, प्रकाश, अग्नि आदि शारीरिक श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं के बिना कोई नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त, कितने ही उच्च

कलामय या सूक्ष्मतम आध्यात्मिक हमारे शौक़ क्यों न हों, उन सब का आधार तो शारीरिक श्रम ही है और जीवन के आधार रूप इसी श्रम से हर-एक बचना चाहता है।

हाँ, यह हमारी समझ में आ जाता है कि आज कल तो यह अवस्था अवश्य होनी चाहिए।

कारण यह कि आज-कल शारीरिक श्रम करने के लिए आपको किसी अस्वास्थ्यकर कारख़ाने में रोज दस या बारह घंटे बंद रहना पड़ेगा, और उसी काम में बीस या तीस वर्ष तक, या संभव है जीवन भर, बँधा रहना पढ़ेगा।

आज-कल शारीरिक श्रम करने का तात्पर्य है, नाम मात्र की मज़दूरी या वेतन मिलना, कल कैसे गुज़ारा होगा इसका कुछ निश्चय न होना; काम के बिना बेकार बैठे रहना; प्राय· मुहताज रहना, और अपने और अपने बच्चों के अलावा दूसरों के खिलाने, पहनाने, मनोरंजन करने, और शिक्षा देने में चालीस साल काम करने के बाद बहुधा किसी अस्पताल में जाकर मर जाना।

आज-कल शारीरिक श्रम करने का तात्पर्य है, सारे जीवन नीचा समझा जाना। क्योंकि, राजनीतिज्ञ लोग चाहे शारीरिक श्रम करनेवाले की कितनी ही प्रशंसा करते रहें, फिर भी शारीरिक श्रम करनेवाला तो मान-सिक श्रम करनेवाले से सदा नीचा ही समझा जाता है। और जो व्यक्ति दस घण्टे कारख़ाने में परिश्रम कर चुका है उसके पास न इतना समय रहता है, और साधन तो रहते ही कहाँ, कि वह विज्ञान और कला का आनन्द उठा सके या उनकी क़द्र करने योग्य हो सके। उसे तो विशेषा-धिकार रखनेवाले लोगों की जूठन से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता है।

इस अवस्था के कारण ही शारीरिक श्रम करना दुर्भाग्य माना जाता है।

सब मनुष्यों के मन में यही एक स्वप्न है—सब यही चाहते हैं कि—वे या उनके बच्चे इस नीची दशा से उबर जायँ, और अपने लिए एक

'स्वतन्त्र' स्थिति बना लें। और, इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है कि वे भी दूसरे मनुष्यों के श्रम पर जीवित रहने लगें।

जबतक शारीरिक श्रम करनेवालों और मानसिक श्रम करनेवालों के दो पृथक-पृथक् वर्ग रहेंगे तबतक यही हाल रहेगा।

वस्तुतः जब श्रमिकों को मालूम है कि उनके भाग्य में तो सदा असम्मान, दरिद्रता और भविष्य की अनिश्चितता ही है, तो इस गिरानेवाले काम में वे क्या रुचि रख सकते हैं ? इसलिए जब हम देखते हैं कि अधिकांश मनुष्य रोज सवेरे अपने उसी रद्दी काम में फिर लग जाते हैं, और अधिकाँश मनुष्यों ने मशीन की तरह दी हुई गति के अनुसार आज्ञा-पालन करने और भविष्य के लिए कोई आशा न रखते हुए भी इस दुःख भरे जीवन को वहन करने की आदत बना ली है, तो हमें उनकी इस आदत, काम करने के इस उत्साह, और उनके धैर्य पर आश्चर्य होता है। उन्हें इतनी भी आशा नहीं है कि जिस मनुष्यजाति के पास प्रकृति के सम्पन्न ख़ज़ाने हैं और ज्ञान विज्ञान और कला के सारे आनन्द हैं, उसी मनुष्यजाति में किसी दिन वे या उनके बच्चे भी शामिल हो सकेंगे, क्योंकि ये ख़ज़ाने और आनन्द तो आज-कल कुछ विशेषाधिकारियों के लिए ही सुरक्षित हैं। आश्चर्य है कि फिर भी वे निरन्तर काम करते रहते हैं।

शारीरिक और मानसिक काम के इस पार्थक्य का नाश करने के लिए ही हम मज़दूरी प्रथा को मिटाना चाहते हैं, और साम्यवादी क्रान्ति लाना चाहते हैं। उस समय श्रम करना दुर्भाग्य प्रतीत न होगा। उस समय वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतीत होगा, वह मनुष्य की सारी योग्यताओं और शक्तियों का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयास मालूम पड़ेगा।

मज़दूरी प्रथा से काम बहुत अच्छा होता है, यह जो एक झूठा ख़याल बन गया है, हम इसको अब कसौटी पर कसेंगे।

यदि आपको वर्तमान उद्योग धंधों में होनेवाला मनुष्य-शक्ति का

भारी अपव्यय देखना हो तो आप नमूने के कारख़ानों में न जाइये। वे तो कहीं-कहीं ही मिलेंगे। आप साधारण कारख़ानों में जाइए। यदि एक कारख़ाना ऐसा मिला जिसका प्रबन्ध थोड़ा-बहुत बुद्धिमत्ता पूर्वक है, तो सौ से अधिक कारख़ाने ऐसे मिलेंगे जिनमें मनुष्य की मेहनत बरबाद की जाती है, और जिसका उद्देश्य शायद यही होता है कि मालिक को उससे थोड़ी और आमदनी हो जाय।

इन कारख़ानों में आप देखेंगे कि बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस वर्ष के युवक बेञ्चों पर सारे दिन बैठे रहते हैं। उनकी कमरें झुकी हुई हैं। जिस तरह कोई बुख़ार से काँपे इस तरह वे अपने सिर और शरीर को कँपा रहे हैं, और बड़ी शीघ्रता से सूती फ़ीतों के कर्घों पर के बचे हुए बेकार टुकड़ों के दोनों सिरों को बाँध रहे हैं। अपने जर्जर, दुर्बल शरीरों से ये लोग अपने देश के लिए कैसी सन्तान छोड़ जायँगे? पर मालिक कहता है कि "ये लोग मेरे कारख़ाने में थोड़ी सी ही जगह घेरते हैं, और प्रत्येक के काम से मुझे चार आने की आमदनी हो जाती है।"

लन्दन के एक बड़े भारी कारख़ाने में हमने देखा कि सत्रह-सत्रह साल की लड़कियाँ दिया सलाइयों की टोकरियाँ एक कमरे से दूसरे कमरे में सिर पर उठा कर ले जाती हैं, और उनके सिर के बाल उड़े हुए हैं। कोई छोटी सी मशीन ही इन दियासलाइयों को मेज़ पर पहुँचा सकती थी। मालिक कहता है कि "ख़र्चा हमें बहुत थोड़ा पड़ता है। जो स्त्रियाँ कोई विशेष धंधा नहीं जानतीं वे सस्ती मिल जाती हैं। फिर हमें मशीन की क्या जरूरत है? जब ये काम न कर सकेंगी, तो इनके बजाय दूसरी स्त्रियों को काम पर लगा लेंगे। सड़कों पर इतनी तो मारी-मारी फिरती हैं!"

आपको किसी बड़े मकान की सीढ़ियों पर जाड़े की रात्रि में नंगे पाँव सोता हुआ कोई बालक मिलेगा। उसके बग़ल में अख़बारों का बण्डल दबा होगा।.... बच्चों की मजदूरी इतनी सस्ती पड़ती है कि रोज़ शाम को आठ आने के अख़बार बेचने के लिए कोई भी लड़का रखा जा सकता

है, जिसमें से आना, आध आना उस लड़के को मिल जायगा। बड़े-बड़े शहरों में आप निरंतर देखेंगे कि बड़े-बड़े और तगड़े तगड़े आदमी तो सड़कों पर घूम रहे हैं और महीनों से बेकार हैं, और उनकी लड़कियाँ कारख़ानों की गरम भाप में काम करके पीली पड़ गई हैं, उनके लड़के हाथ से काला पालिश डब्बों में भर रहे हैं, या जिस उम्र में उन्हें कोई काम सीखना चाहिए उसी उम्र में शाक बेचनेवाले की डलिया उठाते फिरते हैं और अठारह या बीस साल की उम्र में नियमित बेकार बन जाते हैं।

सेनफ्रान्सिस्को से लेकर मास्को तक और नेपल्स से लेकर स्टाकहोम तक यही दशा है। मनुष्य-शक्ति का अपव्यय ही हमारे उद्योग-धन्धों की मुख्य विशेषता है। व्यापार का तो कहना ही क्या, जिसमें यह अपव्यय और भी भारी हो जाता है।

जो शास्त्र मज़दूरी या वेतन-प्रथा से होनेवाली मनुष्य शक्ति के अपव्यय का शास्त्र है, उसको Political Economy (राजनैतिक मितव्ययिता-शास्त्र) नाम देना कितना उलटा है!

इतना ही नहीं। यदि आप किसी सुव्यवस्थित कारख़ाने के संचालक से बात करें तो वह आपको बड़ी सच्चाई के साथ बतायगा कि आज कल होशियार, फुर्तीले, और मन लगाकर काम करनेवाले आदमी नहीं मिलते। "प्रत्येक सोमवार को काम चाहनेवाले बीस-तीस आदमी हमारे पास आते हैं। यदि ऐसा कोई आदमी आय तो हम अपने और आदमियों को घटाकर भी उसे रख लें। ऐसे आदमी को हम देखते ही पहचान लेते हैं, और रख लेते हैं, चाहे हमें किसी सुस्त पुराने आदमी को निकालना ही पड़े।" जो आदमी इस प्रकार निकाला जाता है और जो दूसरे दिन निकाले जायँगे, वे सब बेकार श्रमिक हो जाते हैं। यही पूँजी पतियों की रक्षित सेना है। जब काम बढ़ जाता है या हड़तालियों को दबाना होता है तब ये ही बेकार श्रमिक कारख़ानों में काम पर लगा लिये जाते हैं। और जो श्रमिक साधारण प्रकार का काम करनेवाले हैं, जिन्हें काम कम

होते ही प्रथम श्रेणी के कारखाने हटा देते हैं—उनका क्या होता है? वे बूढ़ों की और मन लगाकर काम न करनेवाले श्रमिकों की भारी सेना में सम्मिलित हो जाते हैं। वे उन द्वितीय श्रेणी के कारखानों में चक्कर काटते रहते हैं, जिनका खर्चा मुश्किल से निकलता है, जो खरीदारों को चाल और धोखे में फँसा कर दुनिया में जीवित रहते हैं, और विशेषतः दूर देशों के खरीदारों को ही अपना माल टिकाते हैं।

यदि आप खुद उन श्रमिकों से ही मिलें और बात-चीत करें तो आपको मालूम होगा कि इन कारखानों में खूब काम न करना ही नियम है। जब कोई आदमी ऐसे कारखाने में काम करने जाता है तो सबसे पहला उपदेश जो उसे साथी श्रमिकों से मिलता है, वह है—"जितना दाम, उतना काम।"

कारण यह है कि काम करनेवाले जानते हैं कि अगर उदारता में आकर और मालिक की प्रार्थनाओं पर ध्यान दे कर वे किसी आवश्यक ऑर्डर को पूरा करने के लिए तेज़ी से ज़्यादा काम कर देंगे तो भविष्य में मज़दूरी की दर में उनसे उतना ही ज़्यादा काम लिया जायगा। इसलिए सब कारखानों में वे जितनी उत्पत्ति कर सकते हैं, उतनी करते नहीं। कई उद्योग-धंधों में माल ही कम तैयार किया जाता है ताकि माल सस्ता न होजाय; और कभी-कभी मज़दूर परस्पर सांकेतिक शब्दों में कह देते हैं "थोड़ा दाम, थोड़ा काम"।

मजदूरी का काम ग़ुलामी का काम है। मज़दूरी-प्रथा से न तो पूरी उत्पत्ति हो सकती है और न होनी ही चाहिए। अब समय आगया है कि 'उत्पत्ति-कार्य के लिए मज़दूरी-प्रथा ही सबसे अच्छी प्रेरक है' इस सिद्धांत में विश्वास करना ही लोग छोड़ दें। हमारे दादाओं के समय से आज उद्योग-धन्धों में जो सौगुनी आमदनी हो गई है, उसका कारण मज़दूरों से काम लेनेवाला पूँजीवादी संगठन नहीं है (इस संगठन ने तो उलटा

परिणाम दिया है), किन्तु पिछली शताब्दि के अन्त में होने वाली भौतिक विज्ञान और रसायन-विज्ञान की उन्नति है।

३

जिन्होंने इस प्रश्न का गम्भीर अध्ययन किया है, वे साम्यवाद के लाभों को अस्वीकार नहीं करते, शर्त यही है कि वह साम्यवाद पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् अराजक साम्यवाद हो। वे यह मानते हैं कि यदि बदले में रुपया दिया जायगा, भले ही उसका नाम 'लेबर-चेक' (मज़दूरी की हुण्डी) हो और राज्य द्वारा नियंत्रित श्रमिक संघों को दिया जाय, तो भी वह मज़दूरी प्रथा का ही रूप होगा और हानियां भी वही रहेंगी। चाहे समाज के हाथ में उत्पत्ति के साधन आ जायँ, फिर भी उनका मत है कि सारी समाज-रचना को उससे कष्ट उठाना पड़ेगा। और, वे यह मानते हैं कि जब सब बालकों को पूर्ण और 'समाज के लिए जितनी आवश्यक है उतनी सब' शिक्षा दी जायगी, जब सभ्य समाजों का स्वभाव श्रम करने का हो जायगा, जब लोगों को अपने धंधे पसन्द करने और बदलने की स्वतन्त्रता होगी, और जब सब के सुख के लिए बराबरी से काम करना सब को आकर्षक होगा, तब साम्यवादी समाज में ऐसे उत्पादकों की कमी न होगी जो भूमि की उपज अठगुनी अथवा दसगुनी बढ़ा देंगे, या जो उद्योग-धंधों को एक नवीन गति देंगे।

हमारे विरोधी इसको तो मानते हैं। परन्तु वे कहते हैं कि—"भय तो उन थोड़े से काहिलों से होगा जो काम नहीं करेंगे, न अपनी आदतों को नियमित बनायँगे, भले ही काम करने की परिस्थिति कितनी ही सुन्दर हो जाय। आज भूखों मरने की आशंका काम न करने वाले से भी दूसरों के साथ काम करा लेती है। जो समय पर काम करने नहीं आता वह निकाल दिया जाता है। परन्तु एक मछली ही सारे तालाब को गंदा कर देती है। दो-तीन सुस्त या उद्दण्ड श्रमिक दूसरों को भी बिगाड़ देंगे, और

कारखाने में अव्यवस्था और विद्रोह की प्रवृत्ति फैला देंगे, जिससे काम न हो सकेगा। फलतः अन्त में हमें बल-प्रयोग का कोई तरीका निकालना पड़ेगा, जिससे ऐसे सरगना आदमियों को ठीक किया जा सके। और फिर, जो जितना काम करे उसको उतनी ही मजदूरी या वेतन मिले—यह मज़दूरी की प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली है जिससे दबाव भी पड़ सकता है और साथ ही काम करने वाले की स्वतन्त्रता की भावनाओं पर भी आघात नहीं पहुँचता। यदि कोई दूसरा उपाय काम में लाया जायगा, तो उसमें सत्ता के हस्तक्षेप की निरन्तर आवश्यकता रहेगी और वह स्वतंत्र मनुष्य को पसन्द नहीं है।" हम समझते हैं कि शंका हमारे द्वारा अच्छे प्रकार से रक्खी गई है।

पहली बात तो यह है कि जिन दलीलों से राज्य, दण्ड कानून, जज और जेलर का होना उचित बताया जाता है, यह शंका भी उन्हीं दलीलों की श्रेणी की है।

राज्यसत्तावादी लोग कहते हैं कि "समाज में थोड़े लोग तो ऐसे होते ही हैं जो सामाजिक सहयोग की रीतियों को नहीं मानते। इसलिए हमें मजिस्ट्रेटों, कचहरियों और कारागारों को रखना पड़ेगा, यद्यपि इन संस्थाओं से सब प्रकार की अन्य बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।"

इसलिए हम भी अपना वही उत्तर दुहरा देते हैं जो हमने सत्तामात्र के सम्बन्ध में कई बार दिया है—"एक भावी दोष को मिटाने के लिए आप ऐसे उपाय करते हैं, जो स्वयं उससे भी बड़े दोष हैं। इन उपायों से वही दोष पैदा होते हैं जिन्हें आप मिटाना चाहते हैं। आपको स्मरण रखना चाहिए कि जिस वर्तमान पूँजीवादी अवस्था की हानियों को आप मानने लगे हैं वह मज़दूरी-प्रथा से (अर्थात् बिना पूँजीपति की मजदूरी किये जीवन-निर्वाह न कर सकने के कारण) पैदा हुई है।" इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के तर्क से वर्तमान प्रणाली के दोषों का ही छल पूर्वक समर्थन हो जाता है। मज़दरी या वेतन की प्रथा साम्यवाद की त्रुटियों

को दूर करने के लिए क़ायम नहीं की गई थी, उसका जन्म तो राज्यसत्ता और व्यक्तिगत स्वामित्व के जैसे अन्य कारणों से ही हुआ था। प्राचीन काल में जहाँ गुलामों और हालियों (Serfs) से बलपूर्वक काम लिया जाता था, वहीं से मजदूरी-प्रथा का भी जन्म हुआ है, केवल इसका वेष आधुनिक है। अतः जिस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य के पक्ष में दी हुई दलीलें निःसार हैं उसी प्रकार मज़दूरी प्रथा के समर्थन में दी हुई दलीलें भी मूल्यहीन हैं।

फिर भी हम शंका पर विवेचन करेंगे और देखेंगे कि उसमें कुछ तथ्य भी है या नहीं।

सर्वप्रथम यदि स्वेच्छा-श्रम के सिद्धान्त पर स्थापित हुए समाज में अकर्मण्यों का ख़तरा वस्तुत: ही होगा, तो आज-कल के से सत्तावादी संगठन के बिना और मज़दूरी-प्रथा को चलाये बिना भी वह दूर हो सकेगा।

उदाहरण लीजिए कि कुछ स्वयं सेवक किसी कार्य-विशेष के लिए अपना एक संघ बनाते हैं। वे हृदय से चाहते हैं कि उन्हें अपने कार्य में सफलता मिले, और दिल लगा कर काम करते हैं। केवल एक साथी ऐसा है जो अपने काम से प्रायः ग़ैरहाज़िर रहता है। अब इस कारण क्या उन लोगों को उचित होगा कि वे अपने संघ को तोड़ दें, जुर्माना करने वाला एक अध्यक्ष चुन लें, और सज़ाएँ देने के लिए एक क़ानून बना डालें? परन्तु दोनों में से एक बात भी नहीं की जायगी। काम बिगाड़ने वाले उस साथी से एक दिन कह दिया जायगा कि-"मित्र! हम लोग तो तुम्हारे साथ काम करना चाहते हैं, परन्तु तुम प्रायः ग़ैरहाजिर रहते हो, और अपना काम लापरवाही से करते हो। इसलिए तुम हमारे साथ काम नहीं कर सकते। तुम और कहीं चले जाओ और ऐसे साथी ढूंढ लो जिन्हें तुम्हारी लापरवाही पसन्द हो।"

यह मार्ग इतना स्वाभाविक है कि आज कल भी सब जगह, सब उद्योग-धंधों में, यही काम आता है। इसके मुक़ाबले में जुर्माना करने,

तनख्वाह काटने, और कड़ी निगरानी करने आदि के तरीक़े सब असफल रहते हैं। एक आदमी निश्चित समय पर कारखाने में काम करने आता है, परन्तु यदि वह अपना काम बिगाड़ता है, या अपनी सुस्ती से दूसरों के काम को अटकाता है, या उसमें कोई दोष होता है, या वह झगड़ालू होता है, तो उसे कारखाना छोड़ना पड़ता है, और मामला खत्म हो जाता है।

सत्तावादी समझते हैं कि सर्व-शक्तिमान् मालिक और उसके निरीक्षकों के कारण ही नियम-पालन और अच्छा काम होता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक जटिल कार्य में, जहाँ तैयार होने से पहले चीज़ कई हाथों में से गुजरती है, वहाँ वह कारखाना ही, अर्थात् वहाँ के सारे श्रमिक ही मिलकर, इस बात का ध्यान रखते हैं कि काम अच्छा हो। इस कारण इङ्गलैण्ड के अच्छे-अच्छे व्यक्तिगत कारखानों में निरीक्षक कम होते हैं। फ्रांस के कारखानों की औसत से तो बहुत कम, और इङ्गलैंड के राजकीय कारखानों से भी कम होते हैं।

इसी प्रकार सार्वजनिक नैतिक-मर्यादा भी एक ख़ास हद तक क़ायम रहती है। सत्तावादी कहते हैं कि इस नैतिक-मर्यादा की रक्षा सिपाहियों, जजों और पुलिस वालों के कारण होती है, पर वास्तव में वह उनके कारण नहीं होती। किसी ने यह बात बहुत पहले कही थी कि "बहुत से क़ानून हैं ही ऐसे जिनसे लोग अपराधी बन जाते हैं।"

औद्योगिक कारखानों में ही इस तरह काम नहीं चलता, बल्कि हर जगह और हर रोज़ इसी तरह काम चलता है, और इतने बड़े पैमाने पर चलता है कि किताबी लोग उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। जब कोई ऐसी रेलवे-कंपनी, जिसका दूसरी कम्पनियों से संगठन है, अपने इक़रार पूरे नहीं कर सकती, अपनी गाड़ियाँ समय पर नहीं चलाती और माल स्टेशनों पर पड़ा रहने देती है, तो दूसरी कम्पनियाँ अपना इक़रारनामा मंसूख करने की धमकी देती हैं। वह धमकी ही काफ़ी हो जाती है।

साधारणतः यह विश्वास किया जाता है और कम-से-कम सरकारी स्कूलों में तो यह सिखाया ही जाता है कि व्यापारी लोग अपने इकरारों को इसलिए निभाते हैं कि उनको अदालतों का भय रहता है। परन्तु ऐसा नहीं है। दस उदाहरणों में नौ ऐसे होते हैं जिनमें इकरार तोड़नेवाला व्यापारी अदालत के सामने पेश ही नहीं होता। लन्दन जैसे केन्द्र में जहाँ व्यापार बड़ी तेज़ी से चलता है, यदि कोई व्यक्ति अपना देना स्वयं नहीं चुकाता और लेनदार को अदालत की शरण लेनी पड़ती है, तो वहाँ के अधिकांश व्यापारी हमेशा के लिए उस व्यक्ति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं, क्योंकि उसने अदालत में जाने का मौक़ा दिया।

जब यह उपाय कारख़ाने के श्रमिकों में, व्यापार करने वालों में और रेलवे कम्पनियों में आज-कल काम में लाया जाता है, तो उस समाज में भी क्यों न काम में लाया जायगा जिसका आधार स्वेच्छा-श्रम होगा?

मान लीजिए कि एक ऐसा संगठन है जिसमें यह तय हुआ कि प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित इकरार पूरा करना पड़ेगा—

"हम वादा करते हैं कि हम तुम्हें अपने मकानों, सड़कों, आवागमन के या माल लाने-ले जाने के साधनों, स्कूलों, अजायबघरों आदि से काम लेने देंगे। शर्त यह है कि तुम बीस से लेकर पैंतालीस-पचास वर्ष की उम्र तक रोज़ चार या पाँच घंटे का समय ऐसे काम में लगा दो जो जीवन के लिए आवश्यक माना जाय। जिस उत्पत्ति-संघ में तुम सम्मिलित होना चाहो उसमें अपनी पसंद से सम्मिलित हो सकोगे, अथवा नया संघ भी संगठित कर सकोगे, बशर्ते कि उसमें आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति हो। जो समय तुम्हारे पास शेष रहे, उसमें तुम अपनी रुचि के अनुसार कला या विज्ञान में अपने मनोरंजन के लिए दूसरे लोगों के साथ सहयोग कर सकते हो।

"हम तुमसे केवल इतना ही चाहते हैं कि तुम अन्न, वस्त्र और मकानात पैदा करने या बनाने वाले संघों में काम करने के लिए, या सार्वजनिक

स्वास्थ्य और सार्वजनिक गाड़ियों के विभागों में काम करने के लिए, या इसी प्रकार के दूसरे आवश्यक कार्य के लिए वर्ष में अपने बारह सौ या पंद्रह सौ घंटे दे दो। इस काम के बदले में हम विश्वास दिलाते हैं कि जो कुछ ये संघ उत्पन्न करते हैं या करेंगे, वह सब तुम्हे मुफ्त मिलेगा। हमारे संगठन में हज़ारों उत्पत्ति संघ होंगे और यदि उनमें से कोई एक संघ भी किसी कारण से तुम्हें न रख सकेगा—तुम उपयोगी वस्तु उत्पन्न करने में बिलकुल अयोग्य होगे या इनकार करोगे—तो तुम बहिष्कृत व्यक्ति या अपाहिज की तरह रहोगे। यदि हमारे पास जीवनोपयोगी सामग्री इतनी होगी कि हम तुम्हे दे सकेंगे तो हम खुशी से देंगे। तुम मनुष्य हो, इसलिए जीवित रहना तुम्हारा अधिकार है। परन्तु तुम विशेष दशा में रहना चाहते हो और अलग होना चाहते हो तो यह अधिक सम्भव है कि तुम्हें अन्य नागरिकों से व्यवहार करने में रोज़ कष्ट उठाना पड़े। यदि तुम्हें विद्वान् समझकर, दया कर के, कोई मित्र तुम्हारा आवश्यक कार्य न कर देगा और वह तुम्हें समाज के प्रति नैतिक कर्तव्य से मुक्त कर न देगा, तो तुम मध्यमवर्गी समाज के भग्नावशेष समझे जाओगे।

"अन्त में, यदि तुम्हें यह पसन्द नहीं आता, तो तुम भूमण्डल पर कहीं भी अन्यत्र चले जाओ, जहाँ की परिस्थिति अनुकूल समझ में आय। या अपने भक्त ढूँढ कर, नये सिद्धान्तों पर संगठन करो। हमें तो अपना संगठन पसन्द है।"

साम्यवादी समाज में, यदि काहिलों की संख्या बढ़ जायगी तो उनको निकालने के लिए यही उपाय किया जायगा।

४

हमारा ख़याल है कि जिस समाज में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, उसमें इस प्रकार की संभावना का भय शायद न रहे।

...यम ...ाहियों, में वह उनके ...ी कि "बहुत से ... बल्कि हर जगह ...ने पर चलता

यद्यपि सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से अकर्मण्य लोग बड़े लाभ में हैं, फिर भी वास्तव में नितान्त अकर्मण्य व्यक्ति तो, बीमारों को छोड़ कर, बहुत कम दिखाई देते हैं।

श्रमिक लोग प्रायः कहते हैं कि मध्यमवर्गी लोग अकर्मण्य है। ऐसे लोग भी अवश्य काफ़ी तादाद में हैं, फिर भी अपवाद-स्वरूप ही हैं। बल्कि प्रत्ये औद्योगिक कार्य में आप अवश्य एक-दो मध्यमवर्गी व्यक्तियों को देखेंगे जो बहुत काम करते हैं। यह तो सत्य है कि अधिकाश मध्यमवर्गी लोग अपने विशेषाधिकारों से लाभ उठाते हैं। वे अपने लिए बहुत कम अरुचि-कर कार्य पसंद करते हैं, स्वास्थकर वायु और स्वास्थ्यकर भोजन पा कर काम करते हैं, ताकि बिना थकावट उठाये अपना कार्य कर सकें। परन्तु यही सारी बातें तो हम अपने हर एक श्रमिक के लिए चाहते हैं।

यद्यपि अपनी ऊँची विशेष स्थिति के कारण धनाढ्य लोग समाज में बिलकुल अनुपयोगी, या हानिकर कार्य भी, करते हैं, फिर भी कहा जा सकता है कि, राज्य-मंत्री, महकमों के अध्यक्ष, कारखानों के स्वामी, व्या- ी, साहूकार, आदि लोग रोज़ कई घंटे काम करते हैं। इसमें उन्हें कुछ- के या माल थकावट भी मालूम पड़ती ही है, और अपने कर्तव्य-कार्य से छुट कर लेने देंगे। शत समय पाना उन्हें भी अच्छा लगता है। यद्यपि दस में से तक रोज़ चार या में हानिकर हैं, फिर भी वे सब हैं थकाने वाले ही। परन्तु लिए आवश्यक काम करके, भले ही (ज्ञात या अज्ञात रूप से) वह काम चाहो उसमें अ ी, और अपने विशेषधिकारों की रक्षा कर के ही तो, मध्यमवर्ग भी संगठित ज़मीन के मालिक जागीरदारों को पराजित कर पाया है, और हो। जो स सासन किया है और कर रहे है। यदि वे अकर्मण्य होते तो कज्ञा या ि स्तित्व भी कभी का मिट गया होता। वे सरदारों के वर्ग की कर सको मट गये होते। जिस समाज में रुचिकर और स्वास्थ्यकर काम रोज -चार या पाँच घंटे लिया जायगा, उस समाज में मध्यमवर्ग के यही लोग बड़ी अच्छी तरह काम करेंगे, और जिस भयंकर परिस्थिति में आज-कल

मनुष्य श्रम करते हैं उसका सुधार किये बिना वे उसको सहन न करेंगे। यदि लन्दन की ज़मीन की भीतर की मोरियों में हक्सले जैसा वैज्ञानिक पाँच छः घंटे का समय भी बिताय, तो विश्वास रखिये कि वह उन मोरियों को वैसे ही आरोग्य-सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने के उपाय निकाल लेगा, जैसी उसकी शरीर-रचना-शास्त्र की प्रयोगशाला थी।

अधिकांश श्रमिकों को आलसी कहना तो केवल बुद्धू अर्थशास्त्रियों का काम है।

यदि आप किसी चतुर कारख़ानेदार से पूछें तो वह आपको बतायगा कि यदि श्रमिक लोग सुस्ती करने का विचार मन में धार लें तो सारे कारख़ाने बन्द कर देने पड़ें। फिर तो कितनी भी सख़्ती की जाय और कितना ही निरीक्षण रक्खा जाय, सब व्यर्थ होगा। आपने देखा होगा कि सन् १८८७ में जब कुछ आन्दोलन-कारियों ने 'थोड़ा दाम, थोड़ा काम' के उसूल का प्रचार करना शुरू किया था, और यह सिखाना शुरू किया था कि 'मन लगा कर काम मत करो, ताक़त से ज़्यादा काम मत करो, और जितना बने उतना नुक़सान करो,' उस समय इंग्लैण्ड के कारख़ानेदारों में कितना आतङ्क छा गया था। जो लोग एक दिन पहले श्रमिकों को नीति भ्रष्ट कहते और उनके काम को बुरा बताया करते थे, वे ही फिर यह चिल्लाने लगे कि "ये आन्दोलनकारी श्रमिकों को नीति भ्रष्ट करते हैं और हमारे उद्योग-धन्धों को नष्ट कर डालना चाहते हैं।" परन्तु यदि श्रमिक लोग खुद ही सुस्त या आलसी होते, और केवल काम से निकाल दिये जाने की धमकी से काम करते, होते तो, जैसा कि उनके विषय में कहा जाता है, 'नीति-भ्रष्ट करते हैं' का क्या मतलब था?

इसलिए जब हम कहते हैं कि समाज में आलसी लोग भी हो सकते हैं, तो समझ रखना चाहिए कि यह सवाल अल्प-संख्यक आदमियों के संबंध में है। इस अल्प-संख्या के लिए कोई भी क़ानून बनाने से पहले यह बुद्धिमत्ता होगी कि हम इनके आलस्य के कारण का अध्ययन कर लें। विवेक

दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि जो लड़का स्कूल में सुस्त कहा जाता है, उसका कारण यह है कि उसको बुरे ढङ्ग से पढ़ाया जाता है और इसीलिए वह विषय को समझता नहीं। कभी-कभी संभवतः लड़के के मस्तिष्क में खून की कमी का रोग हो, जो दरिद्रता या अस्वास्थ्यकर शिक्षा के कारण होता है। जो लड़का संस्कृत या लेटिन के विषय में सुस्त होता है वह साइन्स में खूब चल निकलता है, विशेषकर जब उसे शारीरिक काम की सहायता से पढ़ाया जाय। जो लड़की गणित विषय में सुस्त होती है, उसे जब अकस्मात् कोई ऐसा समझानेवाला मिल जाता है, जो उसे गणित के उन मूल सिद्धान्तों को समझा देता है जो उसकी समझ में नहीं आये थे, तब वह अपने दर्जे की सब से तेज़ गणितज्ञ बन जाती है। एक श्रमिक, जो कारखाने में सुस्त रहता है, बड़े सवेरे उदय होते हुए सूर्य को देखता जाता है और अपने बग़ीचे में महनत से काम करता है, और रात्रि में जब सारी प्रकृति विश्राम करती है तब फिर काम करने लगता है।

किसी ने कहा है कि जो चीज़ अपने नियत स्थान पर नहीं होती उसी का नाम कचरा है। जो लोग सुस्त कहलाते हैं उनमें से दस में से नौ मनुष्यों की भी यही परिभाषा है। ये लोग भूलकर ऐसे रास्ते लग गए हैं जो उनके स्वभाव या योग्यता के अनुकूल नहीं है। महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने समय हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनमें से बहुतेरे सुस्त थे। वे तबतक सुस्त रहे जबतक उन्हें ठीक रास्ता नहीं मिला, और ठीक रास्ता मिलने पर घोर परिश्रमी बन गए। डारविन, स्टीफ़नसन आदि कई (आविष्कारक) लोग आलसियों की इसी श्रेणी के थे।

बहुधा सुस्त आदमी वही होता है जिसे यह पसन्द नहीं है कि वह सारे जीवन पिन का अठारहवाँ भाग या घड़ी का सौवाँ भाग ही बनाता रहे, और जो यह अनुभव करता है कि वह दूसरे ही किसी काम को बहुत अधिक शक्ति से कर सकेगा। वह यह नहीं चाहता कि वह तो जीवन भर

किसी कारखाने में मज़दूरी करता रहे, और उसका मालिक उसके कारण हज़ारों प्रकार के आनन्द उठाए। वह इतना मूर्ख भी नहीं है कि इस अन्याय को न समझता हो, पर वह जानता है कि उसका कुसूर इतना ही है कि उसने एक महल में जन्म न लेकर एक ग़रीब की कुटिया में जन्म लिया है। ऐसा आदमी भी प्राय. सुस्त होता है।

अन्ततः आलसियों की बहुत बड़ी संख्या तो इस कारण आलसी है कि जिस काम से वे पेट पालते हैं उसको पूर्णतः नहीं जानते। वे देखते हैं कि उनके हाथ से जो चीज़ बनती है वह त्रुटिपूर्ण ही बनती है या अच्छी नहीं बनती। वे अच्छी बनाने का प्रयत्न भी करते हैं, पर बना नहीं पाते। वे समझने लगते हैं कि जिस बुरे ढँग से उन्हें काम करने की आदत है उसके कारण वे कभी सफल नहीं हो सकते। तब अपने काम से घृणा करने लगते हैं। उन्हें दूसरा काम आता नहीं, इस कारण सभी कामों से घृणा करने लगते हैं। हज़ारों कारीगर और हज़ारों कलाकार, जो असफल निकलते हैं, इसी कारण असफल होते हैं।

परन्तु जिसने छोटी उम्र से ही बाजे को अच्छी तरह बजाना सीखा है, जिस मूर्तिकार ने छोटी अवस्था से ही अच्छी तरह मूर्ति घड़ना सीखा है, जिस नक्काशी की कला जाननेवाले ने बचपन से ही अच्छी तरह नक्काशी का काम सीखा है और जिसे विश्वास है कि वह जो काम करता है वह सुन्दर होता है, वह व्यक्ति अपने धन्धों को कभी नहीं छोड़ेगा। उसको अपने काम में आनन्द मिलता है और उस काम से वह थकता नहीं, जब-तक कि बहुत ही अधिक काम न करले।

आलस्य या सुस्ती, इस एक नाम में अनेकों भिन्न-भिन्न कारण सम्मिलित हैं। प्रत्येक कारण समाज के लिए हानिकारक नहीं, बल्कि उपयोगी, हो सकता है। जिस प्रकार अपराधों के अनेकों भिन्न-भिन्न कारण होते हैं, उसी प्रकार इस सुस्ती के विषय में भी ऐसे-ऐसे कारणों का संग्रह किया गया है जो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। लोग सुस्ती या

अपराध के विषय में बातें करते हैं, पर इनके कारणों का विश्लेषण करने का कष्ट नहीं उठाते। वे जल्दी से इन दोषों के लिए दण्ड दे देते हैं और यह जाँच नहीं करते कि दण्ड ही तो कहीं 'सुस्ती' या 'अपराध' बढ़ानेवाला नहीं है।*

इस कारण यदि किसी स्वाधीन समाज में आलसियों की संख्या बढ़ने लगेगी, तो वह समाज दण्ड देने के पहले आलस्य का कारण ढूँढेगा, ताकि वह कारण हटाया जाय। जैसा कि पहले उदाहरण दिया गया है, यदि न पढ़नेवाला बालक इसलिए सुस्त है कि उसे पाण्डु या रक्तन्यूनता का रोग है, तो उस बालक के दिमाग़ में साइन्स ठूँस कर भरने की आवश्यकता नहीं है। उसके शरीर को इस प्रकार पोषित कीजिए कि उसमें रक्त और शक्ति उत्पन्न हो। उसे देहात में या समुद्र-तट पर ले जाइए, ताकि उसका समय भी व्यर्थ नष्ट न होने पाय। वहाँ उसे किताबों से नहीं, किन्तु प्रकृति द्वारा ही पढ़ाइए। एक स्थान से दूसरे स्थान तक नाप कर या किसी पेड़ की ऊँचाई नाप कर रेखागणित सिखाइए, फूल तोड़ते समय या समुद्र में मछली पकड़ते समय प्रकृति विज्ञान सिखाइए, और जिस नाव में बैठ कर वह समुद्र में जायगा उस नाव को बनाते समय भौतिक-विज्ञान सिखाइए। परन्तु दया करके उसके दिमाग़ में साहित्यिक वाक्य और मृत-भाषाओं को मत ठूँसिए। उसको आलसी मत बनाइये!... ...

अथवा एक ऐसा बालक है, जिसमें न कोई व्यवस्था है, न उसकी आदतें नियमित हैं। बालक पहले तो अपने बीच में ही व्यवस्था की आदत डालें, फिर प्रयोगशाला और कारखाने में सीखें। थोड़ी जगह में जो काम किया जायगा, और जहाँ बहुत से औज़ार इधर-उधर बिखरे हुए होंगे, वहाँ यदि एक बुद्धिमान् शिक्षक भी बतानेवाला होगा, तो बच्चे काम करते हुए ही व्यवस्था सीख जायँगे। पर अपने स्कूलों की शिक्षा दे-दे कर उन

* लन्दन में १८८७ की छपी हुई मेरी पुस्तक 'In Russian and French Prisons' देखिए।

बालकों को अव्यवस्थित प्राणी मत बनाइए। आपके स्कूलों में सिवाय इसके कि एक-सी बेंचें व्यवस्था से रक्खी रहती हैं, और कौनसी व्यवस्था है? वे स्कूल तो वास्तव में शिक्षा की अव्यवस्था के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं। स्कूलों से तो कोई भी बालक काम की एक-समानता, सुसंगतता, और क्रमबद्धता कभी नहीं सीखता।

आपकी शिक्षा प्रणाली को कौन बनाता है? भिन्न भिन्न अस्सी लाख योग्यता रखनेवाले अस्सी लाख विद्यार्थियों के लिए शिक्षा मन्त्री का विभाग कोई प्रणाली बना देता है। मामूली दर्जे की शिक्षावालों की बनाई हुई यह प्रणाली मामूली दर्जे की शिक्षा ही तो दे सकती है। जिस तरह आपके कारागार अपराधों के कारखाने हैं, उसी तरह आपके स्कूल सुस्ती के कारखाने हैं। स्कूल को स्वतन्त्र बनाइए। आपके विश्वविद्यालय की डिग्रियों को मिटा दीजिए, और स्वेच्छापूर्वक पढ़ानेवालों का आह्वान कीजिए। सुस्ती को मिटाने के लिए क़ानून न बनाइए, क्योंकि उन क़ानूनों से तो सुस्ती बढ़ती है, बल्कि ऊपर बताए हुए प्रकार से काम कीजिए।

जो मज़दूर किसी चीज़ के एक छोटे से हिस्से को बनाने में ही अपना सारा जीवन लगाए रहना नहीं चाहता, जो श्रमिक अपनी छोटी-सी टेपिंग मशीन (हलकी चोट लगाने वाली मशीन) पर काम करते-करते घुट जाता है, और काम छोड़ देता है, उसे ज़मीन जीतने का मौक़ा दीजिए, जंगल में दरख्त काटने का काम दीजिए, तूफ़ानों में जहाज़ या किश्ती चलाने दीजिए, एंजिन चलाने का अवसर दीजिए, परन्तु किसी छोटी-सी मशीन चलाने, या स्क्रू का सिरा घिसने, या सुई के नाके में छेद करने, और उसी काम में सारी ज़िन्दगी बिता देने को मजबूर न कीजिए। इसीसे तो वह सुस्त बनता है।

सुस्ती का कारण मिटा दीजिए, और विश्वास रखिए कि फिर तो शायद ही ऐसे व्यक्ति रहें, जो श्रम करने से और विशेषतः स्वेच्छा-श्रम से घृणा करें। उनके लिए क़ानून की धाराएं घड़ने की ज़रूरत न पड़ेगी।

[१३]

समष्टिवादियों की वेतन-प्रथा

१

समष्टिवादी (Collectivist) दल के साम्यवादियों ने समाज की नवीन रचना के लिए जो योजना बनाई है उसमें, हमारी राय में, दो ग़लतियाँ हैं। वे कहते हैं कि पूँजीवादी शासन को मिटा देना चाहिए; पर वे दो बातों को क़ायम रखना चाहते हैं। एक प्रतिनिधि-सत्तात्मक सरकार और दूसरी वेतन या मजदूरी की प्रथा। वास्तव में ये ही दोनों बातें तो पूँजीवादी शासन के आधार-स्तम्भ हैं।

प्रतिनिधि सत्तात्मक सरकार के विषय में हम कई बार विवेचन कर चुके हैं। फ्रांस में, इंग्लैण्ड में, जर्मनी में, और यूनाइटेड स्टेट्स में राष्ट्रीय या नगर शासन-सभाओं के इतने कुपरिणाम दृष्टिगोचर हुए हैं, और इतिहास से भी उनके विषय में इतनी शिक्षा मिल चुकी है, कि हमें तो आश्चर्य है कि क्यों समष्टिवादी दल के बुद्धिमान् आदमी अब भी प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन के पक्षपाती हैं।

प्रतिनिधि सत्तात्मक (Parliamentarian) शासन तो टूटता जा रहा है, और सब तरफ़ से उस पर कड़ी समालोचना हो रही है। उसके परिणामों पर ही नहीं, उसके सिद्धान्तों पर भी समालोचना होती है। फिर भी, मालूम नहीं क्यों, क्रान्तिकारी साम्यवादी उसकी म्रियमाण प्रणाली का समर्थन करते हैं!

प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन मध्यम-वर्ग के लोगों ने इसलिए बनाया है कि वे राजा के अधिकारों के सामने खड़े रह सकें, और श्रमिकों के ऊपर अपनी सत्ता कानूनन जायज़ बना सकें तथा दृढ़ कर सकें। इसलिए पार्लमेण्ट-शासन मुख्यतः मध्यमवर्गीय शासन है। इस शासन-प्रणाली के समर्थकों ने हृदय से इस बात को कभी नहीं माना कि पार्लमेण्ट या म्युनिसिपिल कौंसिल राष्ट्र या नगर की प्रतिनिधि है। उनके अधिक-से-अधिक बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि यह बात असम्भव है। मध्यमवर्ग के लोगों ने पार्लमेण्ट-शासन को इस बात के लिए अपनाया है कि वे राजा के झूठे अधिकारों के विरुद्ध एक रक्षात्मक अड्डा खड़ा कर सकें और जनता को भी स्वतन्त्रता न दें। परन्तु क्रमशः ज्यों-ज्यों सर्वसाधारण अपने लाभ को समझने लगे हैं, त्यों त्यों यह शासन-प्रणाली अव्यवहार्य होती जा रही है। इसीलिए सब देशों के प्रजातन्त्रवादियों ने इसके दोषों को कम करने के कई उपाय सोचे, परन्तु वे सब व्यर्थ हैं। रिफ़रेण्डम (Referendum)* की प्रणाली प्रयोग में लाई गई और असफल हुई। संख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व देने (Proportional representation) और अल्पसंख्यकों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व देने की तजवीज़ें भी हो चुकीं, और इसी प्रकार की अन्य पार्लमेण्ट प्रणालियाँ सोची गईं। संक्षेपतः वे असंभव

---

*स्विटज़रलैण्ड में प्राय और यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका), आस्ट्रेलिया और फ्रान्स में भी अंशत ऐसा होता है कि जब व्यवस्थापिका सभा चाहती है कि अमुक प्रस्तावित विधान पर आम जनता की राय ली जाय तो वह सारे निर्वाचकों से सम्मति लेती है, और निर्वाचक अपनी सम्मति देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के बनाए हुए विधान को गिराने के लिए अपनी राय देती है। उस समय सब निर्वाचक अपना अपना वोट व्यवस्थापिका-सभा के किसी विधान या कृत्य के विरुद्ध देते हैं। यह प्रणाली रिफ़रेण्डम-प्रणाली कहलाती है।

बात को ढूँढने का प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक नये प्रयोग के पश्चात् उसकी असफलता उन्हें माननी पड़ती है। फलत. प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन में लोगों का विश्वास दिन-दिन कम होता जा रहा है।

मज़दूरी-प्रथा के विषय में भी यही बात है। जब एक बार सब प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति हट जायगी और उत्पत्ति के साधनों पर सब के अधिकार की घोषणा हो जायगी, तो मज़दूरी प्रथा किसी भी रूप में न रह सकेगी। परन्तु समष्टिवादी दल यही करना चाहता है। वह चाहता है कि राज्य ही सब श्रमिकों से काम लेनेवाला रहे, और श्रम के बदले में लेबर-चेक * दिये जायँ।

राबर्ट ओवेन के समय से इंग्लैण्ड के प्रारंभिक साम्यवादी लेबर-चेक की प्रणाली को क्यों मानने लगे, यह समझना सरल है। उन्होंने सिर्फ़ पूँजीपतियों और श्रमिकों में समझौता कराने की चेष्टा की। उन्होंने क्रान्ति करके पूँजीपतियों की सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करने की बात का खण्डन किया।

बाद में प्राउढन ने भी यही विचार ग्रहण किया। अपनी परस्पर वादी (Mutualist) प्रणाली में वह व्यक्तिगत सम्पत्त को तो रखना चाहता था, पर इस रूप में कि वह लोगों को बुरी न लगे। वह पूँजीवाद से हृदय से घृणा करता था पर उसने उसे इसलिए क़ायम रक्खा कि ऐसा करने से व्यक्ति राज्य से बचा रहे।

बहुत से अर्थशास्त्री भी ऐसे हैं, जो कुछ-न-कुछ मध्यमवर्गी तो हैं, पर लेबर—चेक के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे इसकी चिन्ता नहीं करते कि मजदूर को ऐसे लेबर-नोट दिये जायँ जिन पर प्रजातन्त्र या साम्राज्य की मुहर हो, या ऐसे सिक्के दिये जायँ जिन पर प्रजातन्त्र या

---

* लेबर चेकों का अधिक परिचय इसी परिच्छेद के दूसरे अंक में देखिए।

सम्राज्य की छाप हो। वे मकान, ज़मीन और कारखानों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा ज़रूर करना चाहते हैं; और कम-से कम मकानों की और उद्योग धन्धों में काम आनेवाली पूँजी की तो रक्षा करना ही चाहते हैं। लेबर-नोट का सिद्धान्त इस व्यक्तिगत सम्पत्ति के समर्थन का उद्देश्य पूरा कर ही देता है।

जब तक लेबर-नोट दे कर आभूषण या बग्घियाँ मिल सकेंगी तब तक तो मकान मालिक किराये में लेबर-नोट भी खुशी से ले लेगा। और, जब तक मकान, खेत और कारखाने लोगों के व्यक्तिगत हैं, तब तक तो उन खेतों और कारखानों पर काम करने और मकानों में रहने के बदले में मालिक को किसी न किसी प्रकार कुछ-न कुछ अवश्य देना ही पड़ेगा। जब तक सोने, नोट या चेक से सब प्रकार की चीज़ें खरीदी जा सकेंगी, तब तक तो मालिक सोना या नोट या चेक, कुछ भी लेने को तैयार हो जायँगे, केवल शर्त यह है कि श्रम पर कर लगा रहना चाहिए और उस कर के लगाने का हक़ मालिकों को होना चाहिए। परन्तु हम लेबर-नोट की प्रणाली का समर्थन कैसे कर सकते हैं? वह तो मज़दूरी प्रणाली का ही नया रूप है; और हम तो यह मानते हैं कि मकान, खेत और कारखाने व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहेंगे; बल्कि सारी पंचायत या राष्ट्र के होंगे।

२

फ़्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड और इटली के समष्टिवादी लोग श्रमिकों को मज़दूरी में लेबर-चेक देने के इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। स्पेन के अराजक साम्यवादी अब तक अपने को समष्टिवादी ही कहते हैं। समष्टिवादी से उनका अर्थ यह है कि उत्पत्ति के साधनों पर तो सब का सामान्य अधिकार हो और उत्पत्ति को आपस में बाट लेने की प्रत्येक समुदाय को स्वतन्त्रता हो; फिर वह बँटवारा चाहे वे समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार करें अथवा और किसी सिद्धान्त के अनुसार। हम इस प्रणाली का सूक्ष्म विवेचन करेंगे।

समष्टिवाद का सिद्धान्त निम्नलिखित है। प्रत्येक व्यक्ति खेत, कारखाने, स्कूल, अस्पताल आदि में श्रम करता है। सारी ज़मीन, सब कारखाने और सड़कें आदि राज्य की सम्पत्ति है, और राज्य ही श्रम-दिवस निश्चित करता है। एक श्रम दिवस की मज़दूरी के बदले में एक लेबर चेक दिया जाता है, जिस पर लिखा होता है, 'आठ घंटे का श्रम'। इस चेक से श्रमकर्त्ता राजकीय भण्डारों में से या विविध व्यापार संघों से सब सामान प्राप्त कर सकता है। रुपये की भाँति इस चेक के अनेक टुकड़े हो सकते हैं। इसलिए आप एक घंटे के श्रम का आटा, दस मिनट के श्रम के मूल्य की दियासलाई या आधे घंटे के श्रम के मूल्य की तम्बाकू खरीद सकते हैं। जब समष्टिवादी क्रान्ति हो जायगी तब हम "दो आने मूल्य का साबुन" न कहेंगे, बल्कि "पांच-मिनट श्रम के मूल्य का साबुन" कहेंगे।

मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियों ने (मार्क्स ने भी) श्रम के दो विभाग किये हैं। एक पेचीदा श्रम, और दूसरा सादा श्रम। अधिकांश समष्टिवादी इस श्रम विभाग पर श्रद्धा रखते हुए इतना और कहते हैं कि पेचीदा श्रम या किसी विशेष धंधे का वेतन सादे श्रम की अपेक्षा कुछ-न कुछ अधिक होना चाहिए। उदाहरण के लिए डाक्टर के एक घंटे का काम अस्पताल की परिचारिका (नर्स) के दो या तीन घंटे के काम के बराबर अथवा साधारण मजदूर के तीन या पाँच घंटे के काम के बराबर समझना चाहिए। समष्टिवादी लेखक ग्रोनलैण्ड कहता है कि "विशेष धंधे का श्रम या पेचीदा श्रम साधारण श्रम से कुछ गुना अधिक माना जायगा, क्योंकि प्रथम प्रकार के श्रम में थोड़ा बहुत काल काम सीखने में लगाना आवश्यक होता है।"

फ्रान्सीसी साम्यवादी जेस्डे जैसे कुछ समष्टिवादी लोग इस भेद को नहीं मानते। वे "समान वेतन" की घोषणा करते हैं। उनके मतानुसार जिस हिसाब से एक मामूली श्रमिक को वेतन मिलेगा, उसी हिसाब से

डाक्टर, पाठशाला के अध्यापक और प्रोफेसर को भी (लेबर-चेकों द्वारा) मिलेगा। अस्पताल में आठ घंटे बीमारों की देख-भाल करना या आठ घंटे मिट्टी खोदना, खान खोदना या कारखाने में मेहनत करना बराबर होगा।

कुछ लोग इससे भी अधिक रिआयत करते हैं। वे मानते हैं कि अरुचिकर या अस्वास्थ्यकर काम का वेतन रुचिकर काम की अपेक्षा अधिक दिया जा सकता है। जैसे ज़मीन के भीतर की गन्दी मोरियों का काम। उनका कहना है कि मोरी साफ़ करने वाले के एक घंटे का श्रम प्रोफ़ेसर के दो घंटे के श्रम के बराबर माना जायगा।

हम यह भी कह देना चाहते हैं कि कुछ समष्टिवादी लोग मानते हैं कि विशेष विशेष व्यवसायों के संघों को उनके काम के बदले में अनुमान से कुछ निश्चित मूल्य दे देना चाहिए। उदाहरणार्थ एक व्यवसाय-संघ यह कहे कि "यह लो सौ टन लोहा! सौ श्रमिक इसकी उत्पत्ति में लगे, और उन्होंने इसे दस दिन में उत्पन्न किया। उनका श्रम-दिवस आठ घंटे का था, अतः उन्होंने इस लोहे को आठ हजार श्रम घण्टों में उत्पन्न किया। अर्थात् एक टन में आठ घंटे लगे।" इस काम के लिए राज्य उन्हें एक-एक घंटे के आठ हजार लेबर नोट दे देगा और लोहे के व्यवसाय के श्रमिक उनको जैसा उचित समझेंगे आपस में बांट लेंगे।

इसी प्रकार सौ खनिक आठ हजार टन कोयला बीस दिन में खोद लेते हैं, तो एक टन कोयले का मूल्य दो घंटे का श्रम हुआ। राज्य खनिकों के संघ को एक-एक घंटे के सोलह हजार लेबर-नोट दे देगा और वे सब उन नोटों को जिसका कार्य जितना मूल्यवान समझा जायगा उसी प्रकार से परस्पर बांट लेंगे।

यदि इसमें झगड़ा हुआ और खनिक यह कहने लगे कि लोहे का मूल्य प्रति टन आठ घंटे का श्रम नहीं किन्तु छः घण्टे का श्रम होना चाहिए; यदि प्रोफ़ेसर कहे कि मेरे दिन का मूल्य परिचारिका के दिन के

मूल्य से चौगुना होना चाहिए, तो राज्य बीच-बचाव करेगा और उनका झगड़ा निपटायगा।

संक्षेप में यही वह संगठन है जिसको समष्टिवादी दल के अनुयायी साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा समाज में स्थापित करना चाहते हैं। उनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं—उत्पत्ति के साधनों पर सब का सामूहिक स्वामित्व हो; प्रत्येक को उतना ही वेतन दिया जाय जितना समय उसने उत्पत्ति में लगाया हो, साथ ही यह भी ध्यान रखा जावे कि उसकी उत्पत्ति किस प्रकार की है। राजनैतिक प्रणाली प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन के ढग की होगी। उसमें इतना सुधार होगा कि जो लोग प्रतिनिधि चुने जायँगे उन्हें विशेष निश्चित्त हिदायतें दी जायँगी और 'रिफ़रेन्डम' प्रणाली प्रचलित की जायगी, अर्थात् ' हां ' या ' ना ' के रूप में ही राष्ट्र के वोट लिए जायँगे।

हमें कहना पड़ेगा कि यह प्रणाली हमको बिलकुल अव्यवहार्य जान पड़ती है।

समष्टिवादी पहले तो एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा करते हैं, अर्थात् कहते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए, और घोषणा करने के साथ ही उसका खण्डन भी कर डालते हैं। अर्थात् वे उत्पत्ति और खपत के उस संगठन का समर्थन करते हैं जो व्यक्तिगत सम्पत्ति से उत्पन्न हुआ है।

वे क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा तो करते हैं परन्तु उन परिणामों को भुला देते हैं जिनका उस सिद्धान्त के द्वारा होना अनिवार्य है। श्रम करने के साधनों—ज़मीन, कारख़ाने, सड़कें, पूँजी—पर से जब व्यक्ति का स्वामित्व मिट जायगा तब समाज का प्रवाह बिलकुल नई धाराओं में हो जायगा; उस समय उत्पत्ति की वर्तमान प्रणाली लक्ष्य और साधन दोनों में बिलकुल बदल जायगी; और ज्यों ही भूमि, मशीनरी और उत्पत्ति के अन्य सब साधन सबकी सामान्य सम्पत्ति माने जायँगे त्यों ही व्यक्तियों का दैनिक पारस्परिक सम्बन्ध दूसरा ही हो जायगा।

वे मुँह से तो कहते हैं कि "व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए" परन्तु दैनिक व्यवहार में व्यक्तिगत सम्पत्ति को क़ायम रखने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि "उत्पत्ति के विषय में तो तुम्हारा संगठन साम्यवादी संगठन होगा। खेत, औजार, मशीनरी और आज तक के सारे आविष्कार—कारखाने, रेलवे, बन्दरगाह, खानें आदि—सब तुम्हारे हैं। इस सम्मिलित सम्पत्ति में प्रत्येक के हिस्से में भेद-भाव बिलकुल न किया जायगा।

"परन्तु आगे से तुम बड़ी सावधानी से इसपर विचार कर लेना कि नई मशीनें बनाने और नई खानें खोदने में तुम कितना कितना भाग लोगे। आगे तुम बड़े ध्यान से हिसाब लगा लेना कि नई उत्पत्ति में से तुम्हारी उत्पत्ति कितनी है। तुम अपने श्रम के मिनिटों को गिन लेना और ध्यान रखना कि तुम्हारे पड़ौसी के मिनिट का मूल्य तुम्हारे मिनिट से ज़्यादा न हो जय।

"परन्तु घंटे का हिसाब क्या? किसी कारख़ाने में तो बुन कर एक साथ छः-छः कर्घे चला लेता है; किसी में दो कर्घे ही चलाता है। इसलिए तुम इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी कितनी शारीरिक शक्ति, कितनी मस्तिष्क-शक्ति और कितनी जीवन-शक्ति व्यय हुई है। भविष्य की उत्पत्ति में प्रत्येक के श्रम का मूल्य कितना कितना होगा इसका ठीक ठीक हिसाब लगाने के लिए तुम हिसाब रखना कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपना-अपना काम सीखने में कितने-कितने वर्ष व्यय किये हैं। यह हिसाब तो साम्यवादी क्रान्ति होने के बाद रक्खा जायगा, परन्तु यह घोषित किया जायगा कि जो उत्पत्ति क्रान्ति से पहले हो चुकी है उसके विषय में प्रत्येक व्यक्ति के पृथक्-पृथक् भाग का विचार न किया जायगा।"

हम तो साफ़ तौर पर इस बात को जानते हैं कि कोई भी समाज दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों पर आधारित नहीं रह सकता और यदि किसी राष्ट्र या ग्राम-समूह का ऐसा संगठन बनेगा, तो, या तो उस राष्ट्र या ग्राम-समूह को मजबूरन् उत्पत्ति के साधनों के सम्बन्ध में व्यक्तिगत स्वामित्व

के सिद्धान्त की ओर लौटना पड़ेगा या उसे पूर्ण समाजवादी ही बनना पड़ेगा।

३

यह पहले कहा जा चुका है कि कुछ समष्टिवादी लोगों का कथन है कि पेचीदा श्रम या विशेष व्यवसाय और सादे श्रम के बीच भेद अवश्य रखना चाहिए। उनका खयाल है कि एक इंजीनियर या डाक्टर के एक घंटे का काम एक लुहार, बढ़ई या परिचारिका के दो या तीन घंटे के काम के बराबर समझा जाना चाहिए। और ऐसा ही भेद किसी मामूली मजदूर के काम में और उस व्यवसाय के काम में होना चाहिए जिसमें सीखने के लिये कुछ समय की ज़रूरत होती है।

लेकिन ऐसा भेद क़ायम करने के लिए तो वर्तमान समाज की सारी असमानतायें कायम रखनी पड़ेंगी। इसका मतलब यह होगा कि शुरू से ही श्रमिकों पर शासन करने वालों का भेद भी क़ायम रखना पड़ेगा। इसके लिए समाज को दो भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभाजित कर देना पड़ेगा। एक श्रेणी में शिक्षा-प्राप्त ऊँचे दर्जे के अमीर लोग होंगे और दूसरी श्रेणी में नीचे दर्जे के सब लोग होंगे। इस दूसरे वर्ग की क़िस्मत में यही होगा कि वह पहले वर्ग वालों की सेवा करे और स्वयं शारीरिक श्रम करके पहले वर्ग वालों को भोजन और वस्त्र दे; ताकि उन लोगों को अपना पालन पोषण करने वालों पर शासन करने की कला सीखने का अवकाश मिलता रहे।

इसका मतलब यह है कि वर्तमान समाज की मुख्य-मुख्य विशेषताओं को पुनर्जीवित भी कर दिया जाय और साथ साथ उन्हें साम्यवादी क्रान्ति के अनुकूल भी सिद्ध किया जाय। इसका मतलब यह है कि हमारे पतनशील पुराने समाज में जो दोष आज भी निन्दनीय समझे जाते हैं उन्हीं को सिद्धान्त का जामा पहना कर खड़ा किया जाय।

पर इसका उत्तर हमें मालूम है। हमारे कथन के जवाब में वे "वैज्ञानिक साम्यवाद" को समझायेंगे। वे मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियों और मार्क्स

के भी उद्धरण देंगे और यह सिद्ध करना चाहेंगे कि वेतन की अलग-अलग दर रखने का भी कारण-विशेष है। मसलन्, इंजीनियर को अधिक वेतन देने का कारण यह बतायँगे कि समाज को इंजीनियर की "श्रम-शक्ति" पैदा करने में मामूली मज़दूर की "श्रम-शक्ति" से अधिक लागत पड़ी है। वस्तुतः अर्थशास्त्रियों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इन्जीनियर को मज़दूर से बीस गुना वेतन इसलिए मिलता है कि एक व्यक्ति को इंजीनियर बनाने में जितनी पूँजी लगती है, वह एक व्यक्ति को मज़दूर बनाने के कार्य से अधिक होती है। मार्क्स ने भी यह माना है कि शारीरिक श्रम में भी यह भेद करना उचित है। परन्तु उसने तो रिकार्डो का 'मूल्य' विषयक सिद्धान्त पकड़ लिया, और यह मान लिया कि वस्तुओं के विनिमय का मूल्य उसी अनुपात से होता है, जिस अनुपात से उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए समाज को श्रम लगाना पड़ता है। इसीलिए वह ग़लत परिणाम पर पहुँचा।

परन्तु यह उत्तर भ्रामक है। हम जानते हैं कि आज इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और डाक्टरों को मजदूर से जो दस गुना या सौ गुना वेतन मिलता है और मिल में कपड़ा बुनने वाले को जो खेत के मजदूर से तिगुना या दियासलाई के कारखाने की मज़दूरनी से दस गुना वेतन मिलता है, इसका कारण यह नहीं है कि उनको तैयार करने में समाज की लागत ज्यादा लगी है। परन्तु कारण यह है कि उन्होंने शिक्षा या उद्योग धंधों पर एकाधिकार जमा रक्खा है। जिस प्रकार मध्यमवर्ग का कारखानेदार अपने कारखाने से स्वार्थ-साधन करता है, जिस प्रकार सरदार लोग अपने सरदार पद से स्वार्थ-साधन करते हैं, उसी प्रकार इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता अथवा डाक्टर लोग अपनी पूंजी—अर्थात् अपने प्रमाण पत्रों (diplomas) —से स्वार्थ-साधन करते हैं।

यदि कारखानेदार एक इंजीनियर को मज़दूर से बीस गुना वेतन देता है तो उसका कारण है उसका व्यक्तिगत स्वार्थ। यदि इंजीनियर कारखा-

नेदार को उत्पत्ति की लागत में ४००० की बचत कर दिखाता है, तो कारखानेदार उसे ८०० वेतन दे देता है; यदि कारखानेदार के यहाँ कोई ऐसा फ़ोरमेन है जो मजदूरों से खूब काम ले-ले कर चतुराई से काम में ४०० की बचत दिखलाता है, तो वह उसे खुशी से ८० या १२० का वेतन दे देता है। यदि उसे ४०० का लाभ होता नज़र आयगा, तो वह ४० और खर्च कर सकता है। यही पूंजीवादी प्रणाली का सार है। सब भिन्न भिन्न व्यवसायों में यही हिसाब है।

इसलिए समष्टिवादियों का यह कहना व्यर्थ है कि पेचीदा श्रम का मूल्य इसलिए अधिक है कि उसकी "उत्पत्ति पर व्यय" अधिक हुआ है। उनका यह कहना भी व्यर्थ है कि एक खनिक के लड़के को, जो ग्यारह वर्ष की उम्र से कोयले की खान में काम करते-करते पीला पड़ गया है, मामूली वेतन मिलना चाहिए, और एक विद्यार्थी को, जिसने बड़े आनन्द से विश्वविद्यालय में अपनी युवावस्था बिताई है, उससे दस गुना अधिक वेतन मिलने का हक है; अथवा खेत के मज़दूर की अपेक्षा मिल के बुनकर को तीन या चार गुना अधिक वेतन मिलने का हक है। किसान को किसानी का काम सिखाने में जो खर्चा लगा है, उसकी अपेक्षा बुनकर को बुनाई सिखाने में चार गुना खर्चा नहीं लगा है। बुनकर का वस्त्र-उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ा लाभ उठाता है। जिन देशों में उद्योग-धन्धे अभी तक नहीं हैं उन देशों में वस्त्र व्यापार बड़ा लाभ देता है। खेती के धन्धे की अपेक्षा तो उद्योग धन्धों को सब राज्यों की ओर से बहुत ही अधिक सुविधायें दी गई हैं। इन सब कारणों से ही बुनकर का वेतन अधिक होता है।

किसीने अभीतक उत्पत्ति करनेवाले की 'उत्पत्ति का खर्चा' नहीं निकाला। यह कहा जाता है कि एक अकर्मण्य सरदार को तैयार करने में एक श्रमकर्ता को तैयार करने की अपेक्षा समाज को अधिक खर्चा पड़ा है। परन्तु यह देखते हुए कि ग़रीब जनता में बहुत अधिक बाल-मृत्युयें,

पाण्डु रोग के प्रहार, और अकाल-मृत्युयें होती हैं, क्या एक कुशल कारी-गर की अपेक्षा एक स्वस्थ, तगड़े श्रमिक को बनाने में समाज का व्यय अधिक नहीं हुआ है ?

यदि पेरिस की एक मज़दूरनी को १५ पेंस मज़दूरी मिलती है, ऑवर्ने की कृषक-लड़की को, जो बेल का फ़ीता बनाते-बनाते अन्धी हो जाती है, ३ पेंस वेतन मिलता है, या एक खेत पर काम करनेवाले को २० पेंस वेतन मिलता है, तो क्या इस भेद का कारण यह है कि इसी अनुपात से इनकी 'उत्पत्ति का ख़र्चा' पड़ा है ? काम करनेवाले तो इससे भी सस्ती मज़दूरी पर मिल जायँगे, पर उसका एकमात्र कारण यही है कि यदि वे इतनी कम मजदूरी की दर स्वीकार न करें तो हमारे अद्भुत संगठन के कारण बेचारे भूखों ही मर जायँ ?

हमारे विचारानुसार वेतन की भिन्न-भिन्न दरों के कई मिश्रित कारण हैं—सरकारी टैक्स, राजकीय सहायता या संरक्षण, और पूँजीपतियों का एकाधिकार। संक्षेप में कह सकते हैं कि राज्य और व्यक्तिगत पूँजी के कारण मज़दूरी की दरें भिन्न भिन्न हैं। इसलिए हम कहते हैं कि जब वर्त-मान अन्यायों के समर्थन की आवश्यकता हुई, तभी मज़दूरी-सम्बन्धी सारे सिद्धान्त रचे गये, और इसी कारण हमें उन सिद्धान्तों को नहीं मानना चाहिए।

वे यह भी कहेंगे कि समष्टिवादियों की मजदूरी प्रणाली अधिक उन्नत प्रणाली है। वे कहते हैं कि "जब आज कल राज्य के एक मन्त्री का एक दिन का वेतन मजदूर के एक वर्ष के वेतन से अधिक है, तो क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि कुछ विशेष कारीगर साधारण मजदूर से दो या तीन गुना अधिक वेतन पायँ ? समानता की दिशा में यह भी कितनी बड़ी प्रगति है !"

हम तो इस प्रगति को अधोगति समझते हैं। नये समाज में पेचीदा और सादे श्रम का भेद करना अनुचित है। इसका तात्पर्य यह होगा कि

जिस घातक बात को हम आज कल मजबूरन मानते हैं, परन्तु समझते अन्यायपूर्ण हैं, उसी बात को हम क्रान्ति में सिद्धान्त मानने लगेंगे और उसी को प्रचलित कर देंगे। यह तो वही बात हुई, जो सन् १७८९ में फ्रान्स में हुई थी। ४ अगस्त को फ्रान्स की व्यवस्थापक सभा ने जागीरदारी हक मिटा दिये और ८ अगस्त को फिर वही हक़ प्रमाणित कर दिये, और यह विधान बनाया कि किसानों को जागीरदारों की क्षति-पूर्ति की रक़म देनी पड़ेगी। इतना ही नहीं, क्रान्ति ने उन रक़मों की रक्षा का भार भी ले लिया। रूस की सरकार ने भी ऐसा ही किया था। उसने दासों की मुक्ति के समय घोषणा की थी कि कुछ भूमि, जो पहले हलवाहों की समझी जाती थी वह आगे भूमिपतियों की समझी जायगी।

अथवा एक अधिक प्रसिद्ध उदाहरण लेना चाहिए। १८७१ की क्रान्ति के अवसर पर पेरिस में जो पंचायत (कम्यून) क़ायम हुई थी उसने यह तय किया था कि कौन्सिल के सदस्यों को रोज़ाना १२॥ शिलिंग वेतन मिलेगा और शहर की रक्षा के लिए लड़नेवाले मामूली व्यक्ति को रोज़ाना १॥ शिलिंग वेतन मिलेगा। उस समय यह निर्णय महान् प्रजातान्त्रिक समानता का कार्य समझा गया। वास्तव में पंचायत ने अधिकारी और सैनिक, शासक सरकार और शासित जनता, की पुरानी असमानता का ही समर्थन किया था। स्वार्थ साधक प्रतिनिधियों की शासन-सभा द्वारा किया हुआ यह निर्णय भले ही प्रशंसनीय मालूम पड़े, परन्तु पंचायत अपने ही सिद्धान्तों को कार्य रूप में न ला सकी और उसने उनको मिट्टी में मिला दिया।

समाज के वर्तमान संगठन में राज्य मंत्री को हर साल ४००० पौण्ड मिलता है और श्रमकर्त्ता को ४० पौण्ड या इससे भी कम पर सन्तोष करना पड़ता है। कारख़ाने के फ़ोरमेन को साधारण काम करनेवाले से दुगुना या तिगुना मिलता है। मज़दूरों में भी ३ पेंस (३ आने) से ८ शिलिंग (५॥ रुपया) रोजाना तक की मज़दूरी की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ हैं।

पाण्डु रोग के प्रहार, और अकाल-मृत्युयें होती हैं, क्या एक कुशल कारीगर की अपेक्षा एक स्वस्थ, तगड़े श्रमिक को बनाने में समाज का व्यय अधिक नहीं हुआ है ?

यदि पेरिस की एक मज़दूरनी को १५ पेंस मज़दूरी मिलती है, ऑवर्न की कृषक-लड़की को, जो वेल का फ़ीता बनाते-बनाते अन्धी हो जाती है, ३ पेंस वेतन मिलता है, या एक खेत पर काम करनेवाले को २० पेंस वेतन मिलता है, तो क्या इस भेद का कारण यह है कि इसी अनुपात से इनकी 'उत्पत्ति का ख़र्चा' पड़ा है ? काम करनेवाले तो इससे भी सस्ती मज़दूरी पर मिल जायँगे, पर उसका एकमात्र कारण यही है कि यदि वे इतनी कम मजदूरी की दर स्वीकार न करें तो हमारे अद्भुत संगठन के कारण बेचारे भूखों ही मर जायँ ?

हमारे विचारानुसार वेतन की भिन्न-भिन्न दरों के कई मिश्रित कारण हैं—सरकारी टैक्स, राजकीय सहायता या संरक्षण, और पूँजीपतियों का एकाधिकार। संक्षेप में कह सकते हैं कि राज्य और व्यक्तिगत पूँजी के कारण मजदूरी की दरें भिन्न भिन्न हैं। इसलिए हम कहते हैं कि जब वर्तमान अन्यायों के समर्थन की आवश्यकता हुई, तभी मज़दूरी-सम्बन्धी सारे सिद्धान्त रचे गये, और इसी कारण हमें उन सिद्धान्तों को नहीं मानना चाहिए।

वे यह भी कहेंगे कि समष्टिवादियों की मज़दूरी प्रणाली अधिक उत्तम प्रणाली है। वे कहते हैं कि "जब आज कल राज्य के एक मन्त्री का एक दिन का वेतन मजदूर के एक वर्ष के वेतन से अधिक है, तो क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि कुछ विशेष कारीगर साधारण मजदूर से दो या तीन गुना अधिक वेतन पायँ ? समानता की दिशा में यह भी कितनी बड़ी प्रगति है !"

हम तो इस प्रगति को अधोगति समझते हैं। नये समाज में पेचीदा और सादे श्रम का भेद करना अनुचित है। इसका तात्पर्य यह होगा कि

जिस घातक बात को हम आज-कल मजबूरन मानते हैं, परन्तु समझते अन्यायपूर्ण हैं, उसी बात को हम क्रान्ति में सिद्धान्त मानने लगेंगे और उसी को प्रचलित कर देंगे। यह तो वही बात हुई, जो सन् १७८९ में फ्रान्स में हुई थी। ४ अगस्त को फ्रान्स की व्यवस्थापक सभा ने जागीरदारी हक़ मिटा दिये और ८ अगस्त को फिर वही हक़ प्रमाणित कर दिये, और यह विधान बनाया कि किसानों को जागीरदारों की क्षति-पूर्ति की रक़म देनी पड़ेगी। इतना ही नहीं, क्रान्ति ने उन रक़मों की रक्षा का भार भी ले लिया। रूस की सरकार ने भी ऐसा ही किया था। उसने दासों की मुक्ति के समय घोषणा की थी कि कुछ भूमि, जो पहले हलवाहों की समझी जाती थी वह आगे भूमिपतियों की समझी जायगी।

अथवा एक अधिक प्रसिद्ध उदाहरण लेना चाहिए। १८७१ की क्रान्ति के अवसर पर पेरिस में जो पंचायत (कम्यून) क़ायम हुई थी उसने यह तय किया था कि कौन्सिल के सदस्यों को रोज़ाना १२॥ शिलिंग वेतन मिलेगा और शहर की रक्षा के लिए लड़नेवाले मामूली व्यक्ति को रोज़ाना १। शिलिंग वेतन मिलेगा। उस समय यह निर्णय महान् प्रजातान्त्रिक समानता का कार्य समझा गया। वास्तव में पंचायत ने अधिकारी और सैनिक, शासक सरकार और शासित जनता, की पुरानी असमानता का ही समर्थन किया था। स्वार्थ साधक प्रतिनिधियों की शासन-सभा द्वारा किया हुआ यह निर्णय भले ही प्रशंसनीय मालूम पड़े, परन्तु पंचायत अपने ही सिद्धान्तों को कार्य रूप में न ला सकी और उसने उनको मिट्टी में मिला दिया।

समाज के वर्तमान संगठन में राज्य मंत्री को हर साल ४००० पौण्ड मिलता है और श्रमकर्त्ता को ४० पौण्ड या इससे भी कम पर सन्तोष करना पड़ता है। कारख़ाने के फ़ोरमेन को साधारण काम करनेवाले से दुगुना या तिगुना मिलता है। मज़दूरों में भी ३ पेंस (३ आने) से ८ शिलिंग (५॥ रुपया) रोज़ाना तक की मज़दूरी की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ हैं।

हम मन्त्री के ऊँचे वेतन के विरोधी हैं; और उतने ही विरोधी हम ८ शिलिंग और ३ पेंस के भेद के भी हैं। हमारा कथन तो यह है कि "शिक्षा द्वारा प्राप्त विशेषाधिकारों का भी नाश हो, और जन्मगत विशेषाधिकारों का भी नाश हो!" इन विशेषाधिकारों ने हमें विद्रोही बना दिया है। इसीलिए तो हम अराजक साम्यवादी बने हैं।

राज्यसत्ता के हामी वर्तमान समाज में ही हम जब इन विशेषाधिकारों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं, तो जो समाज समानता को घोषित करके बनेगा क्या उसमें हम उनको बरदाश्त कर लेंगे?

यही कारण है कि कुछ समष्टिवादी, यह जानकर कि क्रान्ति की भावना से पावन हुए समाज में मज़दूरी की भिन्न-भिन्न दरें क़ायम रखना असम्भव है, कहते हैं कि सबको बराबर-बराबर मजदूरी मिलेगी। परन्तु यहाँ भी उन्हें नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। और, जिस प्रकार दूसरे समष्टिवादियों का भिन्न-भिन्न मज़दूरी का सिद्धान्त अव्यवहार्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार यह समान-मज़दूरी का उसूल भी ख़याली पुलाव साबित होता है।

जो समाज समस्त सामाजिक सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा कर लेगा, उस सम्पत्ति पर सब के समान हक़ की साहस-पूर्ण घोषणा कर देगा—इसका ध्यान नहीं रक्खेगा कि उस सम्पत्ति की उत्पत्ति में किसका कितना-कितना भाग रहा है—उस समाज को मजबूरन सब प्रकार की मज़दूरी-प्रणाली छोड़नी पड़ेगी। न वह सिक्के का चलन जारी रक्खेगा, न 'लेबर नोट' का।

४

समष्टिवादी कहते हैं कि "जितना करे, उतना भरे।" दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि समाज की सेवाओं में जिसका जितना भाग है उसको उतना ही मिले।

वे चाहते हैं कि ज्योंही साम्यवादी क्रान्ति हो और उत्पत्ति के साधन सार्वजनिक सम्पत्ति बन जायँ, त्योंही इस सिद्धान्त को काम में लाया जाय। परन्तु हमारा विचार है कि यदि साम्यवादी क्रान्ति ने दुर्भाग्य से इस सिद्धान्त को माना, तो उसका अवश्य नाश हो जायगा। पिछली शताब्दियों से समाज का प्रश्न बग़ैर हल हुआ सा पड़ा है। वह आगे भी वैसा ही पड़ा रहेगा।

हमारे आधुनिक समाज में आदमी जितना ही अधिक काम करता है, उतना ही कम वेतन पाता है। ऐसे समाज में तो उक्त सिद्धान्त न्यायोचित सा प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में वह अन्याय को चिर-स्थायी बनानेवाला है। उक्त सिद्धान्त का सहारा लेकर ही मजदूरी प्रथा का प्रारम्भ हुआ था, और उसका अन्त हुआ घोर असमानताओं और समाज के सारे वर्तमान घृणित दोषों में। जिस क्षण से काम का मूल्य सिक्कों में या मज़दूरी के किसी रूप में गिना जाने लगा, जिस दिन से यह माना गया कि आदमी जितना वेतन प्राप्त कर सकेगा उतना ही उसको मिलेगा, अधिक कुछ नहीं मिलेगा, उसी दिन राज्य की सहायता पानेवाले पूँजीवादी समाज का सारा इतिहास मानों लिखा जा चुका था। वह इतिहास इस सिद्धान्त में बीजरूप से मौजूद था।

तब फिर क्या हमारे लिए यह उचित है कि हम उसी स्थान पर फिर पहुँच जायँ, जहाँ से हम चले थे, और विकास की उन सारी घटनाओं को फिर दुहरायँ? ये सिद्धान्तवादी तो ऐसा ही चाहते हैं; परन्तु यह है असम्भव। हमारा मत है कि क्रान्ति साम्यवादी क्रान्ति ही होनी चाहिए। यदि वह ऐसी न होगी, तो रक्तपात के बाद वह नष्ट हो जायगी, और उसके लिए फिर नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ेगा।

समाज के प्रति जो सेवायें की जाती हैं—चाहे वे कारखानों और खेतों में किये गये श्रम के रूप में हों, चाहे मानसिक सेवायें हों, उनका मूल्य रुपयों में नहीं गिना जा सकता। उत्पत्ति के रूप में मूल्य की गणना

का कोई ठीक नाप नहीं हो सकता (जिसको श्रम से विनिमय-मूल्य कहा जाता है), और न उसका व्यवहार मूल्य हो सकता है। यदि दो व्यक्ति वर्षों तक समाज के लिए रोज पाँच घटे भिन्न-भिन्न काम करते हैं, जो दोनों की अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार हैं, तो हम कह सकते हैं कि सब मिलाकर दोनों का श्रम प्राय. बराबर है। परन्तु हम उनके काम के टुकड़े नहीं कर सकते, और न यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति के अमुक दिन, घंटे या मिनट के काम का मूल्य दूसरे व्यक्ति के अमुक दिन, घंटे या मिनट के काम के बराबर है।

मोटे हिसाब से हम यह कह सकते हैं कि समाज में जिस व्यक्ति ने अपने आराम के वक्त में से रोज़ दस घंटे निकाल कर काम किया है, उसने उस व्यक्ति से बहुत ज़्यादा काम किया है जिसने अपने आराम के वक्त में से काम के लिए दिन में पांच घंटे ही दिये हैं, या कुछ भी नहीं दिया। परन्तु हम उसके दो घटे के काम को लेकर यह नहीं कह सकते कि उसके दो घंटे का काम दूसरे व्यक्ति के एक घंटे के काम के मूल्य के बराबर है, और उसी हिसाब से उसको वेतन भी मिलना चाहिए। इस प्रकार तो हम इस बात को भुला देंगे कि उद्योग-धर्धों में, खेती में, और वर्तमान समाज के सारे जीवन में ही आज गहन पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। इस प्रकार के कथन से हम इस बात को भी भुला देंगे कि बहुत अंश तक व्यक्ति का काम सम्पूर्ण समाज के भूत और वर्तमान श्रम का फल है। इसका तात्पर्य तो यह होगा कि हम अपने को पत्थर के युग में रहनेवाले समझते हैं, लेकिन हम तो रह रहे हैं लोहे के युग में !

यदि आप किसी आधुनिक कोयले की खान में जायँगे तो आप एक ऐसी बड़ी भारी मशीन देखगे, जो एक पिंजरे को ऊपर उठाती या नीचे गिराती है। एक व्यक्ति उस मशीन को चलाता रहता है। उसके हाथ में एक लीवर होता है, जिससे मशीन की गति रुक या पलट सकती है।

जब वह लीवर को नीचे सरका देता है, तो उसी क्षण पिंजरा दूसरी ओर चला जाता है। वह बड़ी तीव्र गति से पिंजरे को गहरी खान के भीतर पहुँचाता या ऊपर उठाता है। एक इंडीकेटर (indicator) से उसे मालूम होता रहता है कि प्रत्येक सेकण्ड में पिजरा खान में किस जगह पहुँचा है। उसकी निगाह सदा उसी इंडीकेटर पर रहती है, और ज्योंही उसका काँटा एक स्थान पर पहुँच जाता है त्यों ही वह उसी क्षण पिजरे की गति को रोक देता है। पिंजरा ठीक स्थान पर रुक जाता है। न एक गज़ ऊपर, न एक गज़ नीचे। इसके बाद ज्योंही कोयले वाले कोयले के ठेलों को खाली कर देते हैं त्योंही वह लीवर को दूसरी ओर घुमा देता है, और पिंजरा ऊपर चढ़ आता है।

रोज लगातार आठ या दस-दस घंटे वह इसी ढंग से इंडीकेटर पर ध्यान रखता है। अगर उसका ध्यान एक क्षण भी ढीला पड़ जाय, तो पिंजरा गियर (gear) से टकरा जाय, उसके पहिये टूट जायँ, रस्सियाँ भी तड़ाक से टूट जायँ, आदमी दब कर मर जायँ, और खान का सारा काम बन्द हो जाय। यदि लीवर चलाने में हर वक्त वह तीन सेकण्ड की भी देर लगा दे, तो हमारी आधुनिक सुसज्जित खानों में कोयले की उत्पत्ति प्रति दिन बीस से लेकर पचास टन तक कम हो जाय

तब बतलाइए, खान खुदाई के उद्योग में क्या पिंजरे की मशीन को चलानेवाला व्यक्ति सबसे अधिक आवश्यक है ? या, वह लड़का ज्यादा आवश्यक है जो नीचे से पिंजरा उठाने का उसे संकेत करता है ? अथवा, क्या वह खनिक ज्यादा आवश्यक है, जो खान की पेंदी में काम करता है और जिसकी जान जाने का प्रत्येक क्षण भय रहता है तथा जो किसी न किसी दिन भीतर की गैस के आग से भभक उठने से मर जायगा ? या क्या वह इंजीनियर ज्यादा जरूरी है, जो कोयले की सतह का हिसाब लगाता है यदि उसका अनुमान ग़लत हो जाय तो कोयले की तह तो एक तरफ़ रह जाय और खनिक चट्टान पर कुदाल चलाने लगें ? अथवा,

क्या खान का मालिक ज्यादा ज़रूरी है, जिसने उसमें अपनी पूँजी लगाई है और विशेषज्ञों की राय की उपेक्षा करके भी यह सोचा कि वहाँ बढ़िया कोयला निकलेगा ?

खान के काम में जितने भी आदमी लगे हैं, वे सब अपनी अपनी शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, बुद्धि और कौशल के अनुसार कोयला निकालने में भाग लेते हैं। हम कह सकते हैं कि सब को हक़ है कि वे जीवित रहें, सबको हक़ है कि वे अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, और जीवनोपयोगी वस्तुओं के सबको मिल जाने के बाद अपनी-अपनी रुचियों की भी पूर्ति कर सकें। परन्तु प्रत्येक के काम का मूल्य हम निर्धारित नहीं कर सकते ।

लेकिन ज़रा आगे बढ़ने पर सवाल तो यह होता है कि जो कोयला उन्होंने निकाला है, क्या वह केवल उनका ही परिश्रम है ? क्या उसमें उन लोगों का श्रम सम्मिलित नहीं है, जिन्होंने खानों तक रेलें बनाई हैं और जिन्होंने रेलवे स्टेशनों से सब दिशाओं की ओर जाने वाली सड़कें बनाई हैं ? क्या उसमें उनका श्रम नहीं है, जिन्होंने खेतों को जोत बो कर अन्न उत्पन्न किया, जिन्होंने लोहा निकाला, जिन्होंने जंगल से काटकर लकड़ी प्राप्त की, जिन्होंने उस कोयले को काम में लाने वाली मशीनें बनाईं, जिन्होंने धीरे-धीरे सारे खानों के उद्योग को विकसित किया, अथवा जिन्होंने इसी प्रकार के और काम किये ?

इन लोगों में से प्रत्येक के काम को बिलकुल पृथक् करना नितान्त असम्भव है। प्रत्येक के काम के परिणाम से उसके काम को नापना बहुत ग़लत है, और सारे काम के विभाग करना और काम के टुकड़ों को श्रम के घंटों से नापना भी बहुत ग़लत है। हाँ, एक यह बात सही रहती है कि आवश्यकतायें कामों से ज्यादा ज़रूरी हैं, और सब मनुष्यों का जीवित रहने का हक़ सबसे पहले स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके

बाद जिन्होंने उत्पत्ति में भाग लिया है, उनका सुख से रहने का हक माना जाना चाहिए।

मनुष्य के सारे कार्यों में से किसी दूसरी शाख को लीजिए। जीवन के सब प्रकार के विकासों को ही लीजिए। हममें से कौन ऐसा है, जो यह दावा कर सके कि मेरे काम का वेतन मुझ को औरों से अधिक मिलना चाहिए? क्या वह डाक्टर अधिक वेतन का दावा कर सकता है जिसने रोग की परीक्षा की; या वह परिचारिका ज्यादा वेतन का दावा कर सकती है जिसने रोगी की सेवा शुश्रूषा करके उसे अच्छा किया? क्या वह व्यक्ति ज्यादा वेतन पाने का हक रखता है, जिसने पहले-पहल स्टीम-एंजिन का आविष्कार किया था, या वह लड़का ज्यादा वेतन पाने का हक रखता है, जो पिस्टन में भाफ जाने के लिए वाल्व का मुँह खोलनेवाली रस्सी को पकड़ते-पकड़ते एक दिन थक गया था, और जिसने अनजाने में मशीन के लीवर से उस रस्सी को बाँध दिया था और जिसे यह भी पता न था कि उसने आटोमेटिक वाल्व का आविष्कार कर लिया है, जो वर्तमान मशीनरी का एक आवश्यक अंग है।

क्या एंजिन का आविष्कारक अधिक वेतन पाने का हक रखता है? या न्यूकेसल शहर का वह मजदूर, जिसने यह तजवीज निकाली थी की पत्थर लचक नहीं सकता, और रेल की पटरी के नीचे उसके लगे रहने से रेल-गाड़ी पटरी से उतर जाती है, इसलिए उसकी जगह लकड़ी के स्लीपर लगाने चाहिएँ (पहले रेलवे की पटरी पत्थर के ऊपर जमाई जाती थी)? क्या 'एंजिन विभाग का इंजीनियर' अधिक वेतन पाने का हक रख सकता है, या वह सिगनल वाला अपना अधिक हक बता सकता है, जो गाड़ियों को रोकता या जाने देता है? अथवा क्या वह आदमी अधिक वेतन का हकदार है, जो रेल को एक लाइन से दूसरी लाइन पर बदलता है?

यूरोप और अमेरिका के बीच समुद्र में जो तार लगे हैं वह किस के श्रम का फल हैं? क्या वे उस बिजली के इंजीनियर का कार्य है, जिसने

वैज्ञानिकों के विरोध करते रहने पर भी कहा था कि तार से संवाद अवश्य जा सकेंगे? अथवा क्या वह विद्वान् प्राकृतिक-भूगोलवेत्ता मॉरी का कार्य है, जिसने यह सलाह दी थी कि मोटे तार न लगा कर हाथ में पकड़ने की बेतों के समान पतले तार लगाने चाहिएँ? अथवा वह उन स्वयं-सेवकों का कार्य है, जो न जाने कहाँ कहाँ से आये थे, और डेक पर दिन-दिन और रात रात ध्यान से प्रत्येक गज़ तार को देखते जाते थे, और उन कीलों को निकालते जाते थे, जो स्टीमशिप कम्पनियों के हिस्सेदारों ने तार को बेकार करने के लिए उसके ऊपरी आवरण में मूर्खता से लगवा दी थीं?

इससे भी बड़े क्षेत्र में, जीवन के सच्चे क्षेत्र में—जिसमें अनेकों आनन्द, अनेकों कष्ट, और अनेकों दुर्घटनायें आती हैं—हम स्मरण कर सकते हैं कि किसी-किसी व्यक्ति ने हमारी इतनी बड़ी सेवा की है कि यदि उसका मूल्य सिक्कों में कहा जाय तो हमें क्रोध आ जायगा। सम्भव है कि वह सेवा यही हो कि किसी ने हमसे कुछ शब्द कहे; केवल कुछ ही शब्द किसी महत्वपूर्ण अवसर पर कहे। या सम्भव है किसी ने महीनों और वर्षों लगन के साथ हमारी सेवा की हो। तो, क्या हम इन 'अतु-लनीय' सेवाओं को 'लेबर नोटों' द्वारा तौलेंगे?

तुम 'अपने अपने काम' की बात करते हो। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को जितना वेतन सिक्कों, 'चेकों' आदि के रूप में मिलता है उसकी अपेक्षा वह असंख्य गुना अधिक प्रदान करता है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य-जाति दो पीढ़ियों से अधिक जीवित न रह सकती। यदि मातायें बालकों की खबरगीरी करने में अपने जीवन अर्पण न किया करें और इसी प्रकार पुरुष भी निरन्तर, बिना बराबर मूल्य का बदला माँगें और जब उन्हें पारितोषिक की प्रत्याशा भी न हो, अपना दान देना जारी न रक्खें, तो मनुष्य जाति शीघ्र ही मिट जाय।

हमें हिसाब लगाने की बड़ी आदत पड़ गई है। हमारे अन्दर यह बात घुस गई है कि हम लेने के लिए ही देते हैं। जिस प्रकार जमा

और नामे के आधार पर व्यापारिक कंपनी होती है, उसी प्रकार हमने समाज को भी वैसा ही बनाने का लक्ष्य बना लिया है। यही कारण है कि मध्यम वर्गी समाज का दिन-दिन ह्रास होता जा रहा है। इसी कारण तो हम एक ऐसी अंधेरी गली में आ घुसे हैं, जहाँ से निकलना तबतक सम्भव नहीं है कि जबतक हम पुरानी संस्थाओं को ढूँढ ढूँढ कर नष्ट न कर दें।

समष्टिवादी लोग स्वय इस बात को जानते भी हैं। वे थोड़े अस्पष्ट प्रकार से समझते हैं कि यदि समाज 'जितना करे, उतना भरे' का सिद्धान्त पूर्णरूप से व्यवहार में लाय तो वह टिक नहीं सकता। वे यह ज्ञान रखते हैं कि मनुष्य की आवश्यकतायें—व्यक्ति की जीवनोपयोगी वस्तुयें (हम शौक़ की वस्तुओं की बात नहीं कहते)—सदा उसके काम के अनुपात से ही नहीं हुआ करतीं। इसलिए डिपेप का यह कथन है कि "इस पूर्ण व्यक्तिवादी सिद्धान्त में इतना साम्यवादी सुधार करना होगा कि बालकों और युवकों के (पालन, पोषण, भोजन और निवास के प्रबन्ध सहित) शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ेगी, कमज़ोर और रोगियों की सेवा सहायता के लिए सामाजिक संगठन करना पड़ेगा, और वृद्ध श्रम-कर्त्ताओं के लिए विश्रान्ति-गृह की व्यवस्था करनी पड़ेगी, अथवा इसी प्रकार के और अनेक कार्य करने पड़ेंगे।" वे जानते हैं कि चालीस वर्ष के आदमी को–जिसके तीन बच्चे हैं—आवश्यकतायें बीस वर्ष के अकेले युवा मनुष्य से अधिक होती हैं। वे यह जानते हैं कि जो स्त्री बच्चे को दूध पिलाती है और उसके पास बिना सोये रातें बिताती है वह उतना काम नहीं कर सकती, जितना कि एक ऐसा आदमी जो आराम से रात भर सोया हो। शायद वे यह भी मानते हैं कि ऐसे स्त्री पुरुष, जो संभवतः समाज के लिए बहुत अधिक श्रम करते-करते ही जीर्ण हो गये हैं, उतना काम करने में असमर्थ हैं, जितना कि वे लोग जो आराम से अपना समय बिता चुके हैं और राज्याधिकारियों के ऊँचे पदों पर काम करके और 'लेवर-नोट' पा कर जेबें भरते हैं।

अतः वे अपने सिद्धान्त में सुधार करने को उत्सुक हैं। वे कहते हैं कि "समाज अपने बालकों की रक्षा और पोषण अवश्य करेगा—वृद्धों और कमजोरों को सहायता अवश्य देगा। 'जितना करे, उतना भरे' के सिद्धान्त में सुधार करके समाज मनुष्य की आवश्यकताओं का यथेष्ठ ध्यान रक्खेगा।"

पर, इसमें दान—धर्मिक दान—का विचार है; और इस बार इस दान का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जायगा। उनका विचार है कि अनाथों के आश्रमों में सुधार किया जाय और बुढ़ापे और बीमारी के लिए बीमा करा दिये जायँ। यही उनके सिद्धान्त का सुधार है। परन्तु 'घाव लगा कर दवा करने' की बात को उन्होंने अभी छोड़ा नहीं है।

इन बड़े अर्थशास्त्रियों ने साम्यवाद को अस्वीकार किया, 'जिसकी जितनी जरूरत है, उसको उतना मिले' इस सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाई, और फिर इन्हें पता लगा कि वे एक बात भूल गये हैं। वे इस बात को भूल गये कि उत्पादकों अर्थात् श्रमकर्त्ताओं की आवश्यकतायें भी हुआ करती हैं। यह बात अब इन्होंने स्वीकार करली है। इनका मत है कि राज्य ही इसका अनुमान लगायगा। यह राज्य का ही काम होगा कि वह जाँच करे कि किसी व्यक्ति की आवश्यकतायें उसके काम के हिसाब से कहीं अधिक तो नहीं हैं।

दान भी राज्य ही बाँट देगा। उसके बाद अगला क़दम होगा इंग्लैण्ड का-सा ग़रीबों का क़ानून और परिश्रम गृह।

भेद थोड़ा सा ही है। क्योंकि जिस वर्तमान समाज-व्यवस्था के विरुद्ध हम विद्रोह कर रहे हैं उसे भी तो अपने व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा है। उसे भी साम्यवादी दिशा में कुछ रिआयतें दान के नाम से करनी ही पड़ी हैं।

वर्तमान समाज में भी लोग अपनी दूकानों को लूट से बचाने के लिए मुट्ठी भर चने बाँटा करते हैं। वर्तमान समाज भी तो छूत के रोगों

की बढ़ती को रोकने के लिए अस्पताल बनवाता है, जो प्रायः बहुत बुरे होते हैं। हाँ, कोई कोई अच्छे भी हैं। वर्तमान समाज भी श्रम के घंटों के अनुसार मज़दूरी देने के बाद उन ग़रीबों के बालकों को आश्रय देता है, जिनका जीवन वह नष्ट कर चुका होता है। वह उनकी आवश्यकतायें समझकर थोड़ा बहुत दान कर दिया करता है।

हम अन्यत्र कह चुके हैं कि दरिद्रता ही धन एकत्र होने का प्रारंभिक कारण था। दरिद्रता के अस्तित्व ने ही पहले पूंजीपति को पैदा किया था, क्योंकि, 'मुनाफ़ा' या 'अतिरिक्त मूल्य' तभी इकट्ठा किया जा सकता था, जब उसके पहले कुछ ऐसे निर्धन लोगों का अस्तित्व होता जो—यदि वे पेट पालने के लिए मज़दूरी न करते, तो—भूखों ही मर जाते। दरिद्रता ने ही पूंजीपतियों को बनाया। मध्ययुग में दरिद्रों की संख्या के इतनी तेज़ी से बढ़ने का कारण यह था कि राज्यों की स्थापना के बाद परस्पर आक्रमण और युद्ध होते रहे और पूर्वीय देशों का अपहरण करने के कारण यूरोप में धन बढ़ गया था। पहले देहात और नगरों के समाजों में जिन संबंधों और बन्धनों से मनुष्य परस्पर बँधे हुए थे, इन दोनों कारणों से वे बन्धन टूट गये। इन्हीं दो कारणों से पहले के जातीय जीवन की एकता के व्यवहार को छोड़ कर उन्होंने मज़दूरी-प्रथा का सिद्धान्त घोषित किया, जो दूसरों का अपहरण करनेवालों को इतना प्रिय है।

जिस साम्यवादी क्रान्ति का नाम भूखों, पीड़ितों और दुखियों को इतना प्रिय है, वह क्या ऐसे ही सिद्धान्त को जन्म देगी?

ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस दिन ग़रीबों के प्रहार से पुरानी संस्थायें भूमिसात हो जायँगी, उस दिन सब तरफ़ से यही चिल्लाहट आयगी, "रोटी, घर और विश्राम का इन्तज़ाम सबके लिए होना चाहिए।" इस चिल्लाहट पर ध्यान दिया जायगा। लोग उस समय कहेंगे—"जीवन, आनन्द और स्वतन्त्रता की प्यास हमें सदा से लगी हुई है। अब हम इस पिपासा को संतुष्ट करेंगे। जब हम इस सुख को प्राप्त कर लेंगे, तब

मध्यम वर्ग के शासन के बचे-खुचे स्मारकों को भी नष्ट करने में लग जायँगे। जिस नैतिकता का जन्म केवल बनिये की बही में हुआ है, जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण 'जमा और नामे' के आधार पर हुआ है, जो 'मेरी और तेरी' संस्थायें हैं—उन्हे हम नष्ट करने में लग जायँगे। प्राउढन के कथनानुसार 'नाश करके ही हम रचना करेंगे'। और, हमारी रचना साम्यवाद और अराजकवाद के नाम से होगी।

[१४]

उपभोग और उत्पत्ति

१

सत्तावादी लोगों का मानव-समाज और उसके राजनैतिक संगठन की ओर जो दृष्टिकोण है, हमारा दृष्टिकोण उससे भिन्न है। हम राज्य के वर्णन से प्रारम्भ करके व्यक्ति के वर्णन तक नहीं पहुँचते। हम तो पहले स्वाधीन व्यक्ति से प्रारम्भ करते हैं और फिर स्वतन्त्र समाज तक पहुँचते हैं। हम पहले उत्पत्ति विनिमय, राज्य-करों और राज्य का विवेचन नहीं करते। उससे पहले हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि व्यक्तियों की आवश्यकतायें क्या हैं, उन आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय क्या हैं, इत्यादि।

साधारण दृष्टि से यह भेद मामूली प्रतीत होता है, परन्तु गहरा उतरने पर तो इससे सरकारी राजनैतिक अर्थशास्त्र के वर्तमान सारे सिद्धान्त ही उलट जाते हैं।

यदि आप किसी अर्थशास्त्री के ग्रन्थ को उठा कर खोलें, तो आप देखेंगे कि वह उत्पत्ति से प्रारम्भ करता है—अर्थात् पहले वह यह विवरण देता है कि धन की उत्पत्ति के लिए आज-कल क्या साधन काम में आ रहे हैं; और, श्रम-विभाग, कारखाने, तत्सम्बन्धी मशीनरी और पूँजी के संचय का भी विवरण देता है। एडम स्मिथ से लगाकर मार्क्स तक

सारे अर्थशास्त्री इसी प्रकार चले हैं। वे अपनी पुस्तकों के अन्तिम भागों में ही उपभोग (Consumption) का वर्णन करते हैं—अर्थात् व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति के जो उपाय या साधन हमारे वर्तमान समाज में आ रहे हैं; उनका विवेचन करते हैं। उस विवेचन में भी वे इतना ही बताते हैं कि धन के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करने वाले लोगों के बीच धन का वितरण या विभाजन किस प्रकार हो रहा है।

शायद आप समझते हों कि यह क्रम युक्तियुक्त है। आवश्यकताओं की पूर्ति होने के पहले आपके पास वे चीजें होनी चाहिएँ, जिनसे आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। परन्तु कोई भी वस्तु उत्पन्न करने के पहले क्या यह ज़रूरी नहीं है कि आप उसकी आवश्यकता का अनुभव करें? जब मनुष्य सर्व-प्रथम शिकार करने लगा, पशु पालने लगा, भूमि जोतने लगा, औज़ार बनाने लगा, और बाद में मशीनरी का आविष्कार करने लगा, तो क्या उसको इन सब कामों के लिए प्रेरित करने वाली शक्ति की आवश्यकता नहीं थी? क्या आवश्यकताओं का अध्ययन किये बिना उत्पत्ति कर डालना चाहिए? इसलिए इतना तो कहना ही पड़ेगा कि यही क्रम युक्तियुक्त है कि पहले आवश्यकताओं का विचार करना चाहिए और फिर यह विवेचन करना चाहिए कि उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पत्ति का प्रबन्ध इस समय कैसा है और भविष्य में कैसा होना चाहिए।

हम इसी क्रम से विवेचन करना चाहते हैं।

परन्तु ज्योंही हम इस दृष्टिकोण से राजनैतिक अर्थशास्त्र का अवलोकन करते हैं, त्यों ही उसका स्वरूप बिलकुल बदल जाता है। तब वह वर्तमान अवस्था का केवल एक विवरण या वर्णन नहीं रह जाता; बल्कि वह एक विज्ञान बन जाता है। इस विज्ञान की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं—"मनुष्य-जाति की आवश्यकताओं का और मानव-शक्ति के न्यूनतम अपव्यय से उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का अध्ययन।" उसका सच्चा नाम तो होना चाहिए

समाज का जीवन-शास्त्र (Phy‹iology of Society)। यह उसी प्रकार का शास्त्र है जिस प्रकार का वनस्पतियों और प्राणियों का प्राणि शास्त्र है, जिसमें वनस्पतियों और प्राणियों की आवश्यकताओं का और अधिक-से अधिक लाभदायक मार्गों से उन आवश्यकताओं की पूर्ति का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्रीय (Sociological) विज्ञानों में मनुष्य-समाजों के अर्थ-शास्त्र का वही स्थान है, जो जीवन-शास्त्रीय(Biological) विज्ञानों में पौधों और प्राणियों के प्राणि-शास्त्र का है।

हमारे विवेचन का क्रम इस प्रकार है। संसार के समस्त मनुष्य समाज-रूप में संगठित हुए हैं। इन सबको स्वास्थ्यकर मकानों में रहने की आवश्यकता प्रतीत होती है। जंगली झोंपड़ी से उन्हें सन्तोष नहीं होता; वे अधिक सुखदायी आश्रय चाहते हैं। अब सवाल यह है कि मनुष्य की वर्तमान उत्पादन-शक्ति को ही प्रमाण मानते हुए क्या प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना मकान मिलना सम्भव है, या नहीं? साथ ही यह भी कि कौन सा कारण उसके मकान मिलने में बाधक हो रहा है?

ज्योंही हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, त्योंही हमें मालूम होता है कि यूरोप के प्रत्येक परिवार को बहुत अच्छी तरह से एक-एक सुख-सुविधा-युक्त घर मिल सकता है। वह घर वैसा ही होगा, जैसे इंग्लैण्ड, बेल्ज़ियम या पुलमैन शहर में बने हुए हैं, अथवा उतने ही कमरे मिल सकते हैं। कुछ दिनों के श्रम से ही एक छोटा सा सुन्दर हवादार और बिजलीदार घर बन कर तैयार हो सकता है।

परन्तु नब्बे प्रतिशत यूरोपवासियों के पास कभी भी स्वास्थ्यकर घर नहीं रहे हैं। क्योंकि प्रत्येक युग में साधारण लोगों को तो अपने शासकों की आवश्यकता पूर्ति के लिए दिन रात परिश्रम करना पड़ा है, और उनके पास न इतना समय था, न इतना धन कि वे अपनी इच्छानुसार मकान बनाते या बनवा सकते। और जबतक वर्तमान परिस्थिति

रहेगी तबतक उनके पास पर्याप्त मकान नहीं हो सकते। उनको झोंपड़ियों या झोंपड़ियों के ही समान घरों में रहना पड़ेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट दिखाई देता है कि हमारा विवेचन क्रम अर्थशास्त्रियों के विवेचन-क्रम से बिलकुल उलटा है। वे उत्पत्ति के नियमों को बहुत महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं नये बनने वाले मकानों की संख्या बहुत ही कम है, और उनसे सब की माँग पूरी नहीं हो सकती; इसलिए नब्बे प्रतिशत यूरोप-वासियों को झोंपड़ियों में ही रहना पड़ेगा।

अब भोजन के प्रश्न पर विचार करें। अर्थ-शास्त्री लोग तो पहले श्रम विभाग से होनेवाले लाभों को गिनाते हैं। फिर वे कहते हैं कि श्रम-विभाग के सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक है कि कुछ लोग कृषि का काम करें, और कुछ लोग उद्योग धंधों का। वे बतलाते हैं कि खेती करने वाले लोग इतनी उत्पत्ति करते हैं, कारखानों से इतनी उत्पत्ति होती है, विनिमय (Exchange) इस प्रकार चलता है। फिर वे बिक्री, लाभ, शुद्ध मुनाफ़ा या अतिरिक्त मूल्य, मज़दूरियाँ या वेतन, टैक्स, बैंकिंग आदि का विश्लेषण करते हैं।

परन्तु उनके विवेचन को यहाँ तक पढ़ लेने पर भी हमें कोई नई बात मालूम नहीं हुई। फिर हम उनसे यह पूछते हैं कि "जब प्रत्येक परिवार हरसाल इतना काफ़ी अन्न उत्पन्न करता है कि दस, बीस या सौ आदमियों को भी खिलाया जा सके, तो क्या कारण है कि करोड़ों मनुष्य भूखे रहते हैं?" इसके उत्तर में वे उसी प्रकार अपने मन्त्र फिर पढ़ देते हैं—श्रम का विभाग, वेतन, शुद्ध लाभ, पूँजी, आदि—और अन्त में फिर यही परिणाम निकालते हैं कि उत्पत्ति इतनी नहीं होती कि सबकी आवश्यकतायें पूर्ण हो सकें। यह परिणाम सही हो सकता है, परन्तु इससे हमारी समस्या हल नहीं होती। "क्या मनुष्य अपने श्रम से अपनी आवश्यकता के लायक़ अन्न उत्पन्न कर सकता है, या नहीं कर सकता? यदि नहीं कर सकता, तो इसमें क्या क्या बाधायें हैं?"

यूरोप के निवासी ३५ करोड़ हैं। उन्हें इतना अन्न, इतना मांस, शराब, दूध, अण्डे और मक्खन साल भर में चाहिए। उन्हें इतने मकान चाहिएँ और इतना कपड़ा चाहिए उनकी कम-से-कम आवश्यकतायें इतनी हैं। क्या वे इतनी उत्पत्ति कर सकते हैं? इतनी उत्पत्ति कर सकने के बाद भी क्या उनके पास कला-विज्ञान और विनोद के लिए अवकाश बच सकेगा? अर्थात् जीवन के लिए नितान्त आवश्यक पदार्थों की श्रेणी में न आने वाली वस्तुओं तथा आवश्यकताओं के लिए उनके पास अवकाश बच सकेगा या नहीं? यदि ऐसा हो सकता है, तो इसमें रुकावटें क्या हैं? इन बाधाओं को हटाने के लिए लोगों को क्या करना चाहिए? क्या इसमें सफल होने के लिए समय की प्रतीक्षा करनी होगी? यदि प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है, तो करें। परन्तु हमें उत्पत्ति का उद्देश्य नहीं भूल जाना चाहिए। उत्पत्ति का उद्देश्य है—सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

यदि मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकतायें आज अपूर्ण रहती हैं, तो हमें अपनी उत्पादक शक्ति बढ़ाने के लिए क्या करना चाहिए? परन्तु आवश्यकताओं के इस प्रकार अपूर्ण रहने का क्या और कोई कारण नहीं है? सम्भव है कि मनुष्य की आवश्यकताओं को देख कर उत्पत्ति न की जाती हो; सम्भव है वह बिलकुल उलटी दिशा में भटक गई हो, और उसका प्रबन्ध दोषपूर्ण हो,—क्या ऐसा नहीं है? हम सिद्ध कर सकते हैं कि है ठीक ऐसा ही। इसलिए अब हमें यह विचार करना चाहिए कि उत्पत्ति का प्रबन्ध फिर से किस प्रकार किया जाय, ताकि वास्तव में सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

हमें तो इस प्रश्न पर विवेचन करने का यही ढंग ठीक मालूम होता है। यही एक ऐसा ढंग है, जिससे राजनैतिक अर्थ-शास्त्र एक विज्ञान—सामाजिक प्राणिशास्त्रीय विज्ञान—बन सकता है।

जबतक विज्ञान उत्पत्ति का विवेचन उसी प्रकार करता रहेगा जिस

प्रकार वह वर्तमान समय में सभ्य जातियों, भारतीय ग्रामों या जंगली लोगों में हो रही है. तबतक तो जैसा विवेचन अर्थशास्त्री आजकल करते हैं वैसा ही हो सकता है। प्राणि-शास्त्र और वनस्पति शास्त्र के वर्णनात्मक अध्याय जिस प्रकार के हुआ करते हैं, यह विवेचन भी उसी प्रकार का एक वर्णनात्मक अध्याय हो सकता है। परन्तु यदि यह अध्याय इस प्रकार से लिखा जाय कि उससे इस बात पर भी प्रकाश पड़े कि मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति के लिए शक्ति का मितव्यय कैसे हो सकती है, तो यह अध्याय अधिक उपयुक्त होगा और उसका वर्णन करना भी अधिक मूल्यवान होगा। वह हमें साफ़ साफ़ यह दिखलायगा कि वर्तमान प्रणाली से मनुष्य की शक्ति का कितना भयंकर अपव्यय हो रहा है। वह यह भी सिद्ध करेगा कि जबतक यह प्रणाली रहेगी तबतक मनुष्य-जाति की आवश्यकतायें कभी पूर्ण नहीं होंगी।

हम समझते हैं कि उस समय दृष्टि कोण बिलकुल ही बदल जायगा। तब हमारा ध्यान उस कर्घे तक ही पहुँच कर न रह जायगा, जो इतने-इतने गज़ कपड़ा बुनता है; न उस मशीन तक ही, जो लोहे की चद्दर में छेद करती है, और न उस तिजोरी तक ही पहुँचकर रह जायगा, जिसमें कम्पनियों के हिस्सों का मुनाफ़ा भरा जाता है। परन्तु हमारा ध्यान उस मनुष्य पर भी जायगा, जो उत्पत्ति करता है पर उसकी उत्पत्ति से प्रायः दूसरे ही मौज उड़ाते हैं और वह वंचित रह जाता है। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि दृष्टि कोण गलत होने के कारण—तो मूल्य और विनियम का "नियम" कहलाता है, वह तो आजकल घटित होनेवाली घटनाओं की बड़ी ग़लत व्याख्या है। और जब उत्पत्ति की व्यवस्था इस प्रकार कर दी जायगी कि उससे समाज की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी, तब सारी बातें बिलकुल बदल जायँगी।

२

यदि आप हमारे दृष्टिकोण से देखने लगें तो राजनैतिक अर्थशास्त्र के सारे सिद्धान्तों की सूरत ही बदल जायगी।

उदाहरणार्थ अति-उत्पत्ति (Overproduction) को लीजिए। यह शब्द हमारे कानों में रोज़ गूँजता रहता है। जितने अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र-परिषदों के सदस्य, या अर्थशास्त्रीय डिग्रियों के उम्मेदवार हैं वे सब, दलीलें दे-दे कर, यही सिद्ध करते हैं कि अति-उत्पत्ति के कारण ही संसार में व्यापारिक संकट-काल आया करते हैं—अर्थात् इस कारण कि किसी समय आवश्यकता से अधिक रुई, कपड़े, खाद्य-सामग्री या घड़ियों की उत्पत्ति हो जाती है। हम सभीने उन पूँजीपतियों की लूट के विरुद्ध ज़ोर की आवाज उठाई है। हमने कहा है कि वे जान-बूझ कर इतना माल उत्पन्न करने पर तुले हुए हैं कि जितना शायद खप नहीं सकता।

परन्तु ध्यानपूर्वक जाँच करने से मालूम होगा कि ये सारे तर्क ठीक नहीं है। इस्तेमाल में आनेवाली चीज़ों में से वास्तव में क्या एक भी ऐसी चीज़ है, जो आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होती है? कई देश बहुत सा माल बाहर भेजते हैं। उसमें से एक एक चीज़ पर विचार कीजिए। आपको मालूम हो जायगा कि प्रायः सारी चीज़ें निर्यात करनेवाले देशों के निवासियों के लिए ही काफ़ी उत्पन्न नहीं होतीं।

जो गेहूँ रूस का किसान दूसरे देशों को भेजता है, वह रूस निवासियों की आवश्यकता से अधिक गेहूँ नहीं है। यूरोपियन रूस में गेहूँ और राई (Rye)—एक किस्म का काला अनाज—जो बड़ी प्रचुरता से होता है, वहाँ के निवासियों के लिए केवल पर्याप्त ही होते हैं। यह तो साधारण नियम सा है कि जब किसान टैक्स और लगान चुकाने के लिए अपना गेहूँ या राई बेचता है, तो उसके पास से उसकी आवश्यकता के लायक़ गेहूँ भी कम हो जाता है।

इंग्लैण्ड दुनिया के चारों खूँट पर अपना कोयला भेजता है, पर वह

कोयला उसकी निजकी आवश्यकता के अतिरिक्त नहीं होता। देश के घरू उपयोग के लिए तो प्रति व्यक्ति साल भर में केवल तीन-चौथाई टन ही कोयला बच पाता है। लाखों इंग्लैण्ड वासियों को शीतकाल में आग भी नहीं मिल पाती, या केवल इतनी-सी मिलती है कि उससे थोड़ी सी शाक ही पका सकें। इंग्लैण्ड तो दुनिया में सबसे बड़ा निर्यात करनेवाला देश है। परन्तु वहाँ केवल कपड़ा ही एक ऐसी चीज़ है, जो सर्वसाधारण के उपयोग की है, और इसकी उत्पत्ति शायद आवश्यकता से अधिक होती है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि इंगलैण्ड के संयुक्त राज्य की एक-तिहाई जनता फटे कपडे पहनती है, और उन्हें ही नियामत समझती है, तो हम सोचते हैं कि जो कपड़ा बाहर भेजा जाता है क्या वह जनता की सच्ची आवश्यकताओं के लिए यथेष्ठ न होता ?

आज-कल जो माल बाहर भेजा जाता है, साधारणतः वह देश की आवश्यकता से अधिक नहीं होता। संभव है, प्रारंभ में ऐसा रहा हो। नंगे पाँव वाले चर्मकार की कहानी पहले कारीगरों के विषय में कही जाती थी। वह आज के राष्ट्रों के विषय में भी उतनी ही सच्ची ठहरती है। जो वस्तुयें आवश्यकता की होती हैं उन्हें हम बाहर भेज देते है; और हमारे ऐसा करने का कारण यह कि श्रमिक लोगों की यह शक्ति नहीं है कि, पूंजीपति का किराया और साहूकार का ब्याज देने के बाद वे अपने वेतन से अपनी ही उत्पन्न की हुई चीज़ों को ख़रीद सकें।

सिर्फ़ इतना ही नहीं होता कि हमारी नई उत्पन्न होनेवाली सुखे-च्छायें बिना पूर्ति के रह जाती हैं; परन्तु प्रायः जीवन की भौतिक आव-श्यकताओं की चीज़ों की भी कमी रहती है। अतः 'अतिरिक्त उत्पत्ति' का अस्तित्व ही नहीं है। कम-से-कम उसका अस्तित्व उस भाव में तो नहीं है, जिस भाव में राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तवादी उसे प्रयुक्त करते हैं।

दूसरी बात लीजिए। सारे अर्थशास्त्री कहते हैं कि यह एक सिद्ध

नियम है कि "मनुष्य जितना अपने उपयोग में लाता है, उससे अधिक उत्पन्न करता है।" अपनी कमाई में से ख़र्च करने के बाद उसके पास अतिरिक्त भी बचता है। मसलन् कृषकों का एक परिवार इतना उत्पन्न करता है, जो कई परिवारों के खाने के योग्य होता है—इत्यादि।

हमारी दृष्टि से तो इसको बार-बार दोहराने का कोई अर्थ नहीं है। यदि इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पीढ़ी आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए कुछ-न-कुछ छोड़ जाती है, तब तो यह सही हो सकता है। उदाहरणार्थ एक किसान एक पेड़ लगाता है। वह पेड़ शायद तीस, चालीस, या सौ वर्ष तक खड़ा रहेगा, और उसके फल उसके पौत्र भी खायँगे। अथवा वह कुछ बीघे नई ज़मीन साफ़ करता है। हम कहते हैं कि आगामी पीढ़ियों की जायदाद में इतनी वृद्धि हुई। सड़कें, पुलें, नहरें, मकान और फ़रनीचर—यह ऐसा धन है, जो आगामी पीढ़ियों का उत्ताधिकार होगा।

परन्तु अर्थशास्त्रियों का यह तात्पर्य नहीं है। वे कहते हैं कि किसान के लिए खाने को जितने अन्न की आवश्यकता होती है, उससे अधिक उत्पन्न करता है। पर यही बात उन्हें इस प्रकार कहनी चाहिए—किसान से उत्पत्ति का बड़ा भाग राज्य अपने टैक्स के रूप में, पादरी अपने धर्म-दशमांश के रूप में, और भूमिपति लगान के रूप में ले लेता है। किसान वर्ग पहले जितना उत्पन्न करता था उतना सब अपने उपयोग में ले आता था, सिर्फ़ आकस्मिक ख़र्चों या पेड़ लगाने, सड़क बनाने आदि के लिए कुछ बचाता था। पर अब उस वर्ग का यह हाल हो गया है कि उसे मज़धूरन बड़ी दरिद्रता में मुश्किल से गुजारा करते हुए रहना पड़ता है। और उसकी उत्पत्ति का बचा हुआ भाग राज्य, ज़मींदार, पादरी और ब्याज वाले ले लेते हैं।

इसलिए हम इस बात को इस प्रकार कहना अधिक उचित समझते हैं कि—खेतों और कारख़ानों पर काम करने वाले मजदूर आदि लोग जितना उत्पन्न करते हैं उससे कम अपने उपभोग में लाते हैं,

क्योंकि उन्हें मजबूरन अपनी महनत की उत्पत्ति का अधिकांश बेच देना पड़ता है, और केवल थोड़े से अंश से ही सन्तुष्ट रहना पडता है।

हमें यह भी देख लेना चाहिए कि यदि राजनैतिक अर्थशास्त्र में हम व्यक्ति की आवश्यकताओं से प्रारम्भ करते हैं, तो ठीक साम्यवाद (Communism) पर ही पहुँचते हैं और यही एक ऐसा संगठन है, जिसके द्वारा हम अत्यन्त पूर्ण और मितव्ययी मार्ग से सब की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। दूसरी ओर यदि हम अपने प्रचलित ढंग के अनुसार उत्पत्ति से आरम्भ करते हैं, लाभ और अतिरिक्त मूल्य को अपना लक्ष्य बनाते हैं, और यह नहीं विचारते कि आवश्यकताओं के अनुसार हमारी उत्पत्ति होती है या नहीं, तो, अनिवार्य रूप से हम पूँजीवाद पर, या अधिक-से अधिक समष्टिवाद पर पहुँचते हैं। दोनों ही वर्तमान वेतन प्रथा के दो भिन्न-भिन्न रूप है।

वस्तुतः जब हम व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं का विचार करते हैं और उन साधनों का विचार करते हैं, जिनका मनुष्य ने अपनी उन्नति की विविध दशाओं में उन-उन आवश्यकताओं को पूरी करने लिए प्रयोग किया, तो, तत्काल हमें यह ज़रूरत महसूस होती है कि हम अपने कार्यों को विधिवत बनायें, और आज कल की तरह चाहे-जो-कुछ उत्पत्ति न करते रहें। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो धन उपभोग में नहीं आ चुकता, और पीढ़ी-दर पीढ़ी उत्तराधिकार के रूप में जाता है, उसपर थोड़े लोगों का कब्ज़ा कर लेना सबके हितों के अनुकूल नहीं है। और यह भी सत्य मालूम होता है कि इन तरीक़ों के कारण समाज के तीन-चौथाई भाग की आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पातीं। अतः वर्तमान समय में मनुष्य-शक्ति का जो अपव्यय व्यर्थ बातों में हो रहा है वह भी बुरा है।

इसके अलावा हमें यह भी पता लगता है कि वस्तुओं का सबसे अच्छा उपयोग यही है कि उनसे सबसे पहले उन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय, जो सबसे ज्यादा ज़रूरी हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा

सकता है कि जिसे वस्तु का 'व्यवहार मूल्य' (Value in use) कहा जाता है वह कोरी सनक या कल्पना के आधार पर नहीं है, परन्तु वह सच्ची आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार पर है।

साम्यवाद का अर्थ है, समष्टि रूप से उपभोग, उत्पत्ति और विनिमय की दृष्टि के अनुकूल एक संगठन। और जब हम वर्तमान अवस्था पर उपर्युक्त ढग से विचार करते हैं तब स्वाभाविक रूप से समाजवाद के परिणाम पर पहुँचते हैं। हमारी सम्मति में यही एकमात्र वैज्ञानिक संगठन है।

जो समाज सबकी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहेगा, और इस लक्ष्य में सफल होने के लिए उत्पत्ति का ठीक-ठीक प्रबन्ध करना जानेगा, उसको उद्योगों के कई मिथ्याविश्वासों को भी निकाल देना पड़ेगा। इन मिथ्याविश्वासों में सबसे पहला श्रम-विभाग का सिद्धान्त है, जिसका प्रचार अर्थशास्त्री प्रायः किया करते हैं। हम इसपर अगले परिच्छेद में विचार करेंगे।

[१५]

श्रम-विभाग

१

राजनैतिक अर्थशास्त्र समाज की बातों का, जिस प्रकार कि वे घटित हुआ करती हैं उसी प्रकार, वर्णन मात्र कर देता है; और इस भांति बलवान वर्ग के हितार्थ उनका समर्थन कर देता है। इसलिए उसकी सम्मति उद्योग-धंधों में श्रम-विभाग के पक्ष में है। श्रम-विभाग पूँजीपतियों के लिए लाभदायक है, अतएव इसे एक सिद्धान्त का रूप दे दिया गया है।

वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ ने गाँव के एक लुहार का उदाहरण दिया है। यदि लुहार को कीलें बनाने का अभ्यास नहीं है, तो वह बड़ी महनत से दिन भर में, मुश्किल से दो सौ या तीन सौ कीलें बना पायगा, औरों भी अच्छी न होगी। परन्तु यदि उस लुहार ने जन्म भर कीलें ही बनाई हों तो वह एक दिन में दो हजार कीलें बना देगा। इससे एडम स्मिथ ने यह परिणाम निकाला है—"श्रम का विभाग करो, विशेषीकरण (Specialisation) करो, विशेषीकरण बढ़ाते जाओ। हमारे पास ऐसे ऐसे लुहार होने चाहिएँ जिन्हें कीलों के सिरे या नोकें ही बनाना आता हो। इस प्रकार हम उत्पत्ति को बहुत अधिक बढ़ा सकेंगे। हमारी सम्पत्ति बढ़ जायगी।"

परन्तु उसने इस बात को भुला दिया कि जीवनभर कीलों के सिरे बनाते बनाते बेचारा लुहार घबरा जायगा, और उसे अपने कार्य में कोई दिलचस्पी न रहेगी। उसने इस बात को भी भुला दिया कि जब लुहार केवल इतना-सा ही काम जानता होगा, तो वह कारखानेदार की दया का बिलकुल मोहताज हो जायगा, वह बारह महीनों में चार महीने बेकार रहेगा, और जब उसकी जगह कई नौसिखिये काम करने को मिलने लगेंगे तब उसकी मज़दूरी बहुत कम हो जायगी। इन सब बातों पर विचार किये बिना ही एडम स्मिथ ने बड़ी प्रसन्नता से घोषणा की कि "श्रम-विभाग की जय हो! इसी सोने की खान से राष्ट्र सम्पत्तिशाली बन जायगा!" और उसकी इस आवाज़ में सब लोगों ने उसका साथ दिया।

बाद में सिसमाण्डी या जे० बी० से जैसे आदमियों ने इस बात को समझा कि श्रम-विभाग से राष्ट्र की धन-वृद्धि तो बिलकुल नहीं होती। हाँ, धनिकों के धन की वृद्धि अवश्य होती है। और वह मज़दूर, जो जीवन भर पिन का अठारहवां भाग ही बनाता रहता है, बुद्धिहीन होकर दरिद्रता में डूब जाता है। इसका उत्तर राजनैतिक अर्थशास्त्रियों ने क्या दिया? कुछ भी नहीं। उन्होंने इस बात को नहीं विचारा कि जब श्रमिक बुद्धिहीन हो जायगा और आविष्कार का हौसला खो बैठेगा, तो यह कैसे सम्भव होगा कि तरह-तरह के नये-नये धंधे राष्ट्र की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए निकल सकें? इसी प्रश्न पर अब हम विचार करेंगे।

फिर भी स्थायी और पैतृक श्रम-विभाग के इस सिद्धान्त का यदि सिर्फ़ विद्वान अर्थशास्त्री लोग ही प्रचार करते, तो हम उनके कार्य में बाधा नहीं डालते। परन्तु विज्ञान के दिग्गजों द्वारा फैलाये हुए ये सिद्धान्त साधारण जनता के दिमाग़ों में भी घुस जाते हैं और उनके मस्तिष्क को विकृत कर देते हैं। जब मध्यम-वर्ग के सारे लोग और श्रमिक लोग भी बार-बार श्रम-विभाग, मुनाफ़ा, ब्याज, लेन-देन आदि की चर्चा इस प्रकार सुनते हैं, मानों ये स्वयंसिद्ध बातें हैं, तब तो वे भी अर्थ-शास्त्रियों की भांति

तर्क करने लगते हैं। वे भी इन झूठे देवताओं की पूजा करने लगते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश साम्यवादी और वे लोग भी, जिन्होंने अर्थशास्त्रीय विज्ञान की ग़लतियों को निर्भयतापूर्वक प्रकट किया है, श्रम विभाग का समर्थन करने लगते हैं। उनसे पूछिए कि क्रान्ति-युग में श्रम का कैसा प्रबन्ध करना चाहिए तो वे कहेंगे कि श्रम विभाग को तो कायम रखना पड़ेगा। अर्थात् क्रान्ति से पहले यदि आप पिन की नोक तेज़ करने का काम करते थे तो क्रान्ति के बाद भी आपको वही काम करना पड़ेगा। इसमें तो संदेह नहीं कि आपको पांच घंटे से अधिक काम करना न पड़ेगा, परन्तु आपको जीवन भर पिन की नोकें ही तेज़ करनी पड़ेंगी। और दूसरे लोग ऐसी मशीनों के डिज़ाइन ही सोचा करेंगे, जिनसे आप जीवन में अरबों पिनें तेज़ कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त, दूसरे लोग साहित्य, विज्ञान, कला आदि की शाखाओं के विशेषज्ञ बना करेंगे। आप तो इसीलिए पैदा हुए हैं कि पिनों को तेज़ करते रहें, और पास्टयर इसीलिए पैदा हुआ था कि वह एंथ्रेक्स (विषैला पुराना फोड़ा) के टीके का आविष्कार करता रहे। जब क्रान्ति हो जायगी तब भी आप अपना वही धन्धा करते रहेंगे। यह सिद्धान्त बड़ा भयंकर है, समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है, मनुष्य को पशु बना देनेवाला है, और इससे अब तक नाना-विध हानियाँ हो चुकी हैं। अब हम इसके विविध स्वरूपों पर विचार करेंगे।

हमको मालूम है कि श्रम-विभाग के बहुत से बुरे परिणाम हुए हैं। एक दुष्परिणाम तो यह है कि समाज दो वर्गों में विभक्त हो जाता है। एक वर्ग तो उत्पत्ति करनेवाले श्रमिकों का होता है। ये लोग अपनी उत्पत्ति में से बहुत थोड़ी का स्वयं उपभोग करते हैं और केवल शारीरिक श्रम का काम करने के कारण उन्हें मस्तिष्क से काम लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वे काम भी बुरा करते हैं, क्योंकि उनका मस्तिष्क निष्क्रय रहता है। दूसरा वर्ग है उन लोगों का जो केवल उत्पन्न माल का उपभोग करते

रहते हैं, जो स्वयं बहुत थोड़ा उत्पन्न करते हैं, या कुछ भी उत्पन्न नहीं करते। उन्हें दूसरों के लिए भला-बुरा सोचने का विशेषाधिकार प्राप्त है। ये लोग सोच विचार भी बुरा करते हैं, क्योंकि शारीरिक श्रम करने वालों से उनका परिचय नहीं होता। एक दुष्परिणाम यह भी है कि खेती का काम करनेवाले श्रमिकों को मशीन का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, और मशीनरी के श्रमिक खेती के बारे में कुछ नहीं जानते। वर्तमान कारखाने यह चाहते हैं कि एक लड़का तो मशीन ही चलाता रहे; वह उस मशीन को न समझ सके, और न उसे उसके समझने की आवश्यकता है। इसके अलावा एक फ़ोरमैन काम करानेवाला रहे। वह उस लड़के पर जुर्माना करे, यदि उसका ध्यान जरा भी मशीन से हट जाय। औद्योगिक यन्त्रों से खेती का आदर्श यह है कि खेत में काम करनेवाला मजदूर तो बिलकुल न रहे, बल्कि उसके स्थान पर एक ऐसा आदमी क़ायम हो जाय जो स्टीम-हल भी चलाले और अनाज निकालने (threshing) की मशीन भी चलाले। श्रम विभाग का अर्थ यह है कि आदमियों पर जीवन भर के लिए ख़ास-ख़ास कामों की छाप या मुहर लगा दी जाय। कुछ आदमी कारख़ाने में रस्सी बटने के लिए निश्चित हो जायँ, कुछ आदमी फ़ोरमेन के काम के लिए निश्चित हो जायँ, कुछ आदमी खान के किसी विशेष भाग में कोयले की टोकरियों को उठाने के लिए निश्चित हो जायँ, परन्तु उनमें से किसी को भी सम्पूर्ण मशीन सम्पूर्ण व्यवसाय या सम्पूर्ण खान का कुछ भी ज्ञान न हो सके। इसका फल यह होता है कि श्रम का प्रेम और आविष्कार की योग्यता मनुष्य में से नष्ट हो जाती है। वर्तमान उद्योग धंधों के प्रारंभ में श्रम के इसी प्रेम और आविष्कार की इसी योग्यता ने तो मशीनरी को जन्म दिया था, जिस पर हम सब इतना अभिमान करते हैं।

अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तियों के विषय में जिस बात को कार्य में परिणित किया, उसी बात को वे राष्ट्रों के विषय में भी करना चाहते थे। वे चाहते थे कि मनुष्य-जाति का इस प्रकार विभाग किया जाय कि प्रत्येक राष्ट्र,

अपनी-अपनी विशेषता रखता हुआ, एक अलग-अलग कारखाना बन जाय। उन्होंने कहा था कि रूस अन्न उत्पन्न करने के लिए ही बना है। इंग्लैण्ड सूत तैयार करने के ही योग्य बनाया गया है और स्विट्जरलैण्ड इसीलिए बनाया गया है कि वह नर्सें और बालकों की अभिभाविकायें तैयार करे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नगर का भी विशेषीकरण किया गया। प्रत्येक नगर की पृथक् पृथक् विशेपता बनाई गई। लियोन्स (फ्रान्स) नगर का काम रेशम बुनना, आवर्ने नगर का काम बेल के फ़ीते बनाना और पेरिस का काम यह बनाया गया कि वह शौक़ की चीज़ें बनाय। अर्थशास्त्री कहते थे कि इस प्रकार उत्पत्ति और खपत का बड़ा भारी क्षेत्र खुल जायगा और इस भाँति मनुष्यजाति के लिए असीम सम्पत्ति का युग आनेवाला है।

परन्तु ज्योंही यन्त्रों और उद्योगों का ज्ञान बाहर फैला, त्योंही ये सारी आशायें नष्ट हो गईं। जबतक इंग्लैण्ड बड़े पैमाने पर सूती कपड़ा और धातुओं का सामान तैयार करने वाला अकेला देश रहा, और जबतक पेरिस नगर अकेला शौक़ की सुन्दर-सुन्दर कलामय चीज़ें बनाने वाला रहा, तबतक तो बात ठीक रही। तबतक अर्थशास्त्री श्रम-विभाग के सिद्धान्त का प्रचार करते रहे और उनका किसीने खण्डन नहीं किया।

परन्तु सारे सभ्य राष्ट्रों में धीरे-धीरे नई विचार-धारा पहुँच गई और वे सब अपनी-अपनी आवश्यकता के उद्योग-धंधों को अपनाने लगे। जो माल पहले दूसरे देशों से आता था या अपने उपनिवेशों से आता था (उपनिवेश भी तो अपने-अपने मातृ-देश से अपने को स्वतंत्र करने लगे), उस माल को उन देशों ने स्वयं उत्पन्न करना हितकर समझा। वैज्ञानिक अन्वेषणों के कारण उत्पत्ति के तरीक़े सार्वभौम हो गये। जो चीज घर में बन सकती थी उसके लिए विदेश को भारी क़ीमत देना व्यर्थ समझा गया। अब तो हम देख रहे हैं कि श्रम-विभाग का जो सिद्धान्त पहले बड़ा दृढ़ समझा जाता था वह इस औद्योगिक क्रान्ति के कारण पूर्णतः खण्डित हो गया है।

[१६]

उद्योगों का निष्केन्द्रीकरण *

१

नेपोलियन के युद्धों के बाद ब्रिटेन ने फ्रान्स के उन मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धों को प्रायः नष्ट कर दिया था जो वहाँ उससे पहले क़ायम थे। वह समुद्र का भी स्वामी बन गया था और यूरोप में उसका कोई बड़ा प्रतिद्वन्द्वी न रह गया था। उसने इस स्थिति से लाभ उठाया और उद्योगों पर एकाधिकार जमा लिया। जिस माल को केवल वही बना सकता था उसका मन-माना मूल्य रक्खा। पड़ोसी देशों से खूब धन इकट्ठा किया और अत्यन्त समृद्धिशाली बन गया।

परन्तु अठारहवीं शताब्दी की मध्यम-वर्गीय क्रान्ति ने फ्रान्स में कृषकों की दासता को मिटा दिया और दरिद्रों का एक वर्ग उत्पन्न कर दिया। इस कारण यद्यपि कुछ समय के लिए वहाँ के उद्योग-धन्धे मन्दे पड़ गये, तथापि फ्रान्स फिर उठा और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसे इंग्लैण्ड के बने हुए माल को मँगाने की ज़रूरत न रही। आज वह

---

* ये विचार अधिक विस्तार से मेरी पुस्तक Fields Factories and Workshops में मिलेंगे। यह पुस्तक टामस नेल्सन एण्ड संस के यहाँ से १६१२ में छपी है।

भी निर्यात-व्यापार करने वाला राष्ट्र बन गया है। वह छः करोड़ पौण्ड से भी अधिक का तैयार माल बाहर भेजता है और इसमें से दो-तिहाई माल कपड़ा होता है। निर्यात-सम्बन्धी कार्य या विदेशी व्यापार से गुज़ारा करने वाले फ्रान्सवासियों की संख्या तीस लाख है।

अतः फ्रांस इंग्लैण्ड का माल लेनेवाला देश नहीं रहा। उसने भी विदेशी उद्योग धन्धों की कुछ शाखाओं पर अपना एकाधिकार जमा लिया। वह स्वयं रेशमी वस्त्र, पहनने के तैयार कपडे आदि माल बाहर भेजने लगा और उसने उससे बहुत मुनाफ़ा कमाया। परन्तु जिस प्रकार इंग्लैण्ड के सूती माल का एकाधिकार आजकल नष्ट होता जा रहा है, उसी प्रकार फ्रांस का भी यह एकाधिकार सदा के लिए नष्ट होता जा रहा है।

उद्योग-धन्धे पूर्व की ओर बढ़ते हुए जर्मनी में पहुँच गये। पचास साल पहले जर्मनी इँग्लैण्ड और फ्रान्स से ऊँचे दर्जे का तैयार माल मँगाया करता था। अब नहीं मँगाता। पिछले पचास वर्षों में, और विशेषकर फ्रान्स-जर्मन युद्ध के काल में जर्मनी ने अपने उद्योग-धन्धों का पुनः पूर्ण संगठन कर लिया है। नये कारखानों में बढ़िया-से-बढ़िया मशीनरी लगी है। मैंचेस्टर और लियोन्स के सूती और रेशमी माल का नया-से-नया नमूना जर्मनी के कारखानों में बनने लगा है। मैंचेस्टर और लियोन्स के कारीगरों को आधुनिक यन्त्रों के निर्माण करने में दो-तीन पीढ़ियाँ लगीं परन्तु जर्मनी ने उन यन्त्रों को पूर्ण विकसित अवस्था में ले लिया। उद्योग-धन्धों की आवश्यकता के अनुकूल औद्योगिक और यान्त्रिक शिक्षा के स्कूल खुल गये, और वहाँ से ऐसे-ऐसे होशियार काम करनेवाले निकलते हैं कि जो हाथ और दिमाग़ दोनों से कारखानों में काम करते हैं। जिस अवस्था को मैंचेस्टर और लियोन्स के उद्योग धन्धे पचास वर्ष तक अंधकार में काम करते हुए, प्रयत्न और प्रयोग करते हुए, पहुँचे थे उस अवस्था से तो जर्मनी के उद्योग-धन्धे अपना प्रारम्भ करते है।

चूँकि जर्मनी अपने देश में ही बहुत अच्छा माल तैयार करने लगा

है, इसलिए फ्रांस और इंग्लैण्ड से आनेवाला माल हर साल कम होता जा रहा है। वह तैयार माल में उनका मुक़ाबला एशिया और अफ्रिका में ही नहीं करता, बल्कि पेरिस और लन्दन में भी करता है। फ्रान्स के अदूरदर्शी लोग भले ही इसका कारण फ्रैंकफोर्ट की संधि बतलाते रहें और इङ्गलैण्ड के कारख़ानेदार जर्मनी की प्रतिद्वन्द्विता का कारण भले ही रेल-किराये का थोड़ा अन्तर बतलाते रहें, वे भले ही प्रश्नों के छोटे-छोटे पहलुओं को ही देखते रहें और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक बातों को छोड़ते रहें, परन्तु यह तो निश्चित ही है कि जो मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धे पहले इंग्लैंड और फ्रान्स के हाथों में थे, वे अब पूर्व की ओर जर्मनी में बढ गये हैं। जर्मनी कार्य शक्ति से भरा हुआ एक नया देश था, वहाँ के मध्यम वर्ग के लोग बुद्धिमान थे, और वे भी विदेश से व्यापार करके धनी बनना चाहते थे।

इधर जर्मनी फ्रांस और इङ्गलैंड की औद्योगिक अधीनता से मुक्त हो गया। वह अपना कपड़ा आप बनाने लगा, उसने अपनी मशीनें आप खड़ी करलीं, और वह वास्तव में सब प्रकार का माल बनाने लगा। उधर मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धे रूस में भी उत्पन्न होगये। रूस के उद्योग-धन्धों का विस्तार नया-नया होने के कारण बडा शिक्षाप्रद है।

१८६१ में जब रूस में कृषक-दासता का अन्त हुआ था, तब वहाँ प्रायः एक भी कारख़ाना नहीं था। मशीनें, रेलें, रेलवे-एंजिन, बढ़िया कपड़ा और वस्त्र-सम्बन्धी सामान आदि जो-कुछ आवश्यक होता था सब पश्चिमी यूरोप से आया करता था। पर उसके बीस साल बाद ही रूस में ८५,००० कारख़ाने क़ायम हो गये और रूस के तैयार माल का मूल्य चौगुना होगया।

पुरानी मशीनरी को हटा कर नई लगा दी गई। अब रूस में प्रायः सारा फ़ौलाद, तीन-चौथाई साधारण लोहा, दो-तिहाई कोयला, सारे

रेलवे-एंजिन, रेल की गाड़ियाँ एवं पटरियाँ और प्रायः सारे जहाज़ वहीं तैयार हो जाते हैं।

अर्थशास्त्रियों ने तो लिखा था कि रूस देश बनाया ही इसलिए गया है कि वह केवल खेती करता रहे, परन्तु वह शीघ्र ही एक औद्योगिक देश बन गया। वह इङ्गलैंड से प्रायः कुछ भी माल नहीं मँगाता, और जर्मनी से भी बहुत थोड़ा मँगाता है।

अर्थशास्त्री इन बातों का कारण आयात-निर्यात-कर बताते हैं। फिर भी रूस में बना हुआ सूती माल उसी क़ीमत पर बिकता है जिस क़ीमत पर लन्दन में। पूँजी की न कोई मातृभूमि है, न कोई धर्म अथवा जाति। जर्मनी और इङ्गलैंड के पूँजीपतियों ने अपने अपने यहाँ के इञ्जीनियरों और फोरमैनों की सहायता से रूस और पोलैण्ड में भी कारख़ाने क़ायम कर दिये, और वहाँ तैयार होनेवाला माल इङ्गलैंड के बढ़िया-से-बढ़िया माल की टक्कर लेने लगा। यदि भविष्य में आयात-निर्यात कर बन्द कर दिये जायँ, तो उससे उद्योग-धन्धों को लाभ ही होगा। हाल ही में ब्रिटेन के कारख़ानेदारों ने एक और ऐसा काम किया है जिससे पश्चिम से आनेवाले सूती और ऊनी माल को और भी आघात पहुँचा। उन्होंने दक्षिण और मध्य रूस में बेड्फोर्ड की बढ़िया-से-बढ़िया मशीनरी लगा कर बड़े-बड़े ऊन के कारख़ाने क़ायम कर दिये। अब रूस को इङ्गलैंड, फ्रांस और ऑस्ट्रिया से सिर्फ़ बहुत बढ़िया कपड़ा या ऊनी माल मँगाने की जरूरत रहती है। अन्य माल उसी देश में निज के कारख़ानों और घरेलू धन्धों द्वारा, तैयार हो जाता है।

प्रधान-प्रधान उद्योग-धन्धे न केवल पूर्व दिशा की ओर ही अग्रसर हुए हैं, प्रत्युत् वे दक्षिण के प्रायद्वीपों में भी बढ़ रहे हैं। १८८४ में ट्यूरिन (इटली) में प्रदर्शिनी हुई थी और उसीमें इटली के तैयार माल की उन्नति स्पष्ट प्रकट होती थी। फ्रांस और इटली के मध्यमवर्गों में जो पारस्परिक द्वेष है उसका कारण भी औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता ही है। स्पेन भी

औद्योगिक देश बनता जा रहा है। पूर्व में बोहेमिया एक दम बड़े महत्व का औद्योगिक केन्द्र बन गया है, जिसमें उन्नत मशीनरी और श्रेष्ठ वैज्ञानिक तरीकों से काम होता है।

मुख्य-मुख्य उद्योग-धन्धों की उन्नति के विषय में हम हंगरी का भी उदाहरण दे सकते हैं। परन्तु हम ब्रेजील का ही उदाहरण क्यों न लें? अर्थशास्त्रियों ने तो कह दिया था कि ब्रेज़ील को प्रकृति ने बनाया ही इसलिए है कि वह रुई उत्पन्न करे, उस कच्ची रुई को विदेशों में निर्यात करे, और बदले में यूरोप से तैयार कपड़ा मँगाया करे। वस्तुतः चालीस वर्ष पहले ब्रेज़ील में सिर्फ़ नौ टूटे फूटे कपड़े के कारखाने थे, जिनमें ३८५ तकुए चला करते थे। आज उस देश में १६० रुई की मिलें हैं, जिनमें १५,००,००० तकुए और ५०,००० कर्घे लगे हुए हैं तथा जिनके द्वारा ५० करोड़ गज कपड़ा प्रति वर्ष तैयार किया जाता है।

मेक्सिको भी यूरोप से कपड़ा नहीं मँगाता और अपने देश में ही सफलतापूर्वक सारा सूती कपड़ा बना लेता है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) ने तो यूरोप की सरपरस्ती को बिलकुल हटा दिया और अपनी औद्योगिक शक्तियों को बहुत अधिक विकसित और उन्नत बना लिया है।

परन्तु राष्ट्रीय उद्योगों के विशेषीकरण (specialization) के सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण भारतवर्ष का है।

विशेषीकरण का सिद्धान्त हम सबको ज्ञात है। यूरोप के बड़े-बड़े राष्ट्रों को उपनिवेशों की आवश्यकता हुआ करती है। उपनिवेश मातृदेश को—रूई, ऊन, खाद्य पदार्थ, मसाले आदि—कच्चा माल भेजते हैं और मातृदेश उनको तैयार माल भेजने के बहाने अपना रद्दी माल, रद्दी मशीनें रद्दी लोहा, और अपने उपयोग में न आ सकने वाला सब सामान भेज देता है। इस माल का खर्चा तो कुछ भी नहीं, या बहुत ही कम, पड़ता है; फिर भी उसके ऊँचे दाम वसूल हो जाते हैं।

यही वह सिद्धान्त था—और यही बात बहुत समय तक व्यवहार

में आती रही। लन्दन और मैन्चेस्टर में तो बड़ी-बड़ी सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी और भारतवर्ष का दिन-प्रतिदिन नाश होने लगा। लन्दन के भारतीय अजायबघर में वह अश्रुतपूर्व धन देखा जा सकता है, जिसे अंग्रेज़ व्यापारियों ने कलकत्ता और बम्बई में इकट्ठा किया था।

परन्तु अन्य अंग्रेज़ व्यापारियों और पूँजीपतियों ने यह सीधी-सी बात सोची कि दो या ढाई करोड़ पाउण्ड का माल दूर से मँगाने के बजाय भारतवासियों के लूटने का यही तरीक़ा अच्छा होगा कि भारत में ही सूती कपड़ा तैयार किया जाय।

प्रारम्भ में इस प्रकार के अनेक प्रयोग असफल सिद्ध हुए। भारतीय बुनकर, जो अपने धन्धों में कला कुशल और विशेषज्ञ थे, कारख़ानों के जीवन के आदी न बन सके। लिवरपूल से भेजी हुई मशीनरी ख़राब थी। आब-हवा का भी उचित ध्यान रखने की ज़रूरत थी। भारतवर्ष की नई परिस्थितियों पर अब तो अधिकार हो चुका है, परन्तु प्रारम्भ में व्यापारियों को नई परिस्थिति के अनुकूल अपनेको बनाने में समय लगा। अब भारतवर्ष इंग्लैण्ड का काफ़ी मज़बूत प्रतिद्वन्द्वी हो गया है।

भारत में अब २०० से ज्यादा सूती कपड़े की मिलें हैं। उनमें २,३०,००० मज़दूर काम करते हैं। ६०,००,००० तकुए और ८०,००० कर्घे हैं। ४० जूट की मिलें हैं, जिनमें ४,००,००० तकुए हैं।× भारत हर साल चीन, डच पूर्वीय द्वीपों और अफ़्रिका को लगभग अस्सी लाख पाउण्ड का वैसा ही सफ़ेद सूती माल भेजता है, जैसा कि इंग्लैण्ड का विशेष प्रकार का माल होता था। इधर तो इंग्लैण्ड के मज़दूर प्रायः बेकार और मोहताज रहते हैं, और उधर भारत की स्त्रियाँ छः पेन्स (छः

×ये समस्त अङ्क यूरोपीय महासमर से पूर्व, सन् १९१०-११ के हैं। इसके पश्चात् भारतीय उद्योग धन्धों ने आश्चर्यजनक उन्नति और विस्तार किया है। —अनुवादक।

आने) की रोजाना मज़दूरी पर कपड़ा बुनती हैं और वह कपड़ा सुदूरपूर्व के देशों को भेजा जाता है। इंग्लैण्ड के दूरदर्शी कारख़नेदार यह समझने लग गये हैं, कि अब वह दिन दूर नहीं है जब कि विदेशों के निर्यात के लिए कपड़ा बुननेवाले कारखानों के मजदूरों के लिए कोई काम शेष नहीं रहेगा। इसके अलावा, ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि अब भारत इंग्लैण्ड से एक टन भी लोहा न मँगायगा। भारतवर्ष के कोयले और कच्चे लोहे को व्यवहारोपयोगी बनाने में प्रारम्भ में जो कठिनाइयाँ थीं वे अब हट गई हैं, और इंग्लैण्ड का मुक़ावला करनेवाले लोहा ढालने के कारख़ाने भारतीय समुद्र तट पर खड़े हो गये हैं।

उपनिवेश भी तैयार माल बनाने में अपने मातृदेश का मुक़ावला कर रहे हैं—बीसवीं सदी के अर्थशास्त्र पर केवल इसी बात का प्रभाव रहेगा।

भारतवर्ष भी तैयार माल क्यों न बनाय? बाधा क्या हो सकती है? यदि इसके लिए पूँजी की आवश्यकता का प्रश्न हो, तो पूँजी तो ऐसी वस्तु है जो प्रत्येक ऐसे स्थान पर पहुँच सकती है, जहाँके आदमी इतने ग़रीब हों कि उनको लूटकर अपना स्वार्थ-साधन किया जा सके। यदि ज्ञान एवं जानकारी का प्रश्न हो, तो, ज्ञान तो राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघ कर हर जगह पहुँच जाता है। यदि यन्त्रों और उद्योगों के जानकार श्रमिकों का प्रश्न हो, तो आज वह भी नहीं है। आजकल इंग्लैण्ड के कपड़े के कारख़ानों में अठारह-अठारह वर्ष से भी कम आयु के जो लाखों लड़के-लड़कियाँ काम कर रहे हैं, भारत के श्रमिक उनसे कुछ कम नहीं हैं।

२

राष्ट्रों के प्रधान-प्रधान उद्योग-धन्धों पर दृष्टिपात करने के बाद हमें कुछ विशेष शाखाओं पर भी निगाह डालनी चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रेशमी माल प्रधानत फ्रान्स में ही तैयार होता था। लियोन्स नगर रेशम के व्यवसाय की मंडी थी। पहले

तो पक्का माल तैयार करने के लिए कच्चा रेशम दक्षिण फ्रान्स से ही इकट्ठा किया जाता था; फिर थोड़ा-थोड़ा इटली, स्पेन, आस्ट्रिया, काकेशस और जापान से भी मँगाया जाने लगा। १८७५ में लियोन्स और उसके समीप के स्थानों में पचास लाख किलो (Kilos) कच्चे रेशम का कपड़ा तैयार किया गया था और उसमें से फ्रान्स का कच्चा रेशम सिर्फ़ चार लाख किलो था। परन्तु जैसे लियोन्स बाहर से मँगा-मँगा कर रेशम के कपड़े बुन सकता था, वैसे ही स्विट्ज़रलैण्ड, जर्मनी, रूस भी तो बुन सकते थे। फलतः ज्यूरिच नगर के आस-पास के ग्रामों में रेशम की बुनाई का काम होने लगा। बाले (Bale) नगर रेशम-व्यवसाय का बड़ा केन्द्र बन गया। काकेशियन सरकार ने जार्जियावासियों को उन्नत-प्रणाली से रेशम के कीड़े पालने और काकेशियावासियों को रेशम-बुनाई का काम सिखाने के लिए मार्सेलीज से कुछ स्त्रियों और लियोन्स के कुछ कारीगरों को बुलाया और अपने यहाँ रक्खा। आस्ट्रिया ने भी ऐसा ही किया। इसके बाद जर्मनी ने भी लियोन्स कारीगरों की सहायता से बड़े-बड़े रेशम के कारखाने खड़े कर लिये यूनाइटेड स्टेट्स ने भी पेटर्सन में अपने कारखाने बना लिये।

आज रेशम के व्यवसाय पर सिर्फ़ फ्रान्स का ही एकाधिकार नहीं रह गया है। अब रेशमी माल जर्मनी में, आस्ट्रिया में, यूनाइटेड स्टेट्स में और इंग्लैण्ड में बनता है, और, अनुमान है कि, फ्रान्स में जितना रेशमी कपड़ा खपता है उसमें से एक तिहाई माल बाहर से आता है। शीतकाल में कॉकेशिया के किसान इतनी कम मज़दूरी पर रेशमी रूमाल बुनकर तैयार कर देते हैं कि यदि लियोन्स के बुनकरों को वह मज़दूरी मिले तो वे भूखों मर जायँ! इटली और जर्मनी फ्रान्स को अपना रेशमी माल निर्यात करते हैं। लियोन्स सन् १८७०-४ में ४६ करोड़ फ्रेन्क का रेशमी कपड़ा बाहर भेजता था, पर अब उससे आधा ही माल निर्यात करता है। वस्तुतः वह समय आ रहा है जब लियोन्स केवल उच्च श्रेणी का

माल ही जर्मनी, रूस और जापान को, नये नये नमूनों की भाँति, भेजने लगेगा।

यही अवस्था सब उद्योग धन्धों की है। बेल्जियम के हाथ में कपड़े के उद्योग का एकाधिकार नहीं रहा। कपड़ा जर्मनी में, रूस में, आस्ट्रिया में, और यूनाइटेड स्टेट्स में बनने लगा है। स्विट्‌जरलैण्ड और फ्रेन्चज्यूरा के पास घड़ियों के उद्योग का एकाधिकार नहीं रहा। घड़ियाँ सब जगह बनने लग गई हैं। रूस में आनेवाली शुद्ध शक्कर स्काटलैण्ड की विशेषता न रही, अब तो रूस की शुद्ध शक्कर उलटा इंग्लैण्ड मँगाता है। इटली के पास न तो कोयला है न लोहा, फिर भी वह अपने युद्ध के जहाज़, और अपने स्टीमर जहाज़ों के एंजिन स्वयं निर्माण कर लेता है। रासायनिक वस्तुओं का उद्योग इंग्लैण्ड के एकाधिकार में नहीं रहा। गंधक का तेजाब और सोडा यूराल प्रदेश में भी बनने लगा है। विण्टरगृह के बने हुए स्टीम-एंजिन सब जगह प्रसिद्ध हो गये है। स्विट्‌जरलैण्ड के पास भी आजकल न तो कोयला है न लोहा; और न कोई ऐसा बन्दरगाह जिससे ये चीज़ें बाहर से मँगाई जा सकें। केवल उसके पास यन्त्रों और उद्योगों सम्बन्धी अच्छे-अच्छे शिक्षालय हैं, फिर भी वह इंग्लैण्ड से भी अच्छी और सस्ती मशीनरी बनाता है। इस प्रकार विनिमय(Exchange) के सिद्धान्त की समाप्ति हो जाती है।

और बातों की तरह व्यापार की प्रकृति भी निष्केन्द्रीकरण की ओर है।

सब राष्ट्र इसी बात को हितकर समझते हैं कि वे खेती के साथ-साथ सब प्रकार के कारखाने भी चलायँ। जिस विशेषीकरण की अर्थशास्त्री लोग इतनी तारीफ किया करते थे, उससे बहुत से पूँजीपति धनाढ्य तो अवश्य हुए; परन्तु अब वह व्यर्थ है। प्रत्युत प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक राष्ट्र का लाभ इसीमें है कि वह अपना-अपना गेहूँ, अपने-अपने फल फूल स्वयं ही उत्पन्न करे और स्वयं ही अपने उपयोग का

अधिकांश औद्योगिक माल तैयार कर लिया करे। यदि परस्पर सहयोग से उत्पत्ति को खूब बढ़ाना है, तो यह परिवर्तन करना ही पड़ेगा। इसीसे मनुष्यजाति की प्रगति होगी। विशेषीकरण तो अब प्रगति का बाधक हो गया है।

कारखानों के समीप रहकर ही कृषि अपनी उन्नति कर सकती है। जहाँ एक भी कारखाना खड़ा होता है वहाँ असंख्य प्रकार के विविध कारखाने उसके पास अवश्य खड़े हो जाते हैं। अपने-अपने आविष्कारों से परस्पर सहायता और उत्तेजना देते हुए वे अपनी-अपनी उत्पत्ति को बढ़ाते हैं।

३

वास्तव में यह बहुत बड़ी मूर्खता है कि गेंहू तो बाहर भेज दिया जाय और पिसा हुआ आटा बाहर से मँगाया जाय, ऊन तो बाहर भेजी जाय और उसका बुना हुआ कपड़ा मँगाया जाय, लोहा बाहर निर्यात किया जाय और लोहे की बनी मशीनरी मँगाई जाय। इस माल के लाने-लेजाने में समय और धन का नाश तो होता ही है, परन्तु और भी हानियाँ होती हैं। यदि देश के उद्योग-धन्धे उन्नत अवस्था में न होंगे तो उसकी कृषि भी पिछड़ी हुई अवस्था में रहेगी। यदि देश में लोहे का तैयार माल बनाने के बड़े-बड़े कारखाने न होंगे, तो उसके अन्य सारे उद्योग-धन्धे अवनत अवस्था में रहेंगे ही। यदि तरह-तरह के उद्योग धंधों में देश की उद्योग और यन्त्र-सम्बन्धी योग्यता काम में न लाई जायगी, तो वह योग्यता अवनत अवस्था में ही पड़ी रहेगी।

आजकल सब प्रकार की उत्पत्ति का परस्पर एक दूसरे से संबंध है। यदि मशीनरी न हो, यदि बड़े बड़े आबपाशी के साधन न हों, यदि रेलें न हों और यदि खाद बनाने के कारखाने न हों, तो आजकल कृषि हो ही नहीं सकती। इस मशीनरी, इन रेलों, इन आबपाशी के एञ्जिनों आदि को स्थानीय परिस्थिति में व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक

है कि लोगों की आविष्कार-प्रवृत्ति और यन्त्रों संबंधी कुशलता कुछ बढ़ाई जाय। परन्तु यदि फावड़े और हल से ही लोग खेती करते रहेंगे, तो उनकी आविष्कार की प्रवृत्ति और यान्त्रिक कुशलता सुषुप्त अवस्था में ही पड़ी रहेगी।

यदि खेती अच्छी तरह से करनी है और ज़मीन से बहुत अच्छी फसलें प्राप्त करनी है, तो यह आवश्यक है कि खेतों के पास ही साधारण कारखाने, ढलाई के कारखाने और औद्योगिक फ़ैक्टरियाँ खड़ी की जायें। अनेक प्रकार के धन्धों और तत्सम्बन्धी अनेक प्रकार की कुशलताओं के होने की बड़ी ज़रूरत हैं। उन सब धन्धों और कुशलताओं का लक्ष्य एक ही होना चाहिए। इनसे ही वास्तविक प्रगति हो सकती है।

अब कल्पना कीजिए कि एक नगर या एक प्रदेश है—चाहे छोटा हो चाहे बड़ा। वहाँ के निवासी साम्यवादी क्रान्ति की तरफ पहली बार बढ़ रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि कोई भी परिवर्तन न होगा। खानें, कारखाने आदि व्यक्तिगत स्वामियों के हाथों से ले लिये जायँगे और राष्ट्रीय या पञ्चायती घोषित कर दिये जायँगे। प्रत्येक आदमी अपना-अपना काम पूर्ववत् करने लगेगा, और क्रान्ति सफल हो जायगी।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि किसी बड़े शहर में क्रान्ति हो जाय और श्रमिकों के क़ब्जे में कारखाने, मकानात और बैंक आ जायँ, तो इतने से ही वर्तमान उत्पत्ति बिलकुल बदल जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द हो जायगा। बाहर से आनेवाली भोजन-सामग्री भी बन्द हो जायगी। खाने-पीने और व्यवहार की चीज़ों का क्रय-विक्रय बन्द हो जायगा। उस अवस्था में मजबूरन क्रान्ति करनेवाले नगर या प्रदेश को अपनी जरूरत की चीजों की पूर्ति खुद करनी पड़ेगी और उत्पत्ति का प्रबन्ध करना पड़ेगा। यदि वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति स्वयं न करेगा और न उत्पत्ति का पुनर्संगठन करेगा, तो उसका नाश अवश्य हो

जायगा। यदि वह कर लेगा, तो उससे देश का आर्थिक जीवन बिलकुल ही बदल जायगा।

बाहर से आनेवाली भोजन सामग्री कम हो जायगी, खपत बढ़ जायगी। जो दस लाख नगरवासी विदेशी निर्यात् के धन्धों में लगे थे वे बेकार हो जायँगे। बाहर से आनेवाला विविध माल नियमित रूप से यथास्थान न आ पायगा, और शौक़ की चीज़ों का व्यवसाय कुछ समय के लिए रुक जायगा। इस अवस्था में क्रान्ति के छः महीने बाद नगरनिवासी खाने को कहाँ से लायँगे?

हमारा ख़याल है कि जब पंचायती भण्डारों की भोजन-सामग्री समाप्त हो जायगी, तब जनता खेती करके अन्न उत्पन्न करने का विचार करेगी। जब लोग समझ लेंगे कि अपने शहर और उसकी हद के भीतर जितनी भूमि है उसपर खेती करना, और खेती के साथ औद्योगिक उत्पत्ति करना आवश्यक है। उन्हें शौक़ की चीज़ों के धन्धे छोड़ने पड़ेंगे और रोटी की परम आवश्यकता की ओर ध्यान देना पड़ेगा।

शहरों के बहुसंख्यक निवासियों को खेती करनी पड़ेगी। वे उस तरह खेती न करेंगे जिस तरह आजकल के किसान करते हैं। ये बेचारे तो काम करते-करते जीर्ण हो जाते हैं, और मुश्किल से सालभर पेट भरने लायक़ अन्न पैदा कर पाते हैं। परन्तु वे उन नियमों से खेती करेंगे जिनसे थोड़े स्थान में घनी खेती होती है। जिन तरीक़ों को फल फूल उत्पन्न करने-वाले कृषि विशेषज्ञ अपने बाग़ में काम लाते हैं, उन्हीं तरीक़ों को वे लोग विस्तार से सारी कृषि पर काम में लायँगे, और मनुष्य की ईजाद की हुई बढ़िया से बढ़िया मशीनरी से काम लेंगे। तथापि वे दबे हुए देहाती किसानों की तरह खेती न करेंगे। जिस व्यक्ति ने पेरिस में जवाहरात का धन्धा किया है वह कैसे उस ढंग को पसन्द कर सकता है? वे तो उससे भी अच्छे नियमों पर कृषि का संगठन करेंगे, और यह संगठन भविष्य में

नहीं, बल्कि क्रान्ति के शत्रुओं से कहीं पराजित न हो जायँ इस भय से, तत्काल क्रान्ति के संग्राम के समय में ही करना पड़ेगा।

कृषि का काम बुद्धियुक्त ढंग पर चलाना पड़ेगा। जिस तरह सौ वर्ष पहले केम्प डि मार्स में संघ के प्रीतिभोज (Feast of the Federation) के लिए लोगों ने काम किया था, उसी तरह लोग एक आनन्द-दायक कार्य के लिए अपनी-अपनी टोलियाँ बनायेंगे। वे वर्तमान समय के सारे अनुभवों का लाभ उठाते हुए प्रसन्नता से काम करेंगे। वह काम आनन्द का काम होगा और इतना न किया जायगा कि अति हो जाय। उसकी योजना विज्ञान के अनुकूल होगी। मनुष्य औज़ारों को स्वयं ईजाद करेगा, और उनमें उन्नति करेगा। उसे सदा इस बात का अनुभव होता रहेगा कि वह समाज का एक उपयोगी व्यक्ति है।

वे लोग केवल गेहूँ और जौ ही उत्पन्न न करेंगे। वे उन चीज़ों को भी उत्पन्न करेंगे जिनको वे पहले बाहर के प्रदेशों से मंगाते थे। जो ज़िले क्रान्ति का साथ न देंगे, वे भी क्रान्तिकारियों के लिए 'बाहर के प्रदेश' हो सकते हैं। १७९३ और १८७१ की क्रान्तियों में पेरिस के दरवाज़े के बाहर का प्रदेश भी पेरिस के साथ न था। वही उसका 'बाहर का प्रदेश' बन गया था। वार्सेलीज़ के षड्यन्त्रकारियों ने जर्मनी की फ़ौजें फ्रान्स में बुला-कर जिस तरह लोगों को भूखों मारा था उसी तरह, अथवा उससे भी अधिक, ट्रोयज़ के गल्ले के सट्टेबाजों ने १७९३ और १७९४ में पेरिस के प्रजातन्त्रवादियों को भूखों मारा था। क्रान्ति करनेवाले नगर को इन 'विदेश-वासियों' के बिना ही काम चलाना पड़ेगा। और काम चलाया भी जा सकता है। महाद्वीप के घेरे के समय, जब शक्कर की कमी पड़ गई थी, तब फ्रान्स ने चुकन्दर की जड़ की शक्कर निकाली थी। पेरिसवासियों को जब बाहर से शोरा मिलना बन्द हो गया, तो उन्होंने अपने तहखानों में से शोरा निकाला। तब फिर आजकल जब कि विज्ञान का इतना विस्तार हो गया है, क्या हम लोग अपने पूर्वजों से पीछे रहेंगे ?

क्रान्ति का अर्थ प्रचलित राजनैतिक पद्धति का केवल परिवर्तन हो जाना ही नहीं है; उससे कुछ अधिक है। क्रान्ति से मनुष्य की बुद्धिमत्ता जागृत हो जाती है; आविष्कार की प्रवृत्ति दसगुनी और सौगुनी बढ़ जाती है। उसके द्वारा नये विज्ञान का अरुणोदय होता है। उसके द्वारा लापलेस, लेमार्क, लेवायशे जैसे मनुष्यों के विज्ञान का प्रभात होता है। जितना परिवर्तन मनुष्यों की संस्थाओं में होता है, उतना ही और उससे भी अधिक परिवर्तन मनुष्यों के मन और बुद्धि में होता है।

आश्चर्य है कि, फिर भी, कुछ अर्थशास्त्री लोग यह कहते हैं कि 'क्रांति हो जाने' के बाद लोग पूर्ववत् कारखानों में काम करने लगेंगे। वे समझते हैं कि क्रान्ति करना ऐसा ही है जैसा जंगल की सैर के बाद घर को लौट आना। पहले-पहले तो जब मध्यमवर्गीय सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा किया जायगा तभी कारखाने, जहाज़ी अड्डे और फ़ैक्टरियों के सारे आर्थिक जीवन को पूर्णतः नये तरीक़े से संगठित करना जरूरी हो जायगा।

क्रान्ति अवश्य इस प्रकार से काम करेगी। यदि पेरिस साम्यवादी क्रान्ति के समय, एक या दो वर्ष, मध्यमवर्गीय शासन के समर्थक लोगों द्वारा दुनिया से अलग कर दिया जाय, तो वहाँ जो लाखों विद्या-बुद्धि वाले लोग होंगे वे बाहर की सहायता लिये बिना ही सूर्य, वायु और पृथ्वी की शक्तियों से ही काम चला कर बता देंगे। मनुष्य का मस्तिष्क जितने आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है वह सब करके बता देंगे।

हम देख सकेंगे कि परस्पर सहयोग देते हुए और क्रान्ति की भावना से भरे हुए वहाँ के लोग विविध व्यवसायों को खड़े कर लेंगे। उन व्यवसायों से लाखों विद्या-बुद्धि युक्त मनुष्यों के लिए भोजन, वस्त्र, मकानात का पूर्ण प्रबन्ध हो जायगा और शौक़ तथा विलास की सामग्री भी प्राप्त हो सकेगी।

हमें बहुत से क़िस्से-कहानियों के द्वारा इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। हमें इसका पूरा निश्चय है। इस विषय के अनेक

प्रयोग किये जा चुके हैं और वे व्यावहारिक माने जाने लगे हैं। यदि क्रांति के प्रयत्न सफल हों, लोगों की आत्माओं में क्रान्ति की भावना हो और जनता में अपनी स्वाभाविक प्रेरणा हो, तो अबतक के जितने प्रयोग सफल हो चुके हैं, उनसे ही उपर्युक्त बातें कार्यान्वित की जा सकती हैं।

[१७]

कृषि

१

राजनैतिक अर्थशास्त्र के समस्त निष्कर्ष एकमात्र इस मिथ्या सिद्धान्त पर स्थित हैं कि मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर ही अपनी उत्पादन शक्ति को बढ़ाता है। लोग इस सिद्धान्त को राजनैतिक अर्थशास्त्र का एक दोष बताते हैं।

वस्तुतः यह दोषारोपण बिलकुल सत्य है। जब-जब ऐसा युग आया जिसमें मनुष्यों के हृदय में सबके कल्याण की भावना प्रबल रही और जिसमें स्वार्थ साधन का विचार न्यूनतम रक्खा गया, तब तब ही महान् औद्योगिक अन्वेषण और महान् औद्योगिक प्रगति हुई। विज्ञान के बड़े-बड़े अन्वेषकों और आविष्कारकों के हृदयों में सबसे प्रधान लक्ष्य यही था कि मनुष्यजाति अधिक स्वतन्त्र हो। यदि वाट, स्टीफ़नसन, जेकर्ड आदि आविष्कारकों को इसका आभासमात्र मिल जाता कि जिस काम के लिए वे रात-रात जागते हैं उसके कारण भविष्य में श्रमजीवियों की बड़ी दुर्दशा हो जायगी, तो निश्चय ही उन्होंने अपने डिज़ाइन जला दिये होते और नमूने तोड़-फोड़ दिये होते।

राजनैतिक अर्थशास्त्र का और भी एक मूल-सिद्धान्त है और वह भी इतना ही झूठा है। सारे अर्थशास्त्री अप्रकट-रूप से यह मानते हैं कि किसी-किसी उद्योग में अति उत्पत्ति हो जाती है, फिर भी वे कहते हैं कि समाज की उत्पत्ति कभी इतनी काफ़ी नहीं हो सकती कि सबकी आवश्य-

कतायें पूरी हो सकें। और, इसलिए, ऐसा समय कभी नहीं आ सकता जब मज़दूरी या वेतन पाने के लिए किसी न-किसी को दूसरे की महनत न करनी पड़े। अर्थशास्त्रियों के सारे उसूल और 'नियम' इसी सिद्धान्त पर निर्भर हैं।

परन्तु यह निश्चय है कि जिस दिन कोई सभ्य समाज इस बात की तलाश करेगा कि सबकी आवश्यकतायें क्या-क्या हैं और हमारे पास उनकी पूर्ति के साधन कितने हैं उसी दिन उसे मालूम हो जायगा कि यदि उसे यह ज्ञान हो कि सच्ची आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों को किस तरह काम में लाया जाय तो सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य हो सकती है। कृषि-सम्बन्धी आवश्यकतायें और औद्योगिक आवश्यकतायें दोनों की पूर्ति, भली प्रकार से, वर्तमान साधनों के द्वारा ही हो सकती है।

सबकी औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, इस बात का विरोध तो कोई कर ही नहीं सकता। जिन तरीक़ों से आजकल कोयला और कच्चा लोहा निकाला जाता है, फौलाद प्राप्त करके उसकी चीज़ें बनाई जाती हैं, बड़े पैमाने पर कपड़ा आदि माल तैयार किया जाता है, उसका सब अध्ययन करके यह कहा जा सकता है कि अब भी वर्तमान उत्पत्ति को चारगुना या इससे भी अधिक बढ़ा सकते हैं। परन्तु इन तरीक़ों का प्रयोग आजकल के काम के घन्टों को कम करने में किया जाना चाहिए।

पर हम तो इससे एकदम और आगे बढ़ते हैं। हमारा कथन है कि कृषि की भी ठीक यही अवस्था है। जिस तरह उद्योग-धन्धों वाले अपनी उत्पत्ति को, चौगना ही नहीं, दसगुना बढ़ा सकते हैं उसी तरह कृषि करने वाले भी आज अपनी उत्पत्ति को, चौगुना ही नहीं, दसगुना बढ़ा सकते हैं। ज्योंही उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता प्रतीत हो, ज्योंही पूँजीवादी संगठन के स्थान पर साम्यवादी संगठन स्थापित हो जाय, त्योंही वे ऐसा करके दिखा भी सकते हैं।

जब कभी कृषि का नाम आता है, हमारे सामने एक ऐसे किसान का चित्र आखड़ा होता है जो कमर झुकाये हुए हल चला रहा है, अण्ट-शण्ट तरीक़ों से ख़राब बीज खेत में बो रहा है, और ऋतु के भरोसे यह प्रतीक्षा करता हुआ बैठा रहता है कि देखें कितना उत्पन्न होता है और कितना नहीं। खेती का नाम आते ही एक ऐसे परिवार का चित्र सामने आजाता है जो सुबह से लेकर शाम तक कठोर श्रम करता है और जिसे बड़ी मुश्किल से मामूली बिस्तर और सूखी रोटी ही प्राप्त हो पाती है।

जो कृषक-समुदाय इस दयनीय-अवस्था को प्राप्त हो गया है उसके लिए समाज यदि अधिक से-अधिक कुछ करना चाहता है तो यही कि उनका टैक्स या लगान कुछ कम कर दिया जाय। परन्तु बड़े-से-बड़े समाज-सुधारक की कल्पना में भी यह बात नहीं आती कि किसान भी किसी दिन अपनी कमर सीधी करके आराम का वक्त पा सकता है और वह भी रोज़ कुछ घंटे काम करके, अपने परिवार के पोषण के लिए ही नहीं बल्कि, कम-से-कम सौ अन्य मनुष्यों के पोषण के लायक़ भी अन्न उत्पन्न कर सकता है। साम्यवादी लोग भी जब भविष्य की अधिक-से-अधिक सुन्दर कल्पना करते हैं, तो वे अमेरिका की विस्तृत खेती से आगे नहीं जा पाते। पर वास्तव में वह तो कृषिकला की बाल्यावस्था ही है।

परन्तु विचारशील किसान के विचार अधिक विस्तृत हैं। उसकी कल्पनायें अधिक बड़े पैमाने की हैं। वह कहता है कि एक परिवार के लायक़ फल और शाक एक एकड़ से भी कम भूमि में उत्पन्न हो सकता है। जितनी जगह में पहले एक पशु के लायक़ घास उत्पन्न होता था उसमें अब पचीस पशुओं के लायक़ हो सकता है। उसका विचार है कि कृषि की मिट्टी ही अलग तैयार की जाय, ऋतु और जल-वायु के विपरीत भी फ़सल पैदा की जाय और छोटे-छोटे पौधों के आस-पास की वायु और ज़मीन दोनों में नक़ली गरमी पहुँचाई जाय। विचार शील किसान का अनुमान है कि जितनी उत्पत्ति पहले पचास एकड़ भूमि में होती थी

उतनी उत्पत्ति वह एक एकड़ से ही कर सकता है। और उसके लिए भी अति परिश्रम करने की जरूरत न होगी, बल्कि काम के घण्टे भी कम कर दिये जायँगे। प्रसन्नता और आनन्द के साथ जितना समय दिया जा सकता है यदि केवल उतना ही समय खेती के काम के लिए दिया जाय, तो सबके खाने लायक़ पैदा किया जा सकता है।

कृषि-कला का रुख़ आजकल इसी तरफ़ है।

कृषि के रसायन सम्बन्धी सिद्धान्त को बनानेवाला लीबिग और अन्य वैज्ञानिक लोग तो केवल सिद्धान्तों में फँसे रहे और ग़लत रास्ते पर जा पहुँचे, परन्तु अपढ़ किसानों ने समृद्धि के नये नये द्वार खोल दिये। पेरिस, ट्रोयज, रुएन नगरों और इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड देशों के बाग़वानों ने, फ्लैण्डर्स और लोम्बार्डी के खेतीहरों ने, जर्सी गर्न्सी के किसानों ने और सिली द्वीपों के फार्मवालों ने कृषि सम्बन्धी ऐसे ऐसे आश्चर्य-जनक काम कर दिखाये हैं कि सहसा उनपर विश्वास नहीं होता। इन्हें देखकर भविष्य में कृषि की उत्पत्ति के बहुत अधिक बढ़ जाने की आशा होती है।

अबतक एक किसान परिवार को ज़मीन की उपज से ही अपना मामूली गुज़ारा करने के लिए सत्रह से बीस एकड़ तक ज़मीन की ज़रूरत हुआ करती थी। परन्तु यदि घनी खेती के उपायों को काम में लाया जाय तो एक परिवार की आवश्यकता-पूर्ति और शौक़ और विलास तक की पूर्ति के लिए कितनी ज़मीन की कम-से-कम ज़रूरत होगी, यह तो कहा ही नहीं जा सकता।

आज तो कृषि-सम्बन्धी विज्ञान के तरीक़े बहुत उन्नत हो चुके हैं, परन्तु आज से बीस साल पहले ही यह कहा जा सकता था कि ग्रेट ब्रिटेन में ही इतनी उत्पत्ति हो सकती है कि उससे तीन करोड़ जनता अच्छी तरह निर्वाह कर सकती है और बाहर से कुछ मंगाना न पड़े। पर अब तो हाल में ही फ्रान्स में, जर्मनी में और इंग्लैण्ड में कृषि-विज्ञान ने बहुत

उन्नति करली है, और अनुमान है कि कृषि की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ गई है, कई जगह हलकी ज़मीनों पर भी उत्पत्ति बहुत हुई है और यदि उस प्रकार से उत्पत्ति की जाय तो ग्रेट ब्रिटेन की भूमि पर इतना अन्न उत्पन्न हो सकता है कि वह पाँच या छः करोड़ से भी अधिक मनुष्यों के लिए काफ़ी होगा।

कम-से-कम इतना तो हम प्रमाणित ही मानते हैं कि यदि पेरिस और सीन एवम सीन-एट-ओइज़ के दोनों प्रदेश मिलकर अपना स्वावलम्बी साम्यवादी पंचायती संगठन बनाना चाहें और वहाँ सब आदमी शारीरिक श्रम करें तो वे सफलतापूर्वक ऐसा कर सकते हैं। चाहे सारी दुनिया उनको भोजन-सामग्री देने से इनकार कर दे, फिर भी वे अपनी आवश्यकता का सारा अन्न, माँस और शाक ही नहीं, बल्कि सबके लिए ऐसे फल आदि वस्तुयें भी काफ़ी परिमाण में उत्पन्न कर सकते हैं जो आज शाक की वस्तुयें समझी जाती हैं।

इसके साथ ही हमारा यह भी दावा है कि जितना श्रम इनकी भोजन-सामग्री के लिए आवर्ने और रूस में अन्न पैदा करने पर, थोड़ा-बहुत सब जगह शाक पैदा करने पर और दक्षिण में फलों को उत्पन्न करने पर विस्तृत कृषि-पद्धति से होता है, उस अवस्था में इससे बहुत कम श्रम में काम चल जायगा।

हम किसी प्रकार के विनिमय को बन्द करना नहीं चाहते। न हम यह चाहते हैं कि प्रत्येक देश में जो वस्तु साधारणतः उत्पन्न नहीं हो सकती उसे वहाँ कृत्रिम उपायों से ही उत्पन्न किया जाय। परन्तु हम इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि विनिमय के उसूल को जिस तरह से लोग आज मानते हैं उसमें भारी और अद्भुत अतिशयोक्ति है। विनिमय प्रायः निरर्थक और हानिकारक भी होता है। इसके अतिरिक्त, हमारा तो कहना यह है कि लोगों ने कभी इस बात पर विचार ही नहीं किया कि दक्षिण के अंगूर पैदा करने वालों और रूस और हंगेरी के अनाज

पैदा करनेवालों को कितना अधिक श्रम करना पड़ता है। यह श्रम बहुत कम हो जाय, यदि विस्तृत कृषि की वर्तमान पद्धति को छोड़कर घनी खेती की पद्धति को अपनाया जाय।

२

जिन उदाहरणों के आधार पर हमारा कथन है, उन सबको यहाँ उद्धृत करना असम्भव है। जो पाठक इस विषय में अधिक जानना चाहते हों वे मेरी दूसरी पुस्तक "Fields, factories, and workshops" को पढ़लें। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हैं उनसे हमारी सिफ़ारिश है कि वे उन कई अच्छी-अच्छी पुस्तकों को जो फ्रान्स आदि देशों से निकली हैं, पढ़लें। बड़े शहरों के रहने वालों को तो अभी तक इस संबंध में ज़रा भी वास्तविक ज्ञान नहीं है कि कृषि ने अबतक कितनी उन्नति करली है। उन्हें हमारी सलाह है कि वे शहरों के आसपास के फल-फूल तथा शाक के बाग़ों को जाकर देखें। वे बाग़वालों से जाकर सिर्फ़ जिज्ञासा करें और स्वयं निरीक्षण करें तो उन्हें मालूम होगा कि दुनिया बदल गई है। तब वे अनुमान कर सकेंगे कि बीसवीं शताब्दि के यूरोप की खेती कितनी बढ़ सकती है। यदि हमें यह रहस्य मालूम हो जाय कि जो-कुछ हमारी आवश्यकताएँ हैं वे सब ज़मीन से पूरी की जा सकती हैं, तब तो साम्यवादी क्रान्ति को बहुत बड़ा बल मिल जायगा।

कुछ ऐसी बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है जिनसे पाठकों को विदित होगा कि हमारा कथन किसी प्रकार भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। पर उसके पहले हम कुछ सूचनायें दे देना चाहते हैं।

यह तो सबको ज्ञात है कि यूरोप की खेती की अवस्था आज-कल बहुत बुरी है। किसान को अगर भूमिपति नहीं लूटता तो उसको लूटनेवाला राज्य मौजूद है। किसान पर अगर राज्य ने कर कम कर रक्खा है, तो किसी क़र्ज़ा देनेवाले ने उसे अपना गुलाम बना रक्खा है। शीघ्र ही

उसकी ज़मीन किसी पूँजीपति कंपनी के क़ब्ज़े में चली जाती है और वह केवल लगान देनेवाला कृपक रह जाता है। भूमिपति, राज्य और साहूकार सब लगान, टैक्स और ब्याज के रूप में उसे लूटते रहते हैं। उसपर लगनेवाली रक़म प्रत्येक देश में भिन्न भिन्न है, परन्तु उसकी सारी उत्पत्ति के चौथाई हिस्से से तो कहीं भी कम नहीं है और बहुधा आधे हिस्से तक पहुँच जाती है। फ्रान्स और इटली में तो कल तक किसान अपनी कुल उत्पत्ति में से ४४ प्रतिशत हिस्सा राज्य को दिया करता था।

इतना ही नहीं, भूस्वामी और राज्य का हिस्सा सदा बढ़ता ही जाता है। ज्योंही किसान अपने परिश्रम, आविष्कार या उत्साह से अपनी उत्पत्ति कुछ बढ़ा लेता है त्योंही इसे भूस्वामी, राज्य और साहूकार को अपनी आमदनी का उतना ही अधिक हिस्सा देना पड़ता है। यदि उसकी फ़सल प्रति एकड़ दुगुनी या तिगुनी पैदा होने लगे, तो लगान भी दुगुना या तिगुना हो जायगा। राज्य के कर भी दुगुने या तिगुने हो जायँगे और यदि क़ीमतें भी बढ़ जायँ तो राज्य अपना कर और भी बढ़ा देगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसान सब जगह रोज़ बारह से लेकर सोलह घण्टे तक काम करता है; ये तीनों लुटेरे उससे उसकी सारी बचत को लूट लेते हैं। जिस बचत के पैसे से वह अपनी खेती में कुछ उन्नति करता, वह इस प्रकार सारी-की-सारी लूट ली जाती है। इसी कारण कृषि इतने धीरे-धीरे प्रगति कर रही है।

जब-कभी इन तीनों महा प्रभुओं के बीच कोई झगड़ा हो जाता है, तो किसी अपवाद-स्वरूप परिस्थिति में या किसी भूले भटके प्रदेश में ही किसान कभी-कभी कुछ उन्नति कर लेता है। आमदनी का जितना हिस्सा वह कारखानेदार को तैयार माल के लिए दिया करता है उसका तो हमने ज़िक्र ही नहीं किया। मशीन, फावड़ा और रासायनिक खाद लागत से तिगुनी या चौगुनी क़ीमत पर उसको बेचा जाता है। इसके अतिरिक्त बीच वाले लोग तो खेती की उपज में से बड़ा हिस्सा पाते ही हैं।

इसी कारण इस आविष्कार और उन्नति के युग में, खेती में समय-समय पर और छोटे-छोटे क्षेत्रों में ही कुछ सुधार हुआ है।

जिस प्रकार बड़े-बड़े रेगिस्तानों में कहीं-कहीं तराई का सुन्दर प्रदेश हुआ करता है, सौभाग्य से उसी प्रकार कुछ ऐसे क्षेत्र बच गये हैं जिन्हें लुटेरों ने कुछ समय के लिए छोड़ दिया था। ऐसे ही कुछ क्षेत्रों में घनी खेती से मनुष्यजाति ने आश्चर्यजनक कर कार्य दिखलाये हैं । कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अमेरिका के मैदानों में साधारणत प्रति एकड़ २४४ से लेकर ४८० सेर × तक गेहूँ की उपज होती है, और कभी-कभी सूखा पड़ जाने से यह भी कम हो जाती है। परन्तु उसी प्रदेश में ५०० आदमी आठ महीने काम करके,५०,००० मनुष्यों के लिए साल भर का अन्न उत्पन्न करलेते हैं। पिछले तीन वर्षों में जो उन्नति हो चुकी है उसके कारण एक मनुष्य के वर्ष भर (३०० दिन) के श्रम से इतना गेहूँ पैदा होता है कि उसका आटा शिकागो शहर के २५० आदमियों के वार्षिक भोजन के लिए काफ़ी होता है। शारीरिक श्रम की बहुत बचत करके यह परिणाम प्राप्त किया गया है। उन बड़े बड़े मैदानों में हल चलाना, फ़सल काटना, और अनाज निकालना सारा काम प्रायः सैनिक ढंग से होता है। व्यर्थ का इधर-उधर घूमना नहीं होता और न समय ही नष्ट किया जाता है । सारा काम कवायद की भाँति नियमपूर्वक होता है।

यह पद्धति बड़े पैमाने पर विस्तृत कृषि की है। प्रकृति के द्वारा भूमि का उपयोग तो लिया जाता है, पर भूमि को सुधारने की कोशिश नहीं की जाती । ज़मीन में से भरपूर उपज लेने के बाद वे उसे वैसी ही छोड़ देते हैं। फिर किसी दूसरी नई ज़मीन की तलाश करते हैं और उस ज़मीन से भी अधिक-से-अधिक उपज लेकर उसे जीर्ण कर देते हैं । परन्तु

× मूल पुस्तक में बुशल में हिसाब दिया है । हमने ३२ सेर का बुशल मानकर सेरों में हिसाब दिया है।

"घनी" खेती की भी पद्धति है। वह आजकल मशीनरी से की जाती है। और उसका प्रचार और भी बढ़ेगा। घनी खेती का यह उद्देश्य है कि थोड़ी ज़मीन को अच्छी तरह कमाया जाय, खूब खाद डाली जाय, उसको सुधारा जाय, काम को अधिक केन्द्रीभूत किया जाय और उसमें से अधिक-से-अधिक उत्पत्ति प्राप्त की जाय। दक्षिण फ्रान्स में और पश्चिमी अमेरिका के उपजाऊ मैदानों में खेती करनेवाले लोग विस्तृत कृषि की पद्धति से फी एकड़ ३५२ से लेकर ४८० सेर तक की औसत उपज कर लेते हैं। परन्तु उत्तर फ्रान्स में घनी खेती के द्वारा नियमपूर्वक फी एकड़ १२४८ सेर, १७६० सेर, और कभी-कभी १९२० सेर तक, उपज कर लेते हैं। और हरसाल इस पद्धति का प्रचार अधिकाधिक बढ़ रहा है। इस प्रकार एक मनुष्य की वार्षिक आवश्यकता की वस्तुयें चौथाई एकड़ से भी कम ज़मीन में उत्पन्न हो जाती हैं।

खेती जितनी ही अधिक घनी की जायगी काम का समय भी उतना ही कम लगेगा। खेती में जो प्रारंभिक काम होता है, ज़मीन सुखाने और कंकड़-पत्थर निकालने आदि भूमि-सुधारने का जो काम होता है, वह मनुष्य नहीं करता। वह मशीन से हो जाता है और न उसे हर बार करने की ज़रूरत होती है। ऐसे कार्य से फ़सल दूनी हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि यदि ज़मीन में व्यर्थ घास फूस न उगने दिया जाय, तो खाद दिये बिना भी साधारण ज़मीन हर साल अच्छी फ़सल देती है। हर्टफ़ोर्डशायर में राथम स्टेड नामक स्थान पर लगातार चालीस वर्ष तक इसी तरह फ़सलें की गई हैं।

परन्तु कृषि के विषय में हमें कोई अतिशयोक्तिपूर्ण कहानी लिखने की आवश्यक्ता नहीं है। हम इतना ही मान लेते हैं कि प्रति एकड़ १४०८ सेर की उत्पत्ति हो सकती है। इसके लिए बहुत बढ़िया ज़मीन की भी ज़रूरत नहीं है, केवल बुद्धि-पूर्वक कृषि करने की आवश्यकता है। इसीसे अद्भुत परिणाम निकलते हैं।

: सीन और सीन-एट-ऑइज़ के दोनों प्रदेशों में ३६ लाख निवासी रहते हैं। उन्हें साल-भर के खाने के लिए ७०४० सेर से कुछ कम अनाज की आवश्यकता होती है। तो उतनी फ़सल प्राप्त करने के लिए उन्हें ४,९४,२०० एकड़ ज़मीन में खेती करने की ज़रूरत होगी। और इनके पास की कुल भूमि तो १५,०७,३०० एकड़ है। वे फावड़ों से तो खेती करेंगे नहीं। उसमें समय बहुत लगेगा—प्रत्येक एकड़ पर ५-५ घंटे के ९६ दिनों के श्रम की आवश्यकता होगी। यह अच्छा होगा कि सदा के लिए एक ही बार भूमि सुधार ली जाय। गीली भूमि पानी निकाल कर सुखा ली जाय, ऊँची नीची भूमि समान कर ली जाय और कंकड़ पत्थर निकाल दिये जाँय। ज़मीन की इस तैयारी के काम में यदि पाँच-पाँच घण्टे के ५० लाख दिन भी लगें तो भी लगा देने चाहिएँ। प्रत्येक एकड़ पर औसत १० श्रम-दिवस का होगा।

स्टीम डीगर मशीन से ज़मीन जोती जायगी, और उसमें प्रत्येक एकड़ पर १$\frac{3}{5}$ दिन लगेगा। फिर दुहरा-हल चलाया जायगा और उसमें प्रति-एकड़ १$\frac{3}{5}$ दिन और लगेगा। अण्ट-सण्ट तरीक़े से बीज न बोकर भाफ से बोया जायगा और इधर-उधर फेंकने के बजाय सीधी क़तारों में डाला जायगा। यदि ठीक हालत में काम किया जाय तो प्रति-एकड़ पाँच-पाँच घण्टे के १० दिन भी न लगेंगे। परन्तु तीन-चार वर्ष अच्छी तरह जुताई के लिए यदि १०० लाख दिन लगा दिये जायँगे, तो नतीजा यह होगा कि आगे इससे आधे समय काम करने से ही प्रति एकड़ १४०८ सेर से लेकर १७६० सेर तक उपज हो जाया करेगी।

इस प्रकार ३६ लाख जनता को भोजन प्राप्त करने के लिए १५० लाख श्रम दिन लगेंगे। और यह काम भी ऐसा होगा कि उसके लिए न तो बहुत भारी महनत करने की ज़रूरत होगी और न इस बात की ज़रूरत होगी कि उन आदमियों ने पहले खेती का काम किया है। जो लोग खेती के जानकार होंगे, वे काम बता देंगे और बाँट देंगे। शहर के रहने

वाले स्त्री और पुरुष तो कुछ घण्टे में ही मशीनें चलाना सीख जायँगे और खेती के काम में भाग लेने लगेंगे।

हम जानते हैं कि पेरिस जैसे शहर में, ऊँचे वर्गों के बेकारों को छोड़ कर, केवल विविध व्यवसायों के श्रमजीवी प्रायः सदा १,००,००० की संख्या में बेकार बैठे रहते हैं। और इतने आदमी, जिनकी शक्ति वर्तमान समाज-संगठन में व्यर्थ नष्ट होती रहती है, बुद्धि-पूर्वक खेती करके दोनों प्रदेशों के ३६ लाख निवासियों के खाने का सारा अन्न उत्पन्न कर सकते हैं।

हम फिर कहते हैं कि यह केवल स्वप्न की बात नहीं है, बल्कि हमने तो अभी वास्तविक घनी खेती का ज़िक्र ही नहीं किया है। मिस्टर हैलेट ने तीन वर्ष प्रयोग करके देखा है कि एक गेहूँ के दाने से ५०००या६००० और कभी-कभी दस हज़ार दाने तक भी पैदा हो जाते हैं। इस हिसाब से पाँच व्यक्तियों के एक परिवार के लिए १२० वर्गगज भूमि में खाने लायक गेहूँ पैदा हो सकता है। परन्तु इस बात को हमने अभी नहीं लिया है। हमने तो केवल वही उदाहरण दिये हैं जो फ्रान्स, इंग्लैंड, वेलिजयम आदि देशों के बहुसंख्यक किसान अभी तक कर चुके हैं। बड़े पैमाने पर जो अभी तक नतीजा हासिल किया जा चुका है, उसीके अनुभव और ज्ञान के द्वारा आगे खेती की जा सकती है।

परन्तु यदि क्रान्ति न होगी तो इस प्रकार की खेती न कल की जा सकती है, न परसों। क्योंकि इसमें भूमि-पतियों और पूँजी-पतियों का स्वार्थ नहीं है। और जिन किसानों का इसमें लाभ है उनके पास न इतना ज्ञान है, न इतना धन है, और न इतना समय ही है कि वे इस ओर प्रयत्न करें।

आज का समाज इस अवस्था तक नहीं पहुँचा है। परन्तु जब पेरिस-वासी अराजक पंचायत की घोषणा कर देंगे तब वे शौक़ीनों के खेल खिलौने बनाते न रहेंगे (ये तो अब वीएना, वारसा और बर्लिन में भी बनने

लगे हैं) और न भूखों मरने की ही अवस्था को बुला लेंगे, पर अपने आप आवश्यकता से प्रेरित होकर इस ढंग से कृषि करने लगेंगे।

इसके अलावा, मशीनरी की सहायता से खेती करने का काम शीघ्र ही सबसे अधिक आकर्षक और सबसे अधिक आनन्द-प्रद धन्धा बन जायगा।

लोग कहेंगे कि "अब ज़ेवरों और गुड़ियों के से रंग बिरंगे कपड़ों की ज़रूरत नहीं है। अब समय आगया है कि श्रमिक लोग अपनी शक्ति कृषि में लगायँ और शहर के कारखानों में जिस उत्साह को, प्रकृति और जीवन के जिस आनन्द को, वे खो चुके हैं उसकी प्राप्ति का पुनः प्रयत्न करें।"

मध्य-काल में स्विट्ज़र लैण्ड-वासियों ने सरदारों और राजाओं की शक्ति को उलट दिया था। पर इसका कारण यह नहीं था कि उनके पास तोपें थीं। बल्कि उनके पास पहाड़ी चरागाहें और भूमियाँ थीं। आधुनिक कृषि की सहायता से कोई भी क्रान्ति करने वाला नगर सारी मध्यमवर्गी शक्तियों से अपनेको स्वतन्त्र कर सकता है।

२

यह तो हम देख चुके हैं कि किस प्रकार पेरिस के आसपास के दोनों प्रदेशों के ३६ लाख निवासी केवल अपनी एक-तिहाई जमीन को जोतकर यथेष्ट अन्न प्राप्त कर सकते हैं। अब यह देखना चाहिए कि पशुओं का भी कोई प्रबन्ध हो सकता है या नहीं।

इंग्लैण्ड वाले मांस अधिक खाते हैं। वहाँ बड़ी उम्र के लोगों का औसत हर साल फी आमदमी २२० पौण्ड से कुछ कम पड़ता है। यदि यह मान लें कि सब लोग बैल का ही मांस खाते हैं तो, इतना मांस एक बैल का एक-तिहाई हिस्सा हुआ। ५ व्यक्तियों के लिए, जिसमें बच्चे भी सम्मिलित हैं, हर साल एक बैल आजकल भी काफी होता है। ३६ लाख निवासियों के लिए लगभग ७ लाख पशु साल भर में लगेंगे।

आज-कल जहाँ चरागाहों की पद्धति है वहाँ ६,६०,००० पशुओं के पेट भरने के लिए कम-से-कम ५० लाख एकड़ ज़मीन चाहिए। इससे प्रत्येक पशु पर ९ एकड का औसत पड़ता है। परन्तु घासवाले मैदानों में, जहाँ फव्वारों से थोड़ा थोड़ा पानी छिड़का जाता है (जैसा कि हाल में ही फ्रान्स के दक्षिण पश्चिम भाग में हज़ारों एकड़ भूमि पर किया गया है) वहाँ १२॥ लाख एकड ज़मीन ही काफ़ी होती है। परन्तु यदि घनी खेती की जाय और पशुओं की चरी के लिए चुकन्दर की जड़ काम में लाई जाय तो उससे भी चौथाई ज़मीन, अर्थात् केवल ३,१०,००० एकड जमीन काफ़ी होगी। फिर भी यदि हम मकई उगायँ और अरब वासियों की तरह उसे ताज़ी दबाकर पशुओं के लिए रख छोड़ें, तो हमें चारे के लिए केवल २,१७,५०० एकड़ ज़मीन ही चाहिए।

मिलन (इटली शहर के आस पास शहर की गन्दी मोरियों का पानी खेतों में दिया जाता है, और वहाँ २२००० एकड़ पर चरी उगाई जाती है। उसमें फ़ी एकड २ या ३ पशुओं के लायक चरी का औसत पड़ता है। कुछ अच्छे अच्छे खेतों में तो औसतन १० एकड़ में १७७ टन× तक सूखा चारा हुआ है, जो ३६ दूध देनेवाली गायों को सालभर के लिए काफ़ी होता है। चरागाहों की पद्धति से एक पशु के लिए लगभग ९ एकड़ ज़मीन चाहिए और नई पद्धति से ९ गाय या बैलों के लिए केवल २½ एकड़ चाहिए! आधुनिक कृषि से जो नतीजे हासिल हुए उनमें इतना अन्तर है।

गर्न्सी प्रदेश में कुल ९,८८४ एकड ज़मीन काम में आती है, जिसमें से आधी (४,६९५ एकड) जमीन में अनाज और शाक पैदा किये जाते हैं। केवल ५,१८९ एकड़ जमीन घीड़ के लिए पड़ी रहती है। इस ५१८९एकड़ ज़मीन पर १,४८० घोड़े,७,२६० मवेशी, ९०० भेड़ें और ४,२०० सुअर

× एक टन बराबर है लगभग २८ मन।

चराये जाते हैं; और भेड़ या सुअर समेत प्रत्येक दो एकड़ पर २ पशुओं से अधिक का औसत पड़ता है। कहना न होगा कि वहाँ समुद्री घास और रासायनिक खाद से ज़मीन को उत्पादक बनाया जाता है।

हम अपने ३६ लाख निवासियों के उदाहरण पर वापस आते हैं। हम जानते हैं कि पशुओं के चराने की भूमि ५० लाख एकड़ से घटकर १,९७,००० एकड़ होगई है। परन्तु हमें इतनी थोड़ी भूमि का आँकड़ा नहीं पकड़ना चाहिए। साधारण घनी खेती में जितनी ज़मीन चाहिए वही आँकड़ा हम लेते हैं। कुछ सींगवाले पशुओं के स्थान पर छोटे मवेशी आ जायँगे और उनके लिए भी ज़मीन की जरूरत होगी। इसलिए पशु-पालन के लिए ज़्यादा से ज़्यादा ३,९५०००एकड़ भूमि माननी चाहिए, अथवा, आप चाहें तो, मनुष्यों के लिए अन्न उत्पत्ति से बची हुई १०,१३,००० एकड़ में से पशुपालन के लिए ४,९४,००० एकड़ भूमि मान सकते है।

हिसाब लगाने में हम उदारता से काम लेते हैं और मान लेते हैं कि इस भूमि को उत्पादक बनाने के लिए ५० लाख श्रम दिवस लगेंगे।

इसलिए सालभर में २ करोड़ दिनों का श्रम लगेगा। इसमें से आधा श्रम तो ज़मीन के स्थायी सुधार में लगेगा। इतने श्रम से हमारे अन्न और मास की व्यवस्था हो जायगी। इसमें वह अतिरिक्त मांस नहीं गिना गया है जो शिकार की चिड़ियों, मुर्गे-मुर्गियों, सुअरों और खरगोशों का प्राप्त हो सकेगा। इसके अलावा जितने मांस का हिसाब हमने लगाया है वह भी अधिक ही लिया है। इंग्लैण्ड के लोगों को तो फल और शाक कम मिलते हैं; इसलिए वे माँस अधिक खाते हैं। परन्तु जिस जनता को बढ़िया फल और शाक मिलेंगे वह मांस कम ही खर्च करेगी। तो ५-५ घण्टे के २ करोड़ श्रम-दिनों में से प्रत्येक निवासी को कितना समय पड़ेगा? वस्तुतः बहुत थोड़ा पड़ेगा। ३१ लाख की जन संख्या में कम-से-कम १२,००,००० बड़ी उम्र के पुरुष और १२,००,००० बड़ी

उम्र की स्त्रियाँ होंगी जो काम कर सकेंगी। तो, सारी जनता को अन्न और मांस प्राप्त करने के लिए फ़ी आदमी १७ अर्ध-दिनों के श्रम की आवश्यकता होगी। दूध की प्राप्ति के लिए ३० लाख, या चाहें तो ६० लाख, श्रम-दिवस और बढ़ा दीजिए। इस प्रकार कुल मिलाकर ५.५ घंटे के २५ श्रम-दिवस हुए। तीन मुख्य-मुख्य वस्तुयें,—रोटी, मांस और दूध—प्राप्त करने के लिए इतना-सा श्रम तो मैदान में व्यायाम करने के समान आनन्द-दायक मालूम होगा। मकान के सवाल के बाद इन्हीं तीन वस्तुओं का सवाल महत्वपूर्ण है, जिसके लिए नब्बे प्रति शत जनता दिन-रात चिन्तित रहती है।

हम फिर दुहराते हैं कि यह बात कोई सुन्दर स्वप्न के समान नहीं है। जो बात बड़े पैमाने पर की जा चुकी है और की जा रही है, उसीको हम कहते हैं। कृषि का इस प्रकार से प्रबन्ध कल ही करके बताया जा सकता है. यदि सम्पत्ति-सम्बन्धी क़ानून और जनता का अज्ञान हमारे मार्ग में बाधक न हो।

जिस दिन पेरिस यह समझ जायगा कि वर्तमान समय की पार्लमेण्ट की सारी बहसों से भोजन का यह सवाल अधिक महत्वपूर्ण है और इसमें अधिक सार्वजनिक हित है, उसी दिन क्रान्ति सफल हो जायगी। पेरिस दोनों प्रदेशों पर कब्जा कर लेगा और उनकी ज़मीनों को जोत डालेगा। इसके बाद जिन श्रम-जीवियों ने अपना एक-तिहाई जीवन बुरी रोटी और अपर्याप्त भोजन के लिए मजदूरी करने में ही बिता दिया है वे स्वयं अपना भोजन उत्पन्न करने लगेंगे। वे अपनी ही सीमा में और अपने ही क़िले की दीवारों के भीतर (यदि क़िले उस समय भी रहे) कुछ घंटे की स्वास्थ्यकर और आकर्षक महनत करके अपने लिए भोजन स्वयं उत्पन्न करने लगेंगे।

अब हम फलों और शाकों का प्रश्न लेते हैं। पेरिस के बाहर, विज्ञान-शालाओं से कुछ ही मील दूर, जिन फल फूलों के बाग़ों को चतुर बाग़-वानों ने लगा रक्खे हैं, उन्हींकी ओर हम जाते हैं।

उदाहरण के लिए एक मोश्ये पोन्स हैं। उन्होंने बाग़बानी पर एक पुस्तक लिखी है। यह सज्जन भूमि से जो-कुछ उत्पन्न करते हैं, उसको छिपा कर नहीं रखते। बराबर सब बातें प्रकाशित करते रहते हैं।

मोश्ये पोन्स, और विशेषत उनके मज़दूर, बड़ी महनत से काम करते हैं। लगभग ३ एकड़ (२$\frac{7}{10}$ एकड़) भूमि के टुकड़े पर खेती करने में ८ आदमी लगते हैं। वे दिन में १२ घंटे और १५ घंटे तक, अर्थात् आवश्यकता से तिगुने समय तक, काम करते हैं। २४ आदमी उनके लिए अधिक न होंगे। इसका कारण मो० पोन्स शायद यह बतायँगे कि उन्हें अपने २$\frac{7}{10}$ एकड़ ज़मीन का लगान १०० पौण्ड देना पड़ता है। खाद ख़रीदने में उन्हें १०० पौण्ड और लग जाते हैं। इसलिए वह भी मजदूरों का पूरा उपयोग लेते हैं। नि:सन्देह वह यह कहेंगे, "जब मुझे दूसरे लूटते हैं, तो मैं भी दूसरों को लूटता हूँ।" उनके उस कारोबार में भी १२०० पौण्ड का ख़र्चा हुआ है जिसमें से आधा तो मशीनों पर लग गया और उद्योग पतियों के घर में गया। वस्तुतः यह २$\frac{7}{10}$ एकड़ भूमि का कारोबार अधिक-से-अधिक ३,००० श्रम-दिवसों की महनत का फल कहा जा सकता है।

अब यह देखना चाहिए कि वह क्या क्या पैदा करते हैं। उस ज़मीन में वह लगभग १० टन गाजरें, लगभग १० टन प्याज, मूली और छोटी शाक, ५,००० दर्जन अच्छे फल, १,५४,००० सलाहत(Salads विलायती पालक) पैदा करते हैं। संक्षेप में, २$\frac{7}{10}$ एकड़ या १२० X १०९ गज़ भूमि में वह १२३ टन शाक और फल उत्पन्न करते हैं। एक एकड़ का औसत ४४ टन से अधिक का होता है।

परन्तु साल भर में एक आदमी शाक और फल ६६० पौण्ड से अधिक नहीं खाता। २$\frac{1}{3}$ एकड़ का एक बाग़ ३५० बड़ी उम्र के आदमियों को फल और शाक अच्छी तरह दे सकेगा। अतः २४ आदमी २$\frac{7}{10}$ एकड़ भूमि पर ५ घंटे रोज़ काम करके साल भर में इतना शाक और फल

उत्पन्न कर देंगे कि वह ३५० बड़ी उम्र के आदमियों को, अर्थात् कम-से-कम ५०० व्यक्तियों के लिए, काफ़ी होगा।

हम इसको दूसरी तरह समझाते हैं। हालाकि मो० पोन्स से भी अधिक उत्पत्ति दूसरे लोग अब करके दिखला चुके हैं, पर उनकी पद्धति से ही खेती करने पर यह परिणाम निकलता है कि यदि ३५० बड़ी उम्र के स्त्री-पुरुष प्रत्येक १०० घंटे से कुछ अधिक (१०३ घंटे) समय हर साल दे दिया करें तो ५०० आदमियों के लिए यथेष्ट फल और शाक उत्पन्न हो सकता है।

ऐसी उत्पत्ति बहुत असाधारण नहीं है। ऐसी उत्पत्ति तो पेरिस में ही २,२२० एकड़ भूमि पर ५,००० बाग़वानों द्वारा की जाती है। सिर्फ़ इसका नतीजा यह है कि इन बाग़वानों को ३२ पौण्ड फी एकड़ का लगान चुकाने के लिए अत्यन्त कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

परन्तु ये बातें सत्य हैं। और जो कोई चाहे वह परीक्षण करके भी उन्हें देख सकता है। इसलिए पेरिस के दोनों प्रदेशों की जो ५,१९,००० एकड़ भूमि बची थी, उसमें से १७,३०० एकड़ भूमि ही ३६ लाख जनता के लिए भरपूर शाक और फल दे सकती है।

अब देखना है कि शाक और फलों की इस उत्पत्ति में कितना श्रम लगेगा। यदि हम बाग़वानों के श्रम के परिमाण से हिसाब लगायें, तब तो इस काम में ५५ घंटे के ५करोड़ श्रम दिवस लगेंगे जो बड़ी उम्र के पुरुषों पर औसतन ५० दिन हुआ। परन्तु जिस पद्धति से जर्सी और गन्सीं में कृषि होती है उससे तो श्रम और भी कम लगेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि पेरिस के बाग़वाले ऋतु से कुछ पहले फल उत्पन्न करते हैं और इस कारण उन्हें श्रम अधिक करना पड़ता है। उन्हें भूमि का लगान अधिक देना पड़ता है इस कारण उनकी क़ीमतें भी तेज़ होती हैं। यदि फल और शाक अपने-अपने साधारण मौसम पर ही पैदा किये जायँ और जल्दी पैदा न किये जायँ, तो श्रम कम लगेगा। इसके अतिरिक्त

पेरिस के बाग़वालों के पास अपने बागों की उन्नति पर ख़र्चा करने के साधन भी नहीं हैं और उन्हे काच, लकड़ी, लोहे और कोयले के दाम भी बढ़े-चढ़े देने पड़ते हैं। वे खादों से नक़ली गरमी पहुँचाते हैं, हालांकि गरम-घरों (Hot-bouses) द्वारा बहुत कम ख़र्च से यह गर्मी पहुँचाई जा सकती है।

४

इतनी आश्चर्यजनक फ़सलें प्राप्त करने के लिए बाग़वालो को मशीन बन जाना पड़ता है और अपने जीवन के आनन्दों को त्यागना पड़ता है। परन्तु इन परिश्रमी लोगों ने मनुष्य-जाति की बड़ी सेवा की है। इन्होंने यह बता दिया है कि मिट्टी बनाई जा सकती है। वे खाद की पुरानी उष्ण-भमियों (Hot beds) से मिट्टी को बनाते है। छोटे-छोटे पौधों और मौसम से पहले पैदा किये जानेवाले फलों को गरमी पहुँचाने में जो उष्ण-भूमियाँ काम में आचुकती हैं, उन्हींसे यह मिट्टी बनाई जाती है। यह बनावटी मिट्टी वे इतनी अधिक बनाते हैं कि उसमेंसे कुछ हिस्सा उन्हे हर साल बेचना भी पड़ता है, अन्यथा उनके बाग़ की सतह हर साल एक इंच ऊँची उठ जाय। बाग़वानों के विषय में अपने 'कृषि-कोष' में एक लेख लिखते हुए बारल महाशय ने इसकी उपयोगिता बताई है। वे बाग़वान इतनी अच्छी तरह से यह मिट्टी बनाते हैं कि आजकल इक़रारनामों में वे यह शर्त रखते है कि जब अपनी ज़मीन छोड़ेंगे तब अपनी मिट्टी उठाकर लेजायँगे। रिकार्डो ने अपने विद्वात्तापूर्ण ग्रन्थों में लिखा है कि भूमि कर या लगान एक ऐसा साधन है जिससे भूमि के प्राकृतिक लाभ सर्वत्र समान कर दिये जाते हैं; परन्तु बाग़ के फ़रनीचर तथा काच के फ्रेमों के साथ-साथ जब मिट्टी भी गाड़ियों में लाद कर ले जाई जाती है—तो उसकी बात ग़लत सिद्ध हो जाती है। व्यावहारिक बाग़वान का आदर्श वाक्य है—"जैसा किसान, वैसी ज़मीन।"

परन्तु पेरिस और रूस के बाग़वानों की अपेक्षा गर्न्सी या इंग्लेण्ड

के बाग़वान एक तिहाई श्रम करके ही उतनी उपज कर लेते हैं । गर्न्सी और इंग्लैण्ड के बाग़वान कृषि में उद्योग धन्धों की सहायता लिया करते हैं । वे बनावटी मिट्टी तो बनाते ही हैं, पर हरे घर (Green-houses) की सहायता से कृत्रिम ऋतुयें भी बना लेते हैं ।

पचास वर्ष पहले तो केवल धनाढ्य लोगों के यहाँ हरा घर होता था । वे अपने आनन्द के लिए विदेशों से और भिन्न-भिन्न जल-वायुओं के प्रदेशों से पौधे लाकर उसमें लगाते थे । उन पौधों के वास्ते हरा घर काम में लाया जाता था । परन्तु आजकल तो हरे घरों का उपयोग सभी करने लगे हैं । गर्न्सी और जर्सी में तो बड़ा भारी उद्योग ही खड़ा होगया है । वहाँ सैकड़ों एकड़ भूमि पर काच की छत बना दी गई है । और हरे घरों की तो गिनती ही नहीं हो सकती । प्रायः प्रत्येक फ़ार्म के बाग़में छोटे-छोटे हरे घर हैं । लन्दन के समीप वर्थिंग में भी कई एकड़ जमीन पर हरे घर बन गये हैं (सन् १९१२ में १०३ एकड़ हरे घर थे) । इंग्लैण्ड और स्काट-लैण्ड के दूसरे स्थानों में भी बहुत से हैं ।

हरे घर सब प्रकार के बनते हैं । कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दीवारें सफ़ेद ग्रेनाइट पत्थर की हैं । परन्तु कुछ तो केवल छप्पर की तरह से तख्तों और काच के फ्रेमों के ही खड़े किये गये हैं । पूँजीपति और बीचवालों का मुनाफ़ा अदा करके भी आजकल एक वर्ग-गज़ काच की छत का ख़र्चा ३॥ शिलिंग से कम ही बैठता है । अधिकांश हरे घरों में वर्ष में तीन या चार मास गर्मी पहुँचाई जाती है । परन्तु जिन हरे घरों में गर्मी नहीं पहुँचाई जाती उनमें भी अच्छी उत्पत्ति होती है । हाँ, अंगूर और गरम देशों की चीजें तो पैदा नहीं हो सकतीं, परन्तु आलू, गाजर, मटर, टमाटर आदि खूब होते हैं ।

इस पद्धति से मनुष्य ऋतुओं की बाधा से मुक्त हो जाता है और उष्णभूमि बनाने के भारी काम से भी बच जाता है । उसको खाद भी बहुत कम खरीदना पड़ती है और श्रम भी कम लगता है, जिससे काफ़ी

बचत हो जाती है। जितनी चीज़ पहले एकड़ों भूमि पर पैदा हुआ करती थी वह अब थोड़ी सी जगह में ही हो जाती है; और फ़ी एकड़ केवल तीन आदमी काम करते हैं, जिनको हफ्ते में ६० घण्टे से कम ही काम करना पड़ता है।

कृषि विज्ञान की इन आधुनिक सफलताओं का परिणाम यह है कि यदि प्रत्येक नगर के बड़ी उम्र के आधे भी स्त्री-पुरुष, बे-मौसम, फल और शाक की प्राप्ति के लिए प्रत्येक ५० अर्ध-दिन भी दे दिया करें तो शहर के सब लोगों को हर मौसम में सब प्रकार के फल और शाक प्रचुर परिमाण में मिल सकते हैं।

परन्तु एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। आजकल के हरे घर काच की छत लगे हुए शाक-पात के बाग ही बनते जारहे हैं। इस काम के लिए केवल तख्तों और काचों की बनी हुई छतें ही काफ़ी होती हैं। उनमें गरमी देने की ज़रूरत नहीं है। आजकल ऐसी छतों से ही अकथनीय उत्पत्ति हो रही है। उदाहरणार्थ, पहली फ़सल में, जो अप्रेल के अन्त तक तैयार हो जाती है, एक एकड़ में ५०० बुशल (४०० मन) आलू हो जाते हैं। इसके बाद गरमी की ऋतु में काच की छत से बहुत गरमी पहुँचती हैं, और दूसरी और तीसरी फसल भी की जाती है।

मैंने अपनी पुस्तक "Fields, Factories and workshops" में इस विषय की बहुत बातें दी हैं। यहाँ इतना ही कहना काफ़ी है कि जर्सी में एक शिक्षित बाग़बान और ३४ आदमी १३ एकड़ ज़मीन पर खेती करते हैं, और वह ज़मीन काच की छत से ढकी हुई है। उस ज़मीन से वे १४३ टन फल और बे-मौसम शाक पैदा करते है और इस असाधारण कृषि में उनका १,००० टन से भी कम कोयला खर्च होता है।

गर्न्सी में तो यह खेती आजकल बहुत बड़े पैमाने पर की जाती है। बहुत से जहाज़ तो गर्न्सी और लन्दन के बीच हरे घरों की पैदावार को बाहर लेजाने के लिए ही चलते रहते हैं।

साधारण खेती में आजकल ५०० बुशल (४०० मन) आलू पैदा करने के लिए हमें ४ एकड़ जमीन जोतनी पड़ती है । ४ एकड़ ज़मीन को जोतने, आलू बोने—नींदने आदि में कितना श्रम पड़ता है ? परन्तु काच की छत बनाने में यद्यपि पहले पहल प्रति वर्गगज़ आधे दिन का श्रम लगाना पड़ेगा, पर बाद में मामूली वार्षिक श्रम का आधा, या शायद चौथाई, श्रम लगा कर ही हम उतनी उत्पत्ति कर सकते हैं ।

ये सत्य बातें हैं, और इन परिणामों की जाँच हरएक कर सकता है । परन्तु इन बातों से एक शिक्षा यह भी मिलती है कि यदि मनुष्य बुद्धिपूर्वक भूमि का उपयोग करे, तो भविष्य में और भी अधिक उत्पत्ति कर सकता है ।

५

ऊपर तो हमने केवल उन बातों का उल्लेख किया है जो अनुभव से सिद्ध की जा चुकी हैं । खेतों पर घनी कृषि होना, घास की बीड़ों में पानी दिया जाना, गरम घर और काच की छतोंयुक्त शाक तथा फलों के बाग़— ये तो ऐसी बातें हैं जो आजकल हो रही हैं । इसके अतिरिक्त, लोगों की प्रवृत्ति खेती के इन तरीकों को सर्व साधारण में फैला देने की ओर है; क्योंकि इनके द्वारा, कम श्रम में और अधिक निश्चितता के साथ, पैदावार बहुत ज़्यादा बढ़ जाती है ।

गर्न्सी के काच के छप्परों का अध्ययन करने के बाद तो हम कह सकते हैं कि खुले मैदान में चौगुनी ज़मीन जोतने, बोने और नींदने की अपेक्षा अप्रेल में काच के छप्पर के नीचे आलू उत्पन्न करना कहीं अधिक सुविधाजनक है । उसमें कुल मिलाकर बहुत कम श्रम करना पड़ता है । किसी उन्नत औज़ार या मशीन को लेने में यद्यपि प्रारम्भिक व्यय तो होता है, परन्तु काम में बड़ी बचत हो जाती है ।

काच की छत के द्वारा साधारण शाक कितने उत्पन्न होते हैं, इसके पूरे अंक प्राप्त नहीं हुए हैं । यह खेती हाल में ही की जाने लगी है और

थोड़े-थोड़े क्षेत्रों पर ही की गई है। परन्तु पचास वर्ष से मौसम से पहले अंगूर पैदा करने के जो प्रयोग हुए हैं, उनके अङ्क हमें प्राप्त हैं। वे बड़े निर्णयात्मक हैं।

इंग्लैण्ड के उत्तर प्रदेश में, स्काटलैण्ड की सीमा पर कोयले की क़ीमत प्रति टन केवल ३ शिलिंग होती है। वहाँ बहुत पहले ही लोग गरम घरों के द्वारा अंगूर उगाने लग गये थे। ये अंगूर जनवरी में पक जाते थे और बाग़वाला इनको २० शिलिंग फ़ी पाउण्ड बेचता था, और फ्रान्स के सम्राट् नेपोलियन तृतीय के खाने के लिए पुनः बिककर ४० शिलिंग फी पाउन्ड की दर से आते थे। आज वही बाग़वाला उन अंगूरों को २॥ शिलिंग फी पाउण्ड के भाव से बेचता है। कृषि विषयक एक सामायिक पत्र में उस बाग़वाले ने यह बात स्वयं लिखी है। अंगूरों का भाव इसलिए गिर गया है कि अब तो लन्दन और पेरिस में, जनवरी के महीने में ही, अनेकों टन अंगूर आ जाते हैं।

साधारणतः फल तो दक्षिण से उत्तर को भेजे जाते हैं, परन्तु कोयले की सस्ताई और कृषि की कुशलता के कारण अब तो अंगूर उत्तर से दक्षिण को भेजे जाने लगे हैं। वे इतने सस्ते पड़ते हैं कि मई में इंग्लैण्ड और जर्सी के अंगूरों को बाग़वाले १¾ शिलिंग फ़ी पाउण्ड की दर से बेचते हैं। फिर भी जिस तरह तीस वर्ष पहले ४० शिलिंग का भाव कम उत्पत्ति के कारण रहता था, उसी प्रकार आजकल भी १¾ शिलिंग का भाव कम उत्पत्ति के कारण ही रक्खा जाता है।

मार्च में बेल्जियम के अंगूरों का भाव ६ पेंस से लेकर ८ पेंस तक का रहता है और अक्तूबर में लन्दन के अंगूर, जो कि काच के नीचे कुछ गरमी देकर उत्पन्न किये जाते हैं, इससे भी बहुत सस्ते बिकते हैं। फिर भी वास्तव में यह मूल्य दो तिहाई अधिक होता है, क्योंकि भूमि के भारी लगान के रूप में और यन्त्रों को लगाने और गर्मी पहुँचाने के खर्चे के रूप में कारखानेदार और बीचवाले लोग बाग़वाले को खूब लूटते हैं। इस प्रकार

हम कह सकते हैं कि लन्दन जैसे ठण्डे प्रदेश में भी, जहाँ कोहरा पड़ता रहता है, सितम्बर-अक्तूबर में स्वादिष्ट अंगूरों पर लागत व्यय 'प्रायः कुछ भी नहीं' पड़ता। शहर के बाहर हम एक बंगले में रहते थे। वहाँ हमने एक टूटा-फूटा-सा काच का छप्पर ९ फीट १० इञ्च × ६ फीट ६ इञ्च लगा लिया था। नौ वर्ष तक उसमें, हर अक्तूबर महीने में, लगभग ५० पाउण्ड बढ़िया अंगूर आते रहे। अंगूर की लता हेम्बर्ग के क़िस्म की थी और वह भी छः साल की पुरानी थी। वह छप्पर भी इतना ख़राब था कि उसमें से बरसात का पानी टपकता था। रात में उसके अन्दर उतनी ही ठण्डक हो जाती थी। जितनी बाहर खुली हवा में। उसमें नक़ली गरमी नहीं पहुँचाई जाती थी उसमें नक़ली गरमी पहुँचाना उतना ही असंभव था जितना खुली सड़क में गरमी पहुँचाना। साल में एक बार उस अंगूर की लता को छाँट दिया जाता था, जिसमें आधा घंटा समय लगता था, और छप्पर से बाहर लाल मिट्टी में, जहाँ उसका धड़ उगा हुआ था, उसपर थोड़ी खाद डाल दी जाती थी। बस इतनी ही महनत उस अंगूर-लता पर की जाती थी।

परन्तु राइन नदी या लेमन झील के क़िनारे अंगूरों की उत्पत्ति में बहुत महनत की जाती है। पहाड़ी के ढाल पर पत्थर-पर-पत्थर जमाकर चबूतरे बनाये जाते हैं और दो दो सौ तीन-तीन सौ फीट की ऊँचाई पर खाद और मिट्टी लेजाई जाती है। इसको देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्विट्ज़रलैंड में या राइन के क़िनारे अंगूर पैदा करने में बहुत अधिक श्रम होता है और लन्दन के समीप काच के छप्परों के नीचे अंगूर पैदा करने में बहुत कम श्रम पड़ता है।

लोगों को यह बात उलटी-सी मालूम पड़ेगी। साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि दक्षिण-यूरोप के गरम प्रदेश में तो अंगूर अपने-आप पैदा हो जाते हैं और बाग़वालों को कुछ भी खर्चा नहीं लगता। परन्तु बाग़वाले और बाग़वानी-कला के विशेषज्ञ हमारा खंडन नहीं करते, वे

हमारी राय का समर्थन ही करते हैं। एक सज्जन ने, जो व्यावहारिक बाग़वान थे और बाग़वानी-कला के एक पत्र के सम्पादक भी थे, 'नाइन्टीन्थ सेन्चुअरी' नामक पत्रिका में लिखा था कि "इंग्लैण्ड की सबसे अधिक लाभदायक कृषि अंगूरों की है।" अंगूरों के भाव से ही यह बात स्वतः प्रकट हो जाती है।

साम्यवादी भाषा में इन सत्य बातों को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि कोई स्त्री या पुरुष अपने आराम के वक्त में से हर साल २० घण्टे भी काच के छप्पर से ढके हुए दो या तीन अंगूर के पेड़ों पर खर्च करदे, तो यूरोप की हर प्रकार की आब-हवा में इतने अंगूर हो सकते हैं कि उनके परिवार और मित्रों के खूब खाने लायक हो जायं। न केवल अंगूर, किन्तु सब प्रकार के फल इसी प्रकार थोड़े श्रम से पैदा किये जा सकते हैं। और यह श्रम भी बड़ा आनन्ददायक होगा।

यदि साम्यवादी ग्राम-पंचायत बड़े पैमाने पर घनी खेती के तरीक़ों को काम में लायगी, तो देशी और विदेशी सब प्रकार के शाक और सब प्रकार के फल, वर्ष में प्रति निवासी केवल १० घंटे श्रम करके ही प्राप्त हो सकेंगे।

हमारी ऊपर कही हुई बातों की जाँच करना भी बहुत सरल है। कल्पना कीजिए कि १०० एकड़ वर्थिंग की जैसी ज़मीन पर कुछ बाग़ बनाये गए और प्रत्येक बाग़ में छोटे छोटे अंकुरों और पौधों की रक्षा के लिए काच घर भी बने। इसके अतिरिक्त, और भी ५० एकड़ भूमि पर काच घर बने। इस १५० एकड़ भूमि का सारा प्रबन्ध व्यावहारिक अनुभव रखने वाले फ्रांस के बाग़वालों, और गर्न्सी और वर्थिंग के हरे घरों को बाग़वानों के हाथ में दिया गया।

जर्सी की औसत से, जहाँ कि काचदार १ एकड़ ज़मीन पर ३ आदमी लगते हैं और सालभर में ८,६०० घंटों का श्रम लगता है, इस १५० एकड़ ज़मीन के लिए लगभग १३,००,००० घंटों के श्रम की आवश्यकता

होगी । इस काम पर पचास कुशल बाग़बान रोज़ पाँच घंटे काम करते रहें । शेष साधारण आदमी ही काम कर सकते हैं, वे शीघ्र ही फावड़ा चलाना और पौधों की सम्हाल करना सीख जायँगे । इतने श्रम से ही ४०,००० या ५०,००० व्यक्तियों की आवश्यकता के और शौक़ के, सब तरह के, फल और शाक उत्पन्न हो जायँगे । मान लीजिए कि इस जनसंख्या में १२,५०० बड़ी उम्र के स्त्री-पुरुष शाक के बागों में काम करने को तैयार हैं । तो प्रत्येक को साल भर में समय-समय पर कुल मिलाकर १०० घण्टे देने पड़ेंगे । इस प्रकार जो समय अपने मित्रों और बालकों के साथ सुन्दर सुन्दर बागों में व्यतीत होगा, वह तो मनोरंजन का ही समय होगा । आजकल तो जब गृहिणी को पूँजीपतियों और भूमिपतियों की जेबों में जानेवाले एक एक पैसे का ख़याल रखना पड़ता है, तो कुटुम्ब के खाने के लिए फल मिल ही नहीं पाते और शाक भी कंजूसी से खर्च किया जाता है । परन्तु हमारी बताई हुई पद्धति से सबको भरपेट फल मिल सकते हैं और शाक का भी बाहुल्य हो सकता है । उसके लिए कितना श्रम करना पड़ेगा, यह सब हिसाब ऊपर दिया ही गया है ।

कमी केवल इतनी है कि अभी मनुष्य जाति को अपने सामर्थ्य का ज्ञान नहीं है और न उसमें उसको कार्यान्वित करने की संकल्प-शक्ति ही है ।

साहस की कमी से ही अभी तक की सारी क्रान्तियाँ भग्न हुई हैं; और इसी बात के ज्ञान की ही अभी कमी है ।

६

जिनके आँखें हैं वे देख सकते है कि साम्यवादी क्रान्ति के लिए दिन-प्रति दिन नये नये क्षेत्र खुलते जा रहे है ।

जब कभी हम क्रान्ति का नाम लेते हैं, श्रमजीवी के चहरे पर दुःख की एक छाया आ जाती है; क्योंकि उसके बच्चे भूखों मर रहे हैं और

इसलिए वह यह पूछता कि "रोटी का क्या होगा ? हरएक को भरपेट रोटी मिल सकेगी या नहीं ? जिस प्रकार १७९३ में, फ्रान्स में, श्रमजीवियों को किसानों ने भूखों मार दिया था, यदि उसी प्रकार अब भी किसान लोग प्रगति विरोधियों के चंगुल में फँसकर हमको भखों मारेंगे, तो हम क्या करेंगे ?"

श्रमजीवियों को किसान कितना ही धोखा दें, पर बड़े शहरों के रहने-वाले तो गाँवों के किसानों की सहायता बिना भी काम चला सकते हैं।

तब फिर जो लाखों श्रमजीवी आज दम घोंटनेवाले कारखानों में काम कर रहे हैं वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर किस काम में लगेंगे ? क्या क्रान्ति के बाद भी वे कारखानों में ही बन्द रहेंगे ? जब अनाज समाप्त होने लगेगा, घी-दूध दुष्प्राप्य हो जायगा, और शाक का अभाव प्रतीत होने लगेगा, क्या तब भी वे निर्यात के लिए खेल-खिलौनों की सामग्री ही बनाते रहेंगे ?

नहीं ! हर्गिज़ नहीं !! वे शहर से निकल कर खेतों में पहुँच जायँगे ! दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्ति भी मशीन से काम ले सकेगा। मशीनों की सहायता से वे कृषि में भी उसी प्रकार क्रान्ति कर डालेंगे जिस प्रकार प्रच-लित संस्थाओं और विचारों में करेंगे।

उस समय सैकड़ों एकड़ भूमि पर काच के छप्पर लग जायँगे और बड़ी ही कोमलता से स्त्रियाँ और पुरुष छोटे छोटे पौधो का लालन-पालन करेंगे। इसके अतिरिक्त, सैकड़ों एकड़ ज़मीन वाष्प-यन्त्रों से जोती जायगी और खाद द्वारा सुधारी जायगी। चट्टानों को तोड़कर और पीसकर नक़ली मिट्टी बनाई जायगी और खेतों की सम्पन्नता में वृद्धि की जायगी। कृषि का श्रम करनेवाले लोग प्रसन्न अवस्था में होंगे। उस समय वे बारह मासी किसान न होंगे, परन्तु सालभर में से थोड़ा ही समय कृषि के लिए दिया करेंगे। खेती के काम और प्रयोगों में वही लोग पथ प्रदर्शन करेंगे जो कृषि के जानकार होंगे। परन्तु चिर-सुषुप्ति से जागे हुए लोगों में

जो महान् और व्यावहारिक उत्साह होगा और उनके हृदयों में सबके कल्याण की जो भावना होगी, वही विशेष रूप से उनका पथ-प्रदर्शन करेगी।

उस समय दो-तीन मास में ही, ऋतु से पहले, फ़सल पैदा हो जायगी। लोगों की सब से बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति उसके द्वारा हो जायगी और लोगों के भोजन का प्रबन्ध हो जायगा। शताब्दियों तक आशा लगाये रहने के बाद, आखिरकार, लोग अपनी भूख तृप्त कर सकेंगे और भरपेट खायँगे।

जनता की बुद्धि ही क्रान्ति करती और अपनी आवश्यकता को समझती है। वही खेती की नई-नई पद्धतियों के प्रयोग करेगी। उन पद्धतियों का सूक्ष्मरूप हम आजकल भी देखते हैं और काम में लाये जाने से वे सबमें फैल जायँगी। आजकल प्रकाश की ताक़त से याकुटस्क के सर्द प्रदेश में भी ४५ दिन में जौ पक जाता है। पर क्रान्तियुग में तो प्रकाश की शक्ति के और भी प्रयोग होंगे। पौधों को जल्दी-जल्दी बढ़ाने में केन्द्रित की हुई रोशनी या नक़ली रोशनी से गरमी की बराबरी का काम लिया जायगा। कोई आविष्कार कर भविष्य में ऐसी मशीन का आविष्कार कर देगा जिससे सूर्य की किरणों को हम चाहे जिधर फेर सकें और उनसे काम ले सकें। तब तो कोयले की गरमी की भी आवश्यकता न रहेगी। पौधों को खूराक पहुँचाने के लिए तथा मिट्टी के तत्त्वों को अलग अलग करने और परस्पर मिलाने के लिए, जमीन में जिन अत्यल्प जीवाणुओं (Micio-organisms) की आवश्यकता हुआ करती है, उनको पानी के साथ ज़मीन में पहुँचाने का एक नया विचार हाल में ही पैदा हुआ है। उस समय इसके भी प्रयोग होंगे।

भविष्य में नये-नये प्रयोग तो बहुत किये जायँगे, परन्तु अभी हम कल्पना की सीमा में प्रवेश नहीं करते। जो सत्य बातें वास्तव में अनुभव के द्वारा सिद्ध हो गई हैं, उन्हींपर हम ठहर जाते हैं। जो खेती के तरीक़े

आजकल काम में आरहे हैं और बड़े पैमाने पर किये जाते है, और जो उद्योग-धन्धों से भी संघर्ष करने में विजयी सिद्ध हुए हैं, उनके द्वारा ही हम रुचि अनुकूल श्रम करते हुए अपने सारे आराम और शौक़ पूरे कर सकते हैं। विज्ञान के नये नये अन्वेषणों से जिन नवीन तरीकों का कुछ सूक्ष्म-दर्शन हुआ है, उनकी व्यावहारिकता को भविष्यकाल सिद्ध कर देगा। हमारा काम तो केवल उस रास्ते को खोल देना है जो मनुष्य की आवश्यकताओं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के उपायों का अध्ययन करता है।

क्रान्ति में जिस बात की न्यूनता संभवतः रह सकती है, वह है उस क्रान्ति के चलानेवालों में साहस की कमी।

जवानी की उम्र में ही हमारे विचार सकुचित हो जाते हैं और प्रौढ़ अवस्था में पिछले विचारों और तरीकों की गुलामी दिमाग़ों में भर जाती है इस कारण हमारे अन्दर विचार करने का साहस नहीं होता। जब कोई नया विचार हमारे सामने आता है, तो हम उसपर अपनी सम्मति देने का साहस नहीं कर पाते। जिन सौ वर्ष की पुरानी किताबों पर धूल चढ़ी हुई है, उन्हींको हम बार बार उठाते हैं और यह ढूंढते हैं कि पुराने विद्वानों का इस विषय में क्या मत था।

क्रान्ति में यदि विचार-साहस और कार्य शक्ति की कमी न होगी, तो भोजन की भी कमी नहीं पड़ सकती।

फ्रान्स की क्रान्ति के महान् दिनों में से सबसे सुन्दर और सबसे भव्य दिन वही था, जिस दिन पेरिस में आये हुए सारे फ्रान्स के प्रतिनिधि केम्प डि मार्स की भूमि पर फावड़ा लेकर काम करने लगे थे, और अपने फ़िडरेशन सगठन के प्रीतिभोज के लिए उसे तैयार करने लगे थे।

उस दिन फ्रान्स में एकता थी, उसमें नया उत्साह था; और वे समझते थे कि भविष्य में मिलकर ज़मीन पर काम करेंगे।

और, आगे भी, मिलकर ज़मीन पर काम करने से ही स्वतन्त्रता पाने-

वाले समाज अपनी एकता कायम कर सकेंगे और भेदभाव फैलानेवाले घृणा और अत्याचार को मिटा देंगे।

एकता की भावना ही एक ऐसी महान् शक्ति है जो मनुष्य की कार्य-शक्ति और उत्पादक-शक्तियों को सौगुना बढ़ा देती हैं। आगे इस एकता का अनुभव करने से ही मनुष्य पूरी शक्ति से अपनी भावी सफलता के लिए प्रयाण करेगा।

उस समय अज्ञात खरीददारों के लिए उत्पत्ति बन्द हो जायगी और समाज अपनी ही आवश्यकताओं और रुचियों की पूर्ति का ध्यान रक्खेगा। उस समय प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने और सुख से रहने की व्यवस्था अच्छी तरह हो जायगी। उस समय मनुष्य-मात्र को वह नैतिक संतोष प्राप्त होगा जो स्वतन्त्रतापूर्वक पसन्द किये हुए और स्वतन्त्रता-पूर्वक किये गये काम से मिला करता है, और वह आनन्द प्राप्त होगा जो दूसरों के जीवन को हानि न पहुँचाते हुए अपना जीवन व्यतीत करने में हुआ करता है।

उस समय, एकता के अनुभव से, लोगों में नया साहस जागृत होगा, ज्ञान और कला की सृष्टि के उच्च आनन्दों की प्राप्ति के लिए सब मिलकर आगे बढ़ेंगे।

जिस समाज में ऐसा साहस होगा वह न भीतरी मत भेदों से डरेगा, न बाहरी शत्रुओं से।

भूतकाल की कृत्रिम एकताओं के मुकाबले में इस समाज में एक नया ही प्रेम होगा। हरएक व्यक्ति नया विचार और नया कार्य करेगा। हरएक व्यक्ति में वह साहस होगा जो जनता की प्रतिभा के जागृत होने से ही उत्पन्न हुआ करता है।

ऐसी अदम्य शक्ति के सामने "षड्यन्त्रकारी बादशाहों" की शक्ति क्षीण हो जायगी। उन्हें उस साहस के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ेगा।

उन्हें तो त्वरित-गति से भविष्य की ओर अग्रसर होनेवाले मानव-समाज के उस रथ में जुत जाना पड़ेगा, जिसका कि साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा निर्माण होगा।

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के

प्रकाशन